लेखक

गुलाबराय एम० ए०

सोल एजेण्ट

आत्माराम एण्ड सन्स

साहित्यिक पुस्तकों के विक्रेता

काश्मीरी गेट—दिल्ली ।

प्रकाशक

प्रतिभा प्रकाशन,

२०६, हैदरकुली, दिल्ली

द्वितीय बार : १६५०

मूल्य ४।।।)

मुद्रक

हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस

क्वीन्स रोड, दिल्ली

निवेदन

निज कवित्त किहि लाग न नीका।
सरस होउ अथवा अति फीका।

अपनी साठवीं वर्ष-गाँठ के अवसर पर अपने प्रिय पाठकों के समक्ष 'काव्य के रूप' नाम से 'सिद्धान्त और अध्ययन' के द्वितीय भाग को एक 'अमूल्य' नहीं वरन् समूल्य भेंट के रूप में उपस्थित करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है, स्यात उतनी ही जितनी कि एक दुस्साहसी मनुष्य को अपने साहस के विषय की अनायास पूर्ति में हो सकती है। अपनी 'अल्पविषया मतिः' और उससे अधिक स्वल्पतर एवं सीमित ज्ञान के और अध्ययन के उडुग के (घड़े और बाँसों के पोत सहारे आलोचना-महासागर के पार जाने की इच्छा करना दुस्साहस नहीं तो क्या? 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' की उक्ति को मैं कवि-कुल-गुरु कालिदास की अपेक्षा कुछ अधिक सत्य और सार्थकता के साथ कह सकता हूं।

हिन्दी में आलोचना-शास्त्र के भगीरथ होने का श्रेय डाक्टर श्यामसुन्दर दास जी को है। उनके ही बनाये हुए वग्द्वार से मैंने भी इस शास्त्र में प्रवेश किया है किन्तु उनके साहित्यालोचन के बाद साहित्य-गंगा में बहुत जल प्रवाहित हो चुका है। मैंने हिन्दी-साहित्य के विभिन्न विस्तारोन्मुख अङ्गों की रूप-रेखा और शिल्प-विधान के साथ हिन्दी तथा अँग्रेजी साहित्य में विकास-क्रम के दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। अब तो काव्य की प्राचीन परि-भाषाओं में भी हेर-फेर करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। नाटकों को नई रूपरेखा मिली है। आजकल के महाकाव्यों में घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा विचारों और भावों का अधिक विस्तार रहता है। प्रबन्ध काव्यों में भी गीत-लहरी प्रवाहित होती दिखाई देती है। काव्य-शास्त्र को भी साहित्य की गति के साथ आगे बढ़ना होगा। विद्वान् लोगों के सहयोग से यह कार्य सम्भव हो सकता है।

गोमती निवास
दिल्ली दरवाजा आगरा,
माघ शुक्ला ४ संवत् २००४।

—विनीत
गुलाबराय

विषयानुक्रम

साहित्य का स्वरूप (१—२४)

दृश्य काव्य विवेचन (२५--८६)

श्रव्य काव्य (६०—१६०)

पद्य

श्रव्य काव्य—(१६१-२३२)

गद्य

श्रव्य काव्य (अन्य) विधाएं (२३३—२७५)

काव्य के रूप

साहित्य का स्वरूप

साहित्य का उदय

इस संसार में जन्म लेते ही शिशु रोने लगता है। यह उसकी संसार के प्रति पहली प्रतिक्रिया है। वह स्तन्यपान करता है और धीरे-धीरे अपनी माता को पहचानने लगता है। उसकी गोद में उसे सुख मिलता है। चारपाई पर लिटा देने से वह रोने लगता है। रोना, हाथ-पैर फेंकना या मुस्कराना उसके सुख-दुःख की अभिव्यक्तियाँ हैं।

संसार और हम

संसार के प्रति हमारी कुछ-न-कुछ प्रतिक्रिया होती है। पहले हमको उसका ज्ञान होता है फिर उसके प्रति हमारा आकर्षण या विकर्षण होता है। हम विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। हम किसी सुरम्य उपवन में पहुंच जाते हैं। शुभ्र हास्यमयी विकसित कलिकाओं के सौरभमय सौन्दर्य का नेत्र और नासिका द्वारा हमें ज्ञान होता है। उस ज्ञान के साथ ही हमारा मन आन्दोलित होने लगता है। हम कहने लगते हैं—'कैसा अच्छा दृश्य है! इच्छा होती है यहीं बैठे रहें'—और सामने पड़ी बैंच पर हम गुनगुनाने लगते हैं।

उपर्युक्त अनुभव में हमको तीन प्रकार की मनोवृत्तियों का परिचय मिलता है। हमको ज्ञान होता है। ज्ञान के साथ हमारे भाव लगे होते हैं, जैसे—मित्र को देखकर प्रसन्न होना, शत्रु या अत्याचारी को देखकर दुःखी होना या किसी अद्भुत बात को देखकर आश्चर्यान्वित होना। हमारे भाव हमारे मस्तिष्क की चहारदीवारी में बन्द नहीं रहते हैं। हम भावों के अनुकूल क्रिया करने लग जाते हैं। मित्र को देखकर उसके स्वागत को उठ खड़े होते हैं। शत्रु को देखकर उससे दूर भागने अथवा उसे दूर भगाने की कोशिश करते हैं। इन मनोवृत्तियों

आधारभूत मनोवृत्तियाँ

को ज्ञान, भावना और संकल्प (जो क्रिया का मूल है) कहते हैं। ये तीनों मनोवृत्तियाँ कबूतरखाने की भाँति अलग-अलग कक्षों में नहीं रहती हैं। जिसकी जिस समय प्रधानता होती है उसी के अनुकूल उसका नाम रख लिया जाता है ! ये रहतीं तो हमारे मन में हैं किन्तु वाह्य संसार के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में वे जाग्रत होती हैं। यद्यपि हमारा ज्ञान भी अभिव्यक्ति चाहता है और उसका भी परिणाम किसी प्रकार की क्रिया में होता है तथापि भावों में शाब्दिक अभिव्यक्ति और क्रिया की जितनी प्रबल प्रेरणा रहती है उतनी और किसी में नहीं। वास्तव में हमारी भावनाएँ ज्ञान को एक प्रकार की रंगत देकर हमको क्रिया के लिए प्रेरणा देती हैं। इसीलिए हमारे यहाँ के विश्लेषण में इन्हें ज्ञान, इच्छा और क्रिया नाम दिया गया है। इच्छा में भावना और क्रिया का मिश्रण रहता है। इच्छा के बाद ही संकल्प आता है इसमें क्रिया की ओर अधिक प्रवृत्ति है। ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग का मार्ग ज्ञान, भावना और संकल्प की मनोवृत्तियों पर आश्रित है। अत. साहित्यिक व्याख्या के लिए हम ज्ञान, भावना और संकल्प के ही विभाजन को मुख्यता देंगे।

इन मनोवृत्तियों के साथ हमारी कुछ प्रवृत्तियाँ भी हैं, भय के समय भागने की प्रवृत्ति, क्रोध में लड़ने की प्रवृत्ति । इसी प्रकार हम में एक आत्माभिव्यक्ति की भी प्रवृत्ति है अर्थात् हम अपने भावों को प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकते। हम सिनेमा देखकर आते हैं उसकी तारीफ या बुराई करने की हमारी इच्छा होती है, यही आत्माभिव्यक्ति है। हर्ष में हम हँसने, गाने और नाचने लगते हैं। विषाद में सिर नीचा करके पड़ जाते हैं और रोने भी लगते हैं। यही अभिव्यक्ति (अभि=अच्छी तरह, व्यक्ति—प्रकट करना) है। क्रिया भी एक प्रकार की अभिव्यक्ति है। यदि हम किसी को पीटते हैं तो हमारे क्रोध की अभिव्यक्ति होती है। इन अभिव्यक्तियों में जो शाब्दिक अभिव्यक्ति होती है उसका विशेष महत्त्व है, कारण उसका अधिक स्थायित्व है और उसमें सामाजिकता भी अधिक है। मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति में ही उसकी सामाजिकता का मूल है। साहित्य में भी इसी अभिव्यक्ति की प्रधानता है।

आत्माभिव्यक्ति और साहित्य

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साहित्य संसार के प्रति हमारी

मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात् विचारों, भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और वह हमारे किसी-न-किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है।

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति भी इस परिभाषा को पुष्ट करती है। साहित्य शब्द का अर्थ है सहित होने का भाव—'सहितस्य भावः साहित्यं'। अब प्रश्न होता है कि सहित शब्द का क्या अर्थ है ? सहित शब्द के दो अर्थ हैं—(१) सह अर्थात् साथ होना (२) 'हितेन सह सहितं' अर्थात् हित के साथ होना अथवा जिससे हित-सम्पादन हो। सह (साथ) होने के भाव को प्रधानता देते हुए हम कहेंगे कि जहाँ शब्द और अर्थ, विचार और भाव का परस्परानुकूलता के साथ सहभाव हो वही साहित्य है। शब्द और अर्थ का सहित होना स्वाभाविक रूप से ही माना गया है। कविकुल-चूड़ामणि कालिदास ने अपने रघुवंश के मंगलाचरण में शब्द और अर्थ के संयोग को अपने इष्ट पार्वती-परमेश्वर के संयोग का उपमान माना है।❀ गोस्वामी जी ने भी वाणी और अर्थ का सम्बन्ध जल और उसकी तरंग की भाँति एक दूसरे से भिन्न और अभिन्न दोनों ही माना है—

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति

गिरा अर्थ, जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौ सीता राम पद, जिन्हें सदा प्रिय खिन्न।

इस प्रकार सहभाव में ही साहित्य की सामाजिकता का भाव लगा हुआ है।

सहित का अर्थ 'हितेन सह सहितं' लगाते हुए हम कहेंगे कि साहित्य वह है जिससे मानव-हित का सम्पादन हो। हित उसे ही कहते हैं जिससे कुछ बने, कुछ लाभ हो—'विदधातीति हितम्'—आनन्द भी एक लाभ है। रुपये-आने-पाई का ही लाभ लाभ नहीं है। विधाता में भी हित का भाव है। हमारी परिभाषा में सहित होने का और हित होने का भाव है। अंग्रेजी शब्द लिट्रेचर (Literature) अक्षरों (Letters) से बना है। अक्षरों का जितना विस्तार है

❀ वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ बन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

वह सब लिट्रेचर है। अरबी में साहित्य को 'अदब' कहते हैं। 'अदब' का अर्थ है आदर-शिष्टता। साहित्य शिष्टतापूर्ण होने के कारण ही 'अदब' कहलाता है।

व्यापक और संकुचित अर्थ

साहित्य शब्द के इन अर्थों पर विचार करने से हम इसी धारणा पर पहुँचते हैं कि उसके व्यापक और संकुचित दोनों ही अर्थ होते हैं। व्यापक अर्थ में साहित्य सारे वाङ्मय का पर्याय है। जितना शब्द भण्डार और वाणी का विस्तार है सब इसके अन्तर्गत आ जाता है। पञ्चाङ्ग, त्रिकोणमिति, बीमा कम्पनी का प्रोस्पेक्टस और दवाइयों के विज्ञापन से लगाकर रघुवंश, मेघदूत, तुलसीकृत रामायण, साकेत, कामायिनी, गोदान, चिन्तामणि आदि सभी गद्य-पद्यात्मक पुस्तकें आ जाती हैं। प्रायः लोग कहते हैं—दार्शनिक साहित्य, वैज्ञानिक साहित्य। बीमा कम्पनी और दवाइयों के एजेण्ट भी कहते सुने जाते हैं—इसमें यदि आपकी अभिरुचि हो तो इसके सम्बन्ध का कुछ साहित्य हम आपकी सेवा में भेज दें।

साहित्य अपने संकुचित और रूढ़ अर्थ में काव्य का पर्याय बन जाता है। साहित्य और विज्ञान में जो भेद किया जाता है वह इसी रूढ़ अर्थ के आधार पर। साहित्य का व्यापक अर्थ उसकी व्युत्पत्ति के अर्थ पर आश्रित है और संकुचित अर्थ रूढ़ि पर अवलम्बित है। व्यापक अर्थ में साहित्य ऐसी शाब्दिक रचना-मात्र का वाचक है जिसमें कुछ हित या प्रयोजन हो और अपने रूढ़ अर्थ में काव्य वा भावना-प्रधान साहित्य का पर्याय है।

प्रारम्भिक साहित्य

साहित्य मौखिक और लिखित दोनों ही रूप में हो सकता है। आरम्भ-काल में साहित्य मौखिक ही रहा होगा और इसके बाद में लिखित रूप में आया होगा। आदिम मनुष्य प्राकृतिक दृश्यों से भयभीत होकर अनिष्ट-निवारणार्थ ईश्वर, देवताओं या प्राकृतिक शक्तियों से प्रार्थना करता होगा और उसी ने साहित्य का रूप धारण कर लिया होगा।

भाषा की उत्पत्ति भी आत्माभिव्यक्ति के रूप में हुई होगी। आदिम मनुष्य ने अपने आकर्षण और विकर्षण की वस्तुओं के सम्बन्ध में

क्रियात्मक अभिव्यक्ति के साथ कुछ शाब्दिक अभिव्यक्ति भी की होगी, वह चाहे कितनी ही अस्पष्ट क्यों न हो। धीरे-धीरे वह अभिव्यक्ति निश्चित होती गई और भाषा का रूप धारण करती गई। किन्तु मनुष्य की सभी अभिव्यक्तियाँ संरक्षणीय नहीं होती, जो संरक्षणीय होती हैं वे ही साहित्य का रूप धारण कर लेती हैं। वे ही अभिव्यक्तियाँ संरक्षणीय होती हैं जिनके द्वारा मानव-समाज का हित हो अथवा जो मनुष्य के आनन्द का कारण बन सके। जहाँ हित और मनोहरता दोनों आ जायँ वहीं सत्साहित्य की सृष्टि हो जाती है—'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'—साहित्य इसी दुर्लभ को सुलभ बनाता है।

भाषा मनुष्य की सामाजिकता को विशेष रूप से पुष्ट करती है। उसी के द्वारा मनुष्य-समाज में सहकारिता उत्पन्न होती है और वह मनुष्य को उन्नत बनाती है। साहित्य मनुष्य-जाति के सामाजिक सम्बन्धों को और भी दृढ़ बनाता है क्योंकि उसमें मनुष्य-जाति का सम्मिलित हित रहता है। सम्मिलित हित और आनन्ददायिनी शक्ति के कारण ही साहित्य संरक्षणीय बनता है। साधारण भाषा की अपेक्षा साहित्य की भाषा कुछ अधिक प्रभावशालिनी होती है और वह लेखक और कवि के भावों को समाज में प्रस्तारित करने में अधिक समर्थ होती है। लेखक या कवि अपने पाठक या श्रोता को अपने भावों का साझीदार बनाकर उसको भी अपने समान भावविभोर-या विचार-मग्न करने का प्रयत्न करता है किन्तु लेखक और कवि के भाव और विचार सब उसके ही नहीं होते, वह प्रायः समाज का प्रतिनिधि होता है। उसके द्वारा सामाजिक जीवन स्वयं मुखरित हो उठता है। हमारी जीवन-धारा की आनन्दमयी अभिव्यक्ति ही तो साहित्य है।

साहित्य और समाज

समाज का साहित्य पर प्रभाव

कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक खाद मिल जाता है वैसी ही उसकी कृति होती है। जिस प्रकार बेतार के तार का ग्राहक (Receiver) आकाश-मण्डल में विचरती हुई विद्युत-तरंगों को पकड़कर उनको भाषित शब्द का आकार देता है, ठीक उसी प्रकार कवि या लेखक अपने समय के वायुमण्डल

में घूमते हुए विचारों को पकड़कर मुखरित कर देता है। कवि वह बात कहता है जिसका सब लोग अनुभव करते है किन्तु जिसको सब लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव-शक्ति औरों से बढ़ी-चढ़ी होती है। जहां उसको किसी बात की क्षीण-से-क्षीण रेखा दिखाई पड़ी वहीं वह उसके आधार पर पूरा चित्र खींच लेता है। प्रायः उसका चित्र ठीक उतरता है।

कवि या लेखकगण अपने समाज के मस्तिष्क और मुख दोनों होते हैं। कवि की पुकार समाज की पुकार होती है। कवि समाज के भावों को व्यक्त कर सजीव और शक्तिशाली बना देता है। कवि की बनाई हुई समाजिक भावों की मूर्त्ति समाज की नेत्री बन जाती है। इस प्रकार कवि और लेखकगण समाज के उन्नायक और इतिहास के विधायक अवश्य होते हैं किन्तु उनकी भाषा में हमको समाज के भावों की झलक मिलती रहती है। कवि द्वारा हम समाज के हृदय तक पहुँच जाते हैं। केवल इतना ही नहीं वरन् हमको उन परिस्थितियों का भी पता लग जाता है जो समाज को प्रभावित कर वायुमण्डल में एक नई लहर उत्पन्न कर देती हैं। समाज के प्रतिनिधि-स्वरूप कवियों और लेखकों के विचार ही संगृहीत हो साहित्य बनाते हैं।

प्रत्येक जाति के साहित्य का एक व्यक्तित्व होता है। यद्यपि मानव-हृदय एक-सा ही है तथापि जाति के ही साहित्य की विशेषता होती है। केवल इतना ही नहीं वरन् एक जाति के हा साहित्य में उसके विकास के अनुकूल समय-समय पर अन्तर पड़ता रहता है। जो त्याग और आत्मा का विस्तार हम उपनिषदों में पाते हैं वह हम अन्य जातियों के धार्मिक साहित्य में नहीं देखते। भारत के स्वच्छ, उन्मुक्त, उज्ज्वल, ज्योत्स्नामय तपोवनों ने भारतीय हृदय में जो अनन्तता के भाव उत्पन्न किए थे उनकी झलक हमको उपनिषद् साहित्य में ही मिलती है। परिस्थितियों के आवर्तन-परिवर्तन, राज्यों के उलट-पुलट और विचारों के संघर्ष के कारण वे भाव दब जाते हैं किन्तु समय पाकर फिर उदय हो जाते हैं।

मुसलमानी साहित्य में नाटकों का अभाव उनके मूर्त्ति-पूजा-विरोधी विचारों का ही फल है। उनके विचारों में भाग्यवाद अवश्य है किन्तु कर्मवाद नहीं (हिन्दुओं में उनके कर्म ही भाग्य के विधायक माने जाते हैं, मुसलमानों में ईश्वर की मर्जी ही प्रधान मानी गई है)।

सम्मिलित परिवार का जैसा चित्र हिन्दू साहित्य में मिलता है वैसा और कहीं नहीं। शेक्सपियर लाख कोशिश करने पर भी रामचरित-मानस की कल्पना नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार तुलसीदासजी मिल्टन (Milton) के 'पैरेडाईज़ लौस्ट' (Paradise Lost) को विचार में भी नहीं ला सकते थे क्योंकि 'पैरेडाईज़ लौस्ट' में ईश्वर के विरुद्ध शैतान की बगावत का वर्णन है। पहले तो हिन्दू साहित्य में ईश्वर की कोई प्रतिद्वन्द्विनी शक्ति है ही नहीं फिर तुलसीदास जैसे मर्यादावादी अधिकारों के माननेवाले इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। हिन्दुओं में देवता और दानवों का विरोध रहा है किन्तु न वह शैतान की तरह स्वर्ग में रहता था और न उसका शैतान-का-सा व्यापक प्रभाव था। मिल्टन ने जिस समय यह ग्रन्थ लिखा उस समय इंगलैंड में अधिकारों के खिलाफ आवाज़ उठ रही थी। हमारे यहाँ राजाओं के विरोध में राजा वेणु की कथा अवश्य है किन्तु वह बड़ा अत्याचारी था। हिन्दू लोग स्वभाव से अधिकारों के मानने-वाले होते हैं।

हिन्दू जाति में त्याग और अहिंसा के भावों का प्राधान्य रहा है इसीलिए यहाँ के साहित्य में मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र, त्यागी बुद्धदेव, सत्यपरायण हरिश्चन्द्र, परोपकारी शिवि और दधीचि के वर्णनों का प्राधान्य रहता है। उर्दू-कवियों के प्रेम-वर्णन में जितना हत्याकाण्ड है उतना हिन्दी-कवियों में नहीं। भारतवर्ष में घी-दूध का बहुत आदर रहा है। यहाँ के देहात्मवादी चार्वाक भी 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' ही कहते हैं 'सुरां पिबेत्' नहीं कहते।

पूर्वी देशों में पश्चिम की अपेक्षा अलंकारप्रियता अधिक है। जिस तरह भारतीय नारियाँ आभूषणों को पसंद करती आई हैं वैसे ही कविगण भी कविता को अलंकारों से सजाने का प्रयत्न करते रहे हैं। अतएव जितने भाषा के अलंकार पूर्वी साहित्य में मिलते हैं उतने पश्चिमी साहित्य में नहीं। प्रत्येक जाति के भाव, चाहे वे भले हों चाहे बुरे, उसके साहित्य में झलक उठते हैं।

साहित्य का समाज पर प्रभाव

जिस प्रकार साहित्य में सामाजिक भावों और विचारों की प्रतिच्छाया रहती है उसी प्रकार हमारा समाज भी साहित्य द्वारा प्रसारित भावों से प्रभावित होता है। कवि और लेखक किसी अंश में

समाज के प्रतिनिधि होते हैं और किसी अंश में वे समाज को अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व के आधार पर नये भाव और विचार प्रदान करते हैं। समाज कवि और लेखकों को बनाती है और लेखक तथा कवि समाज को बनाते हैं। दोनों में आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-भाव चलता रहता है; यही सामाजिक उन्नति का नियामक सूत्र बनता है। आजकल का संसार विचारों का ही संसार है। जो कोई परिवर्तन या विप्लव होता है उसका मूल स्रोत किसी विचारधारा में ही है। वट-बीज के समान विचारों की बड़ी संभावनाएँ हैं। वर्तमान समय के सब राजिनीतिक आंदोलन विचारों के ही फल हैं। साहित्य द्वारा ही हमारा ज्ञान विस्तृत होकर हमको वर्तमान से असंतुष्ट बनाता है। साहित्य हमारी हीन अवस्था की दूसरों की उन्नत अवस्था से तुलना कर हमारा नेत्रोन्मीलन कर हममें शक्ति का संचार करता है। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों और उनकी कहानियों ने भारत के किसानों के प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत करने में बहुत-कुछ योग दिया है। वर्तमान निष्क्रिय प्रतिरोध बौद्धकालीन विचारों एवं टाल्स्टाय के विचारों का फल है। रूसी राजविप्लव वहाँ के साम्यवाद-सम्बन्धी विचारों का ही परिणाम है। फ्रांस की राजक्रान्ति वोलतेर और रूसो के विचारों का ही प्रतिबिम्ब हैं। नित्शे आदि दार्शनिकों के विचार जिन्होंने जर्मन जाति में शक्ति की उपासना तथा अपनी सभ्यता के विस्तार के भाव उत्पन्न किये थे, गत महासमरों के लिए उत्तरदायी हैं।

जिस प्रकार साहित्य मारकाट और क्रान्ति के लिए उत्तरदायी है उसी प्रकार साहित्य सुख, शान्ति और स्वातन्त्र्य के भावों का भी कारण है। महात्मा तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' ने कितने अन्धकारमय हृदयों को आलोकित नहीं किया, कितने घरों में संतोष और शान्ति का सन्देश नहीं पहुँचाया? 'जिन खोजा तिन पाइयाँ'—वाले कबीर के उत्साह भरे शब्दों ने कितने हताश पुरुषों में प्राण का संचार नहीं किया? हिन्दू जाति की आध्यात्मिक संस्कृति, धर्मभीरुता और अहिंसावाद में भारतीय साहित्य की ही झलक मिलती है। समर्थ रामदास और महाराष्ट्र सन्तों के उपदेश और भूषण आदि कवियों की उत्तेजनामयी रचनाएँ महाराष्ट्र के उत्थान में बहुत-कुछ सहायक हुईं। वीरगाथाओं ने उस काल में वीर भावों का संचार किया।

साहित्य हमारे अव्यक्त भावों को व्यक्त कर हमको प्रभावित करता है। हमारे ही विचार साहित्य के रूप में मूर्तिमान हो हमारा नेतृत्व करते हैं। साहित्य ही विचारों की गुप्त शक्ति को केन्द्रस्थ कर उसे कार्यकारिणी बना देता है। साहित्य हमारे देश के भावों को जीवित रखकर हमारे व्यक्तित्व को स्थिर रखता है। वर्तमान भारत-वर्ष में जो परिवर्तन हुआ है और जो धर्म में अश्रद्धा उत्पन्न हुई है वह अधिकांश में विदेशी साहित्य का ही फल है। साहित्य द्वारा जो समाज में परिवर्तन होता है वह तलवार द्वारा किये हुए परिवर्तन से कहीं स्थायी होता है। आज हमारे सौन्दर्य-सम्बन्धी विचार, हमारी कला का आदर्श, हमारा शिष्टाचार सब विदेशी साहित्य से प्रभावित हो रहे हैं। रोम ने यूनान पर राजनीतिक विजय प्राप्त की थी किन्तु यूनान ने अपने साहित्य द्वारा रोम पर मानसिक विजय प्राप्त कर सारे योरोप पर अपने विचारों और संस्कृति की छाप डाल दी। प्राचीन यूनान का सामाजिक संस्थान वहाँ के तत्कालीन साहित्य के प्रभाव को ज्वलन्त रूप से प्रमाणित करता है। योरोप की जितनी कला है वह प्रायः यूनानी आदर्शों पर ही चल रही है। इन सब बातों के अतिरिक्त हमारा साहित्य हमारे सामने हमारे जीवन को उपस्थित कर हमारे जीवन को सुधारता है। हम एक आदर्श पर चलना सीखते हैं। साहित्य हमारा मनोविनोद कर हमारे जीवन का भार भी हलका करता है। जहाँ साहित्य का अभाव है वहाँ जीवन इतना रम्य नहीं रहता।

साहित्य एक गुप्त रूप से सामाजिक संगठन और जातीय जीवन का भी वर्द्धक होता है। हम अपने विचारों को अपनी अमूल्य सम्पत्ति समझते हैं, उन पर हम गर्व करते हैं। किसी अपनी सम्मि-लित वस्तु पर गर्व करना जातीय जीवन और सामाजिक संगठन का प्राण है। अँग्रेजों को शेक्सपियर पर बड़ा भारी गर्व है। एक अँग्रेज साहित्यक का कथन है कि वे लोग शेक्सपियर पर अपना सारा साम्राज्य न्यौछावर कर सकते हैं।

हमारा साहित्य हमको एक संस्कृति और एकजातीयता के सूत्र में बाँधता है। जैसा साहित्य होता है वैसी ही हमारी मनोवृत्तियाँ हो जाती हैं और हमारी मनोवृत्तियों के अनुकूल हमारा कार्य होने लगता है; इसलिए हमारा साहित्य हमारे समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं वह उसका नियामक और उन्नायक भी है।

साहित्य और आत्मभाव

श्री मम्मटाचार्य ने कवि की भारती की प्रशंसा करते हुए काव्य को स्वतन्त्र और आनन्दमय बतलाया है—

काव्य में आत्म-स्वातन्त्र्य

'नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥'

अर्थात् नियति (भाग्य) के नियमों के बन्धन से रहित केवल आनन्द से ही भरपूर, दूसरे की वश्यता से रहित नवरसों से सुशोभित कवि की वाणी की जय हो।

इस पद्य में कवि की रचना को ब्रह्मा की रचना से प्रधानता दी गई है। ब्रह्मा की रचना भाग्य के नियमों पर निर्भर रहती है किन्तु कवि की रचना ऐसे बन्धनों से मुक्त है। वास्तव में कविता अनन्य-परतन्त्रा होने के कारण सब बन्धनों से मुक्त है। काव्य में आत्मा का पूर्ण प्रभाव प्रकाशित होता है, वाह्य सामग्री का आश्रय और बन्धन नहीं रहता। केवल स्वातन्त्र्य और आनन्द का प्रसार होता है। आत्मा नियति के बन्धनों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होती है किन्तु कठिनता के साथ। जब तक उन बन्धनों का प्रभाव रहता है तब तक गति कुण्ठित-सी रहती है। कवि जहां संसार में विरोध, वैषम्य और प्रतिकूलता देखता है वहां वह उसको अपनी कल्पना में अपने आदर्शों के अनुकूल ढालने का प्रयत्न करता है। इसीलिए कहा गया है कि कवि प्रजापति है, संसार को ढालता है। कवि की रुचि के अनुकूल उसकी सृष्टि बन जाती है—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ॥'

काव्य के संसार में आत्मा की गति अकुण्ठित हो जाती है। नियम के बन्धनों से मुक्त होने का अर्थ उच्छृंखलता नहीं, उसमें शृंखला रहती है। किन्तु वह लोहे की जड़ शृंखला नहीं वरन् भावों का चेतन सम्बन्ध-सूत्र है जिसको प्राकृतिक नियमों का भार नहीं तोड़ सकता। यह शृंखला देश और काल के बन्धनों से संकुचित नहीं होती वरन् उसका प्रसार आकाश से पाताल तक व्याप्त हो जाता है।

इस स्वतन्त्रता में नियम-विरुद्धता नहीं वरन् आत्मा का उल्लास

और विकास भरा हुआ है। काव्य उसी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के प्रभाव का फल है जो जड़ नियमों के प्रस्तर-खण्डों को तोड़कर स्वच्छन्द रूप से होने का सामर्थ्य रखता है; यदि वह नियमबद्ध है तो वह नियम दूसरों के आश्रित नहीं। इसका अभिप्राय यह न समझ लेना चाहिए कि काव्य प्राकृतिक नियमों की नितान्त अवहेलना करता है। वह प्राकृतिक नियमों का आदर करते हुए भी उनसे ऊपर जाने का प्रयत्न करता है। कवि अपनी कल्पना से वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ता किन्तु वह उसका आश्रय लेकर ही भावी उन्नत समाज के स्वप्न देखता है, इसी प्रकार वह समाज का न्यामक बनता है।

काव्य छन्द के नियमों से बँधा हुआ बतलाया जाता है किन्तु छन्द के ये नियम बाहरी नहीं हैं। काव्य उन नियमों का अनुकरण नहीं करता वरन् ये नियम काव्य की गति के वर्णन-स्वरूप हैं। छन्द के नियम आत्मा की स्वतन्त्र स्पन्दन-गति के क्रम को बतलाते हैं। वह क्रम जीवन के प्रवाह से निकलता है और उसके काले अक्षरों में प्रस्तरी-भूत हो जाने पर ही वह नियम के शासन में आता है, ऐसी ही स्वतन्त्रता सौन्दर्य के आनन्द से भरपूर रहकर स्थायित्व धारण करती है। जहाँ पर गति कुण्ठित होती है, अभिलाषा की अपूर्णता रहती है और महत्वाकाक्षाएँ संकुचित हो जाती हैं वहीं पर आनन्द का ह्रास होता है। किन्तु जहाँ पर जीवन-रस का प्रवाह अकुण्ठित रूप से बहता रहता है, सारी चराचर सृष्टि आत्ममय हो जाती है वहाँ पर आनन्द का ही साम्राज्य है। काव्य उसी आनन्द-रस से सिञ्चित जीवन-विटप का एक उत्तम फल है।

काव्य में आनन्द का प्राधान्य रहता है। वही आनन्द काव्य के स्रष्टा और पाठक के व्यक्तित्वों का सम्बन्ध-सूत्र होता है। यह आनन्द जड़ पदार्थों का विषय नहीं है यह चेतन और आत्मप्रधान व्यक्तियों में ही पाया जाता है। साहित्य और काव्य मनुष्यों के आत्मप्रधान भावों की अभिव्यक्ति है। यही आत्मभाव काव्य को विज्ञान से अलग करता है।

साहित्य और विज्ञान

विज्ञान अपने वाह्य साधनों से जिस वस्तु का जैसा निरीक्षण करता है उसका वैसा ही वर्णन भी करता है। उसका वर्णन इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) होता है। उसमें असुन्दर को सुन्दर तथा अशिव को शिव बनाने

की वह स्वभाविक प्रवृत्ति नहीं होती जो काव्य को 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' से आगे ले जाकर 'मा ब्रूयात सत्यमप्रियम्' का पक्षपाती बना देती है। विज्ञान का झुकाव यथार्थ की ओर होता है और काव्य वस्तु की भित्ति पर खड़ा होकर आदर्श की ओर भी देखता है।

विज्ञान का क्षेत्र चेतनता से रहित निर्जीव एवं निरीह प्रकृति है। वह मानव को भी प्रकृति का एक अंग—भौतिक और प्राणीशास्त्र के नियमों से बँधा हुआ अस्थि-मज्जा आदि से सुसज्जित माँस का एक पिण्डमात्र—मानता है, किन्तु काव्य का क्षेत्र मानवहृदय है। उसकी दृष्टि में प्रकृति का भी एक भावनामय स्वरूप है—उसके अपना-सा या उससे कम स्पन्दनशील हृदय है; वह अपने हर्ष एवं विषाद को सहृदय के सम्मुख व्यक्त करने में तनिक भी संकोच नहीं करती। उसके सम्पूर्ण क्रिया-कलापों में एक गुप्त रहस्य है जो सहृदय के हृदयङ्गम करने का विषय है। कवि-कल्पना में नवयौवना गुलाब की कली चटककर मानो भ्रमर को आमन्त्रित करता दिखाई देती है। शिथिल पत्राङ्क में सोती हुई जुही की कली का सौन्दर्य किसी भी विलासिनी के लिए उद्दीपक हो सकता है। अस्तु वैज्ञानिक के लिए तो कुसुम केवल कार्बन, हाइड्रोजन, लोहा आदि कुछ तत्वों का संघातमात्र है, वह उसका विश्लेषण करके उसके स्वाभाविक सौन्दर्य को छिन्न-भिन्न भले ही कर सकता है किन्तु उसका वह अपूर्व मनोमोहक स्वरूप जो लोकोत्तर आनन्द का प्रतिपादक है, उसकी पहुँच से अगम है। वह गुण को भी परिमाण का ही रूपान्तर समझता है। वैज्ञानिक के लिए जाति प्रधान है व्यक्ति नहीं। साहित्य में व्यक्तित्व का ही विशेष महत्त्व है। सूर की गोपियां कृष्ण को छोड़कर ब्रह्म को नहीं चाहतीं—'ता उर भीतर क्यों निर्गुन आवत जा उर स्याम सुजान'। वे उद्धव से स्पष्ट कह देती हैं—

> 'ऊधो! अति चतुर सुजान।
> जे पहिले रँग रँगी श्याम रँग तिन्हैं चढ़ै न रँग आन॥
> दुइ लोचन जो विरद किए श्रुति गावत एक समान।
> भेद चकोर कियो ताहूँ में विधु प्रीतम, रिपु भान॥'

जब चकोर भी सूर्य और चन्द्र के व्यक्तित्व में अन्तर कर सकता है तब मनुष्य व्यक्तित्व में क्यों न अन्तर करेगा। पार्वती की

प्रतिज्ञा—'बरहुं शम्भु न तु रहौं कुआंरी' आदि वचन इसी व्यक्तित्व के प्राधान्य के उदाहरण हैं।

नल और दमयन्ती का उपाख्यान साहित्य में व्यक्तित्व के प्राधान्य का एक अच्छा उदाहरण है। दमयन्ती नल को ही वरण करना चाहती थी। देवताओं में नल की अपेक्षा धन, वैभव और शक्ति का बाहुल्य था किन्तु दमयन्ती नल के व्यक्तित्व पर न्यौछावर हो चुकी थी। देवताओं ने नल का रूप भी धारण किया किन्तु उस रूप-साम्य में भी नल का व्यक्तित्व विलीन न हो सका। दमयन्ती ने अपना मनोनीत व्यक्ति उसके व्यक्तित्व के आकर्षण से खोज निकाला।

लेखक और पाठक का भावसाम्य

काव्य में यद्यपि साधारणीकरण रहता है तथापि वह व्यक्ति के ही दृष्टिकोण से लिखा जाता है और वह समान-धर्म और समान-भाव वाले व्यक्तियों के ही लिए अभिप्रेत होता है। कवि के कवित्व का रसिकजन ही आस्वाद करते हैं इसीलिए कवि विधाता को चुनौती देते हुए यह कहता है कि मेरे भाग्य में चाहे जो कुछ आपत्तियाँ और यातनाएँ वह लिख दे किन्तु 'अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख।' महाकवि भवभूति अपने समान-धर्मा पाठक के लिए अनंतकाल तक प्रतीक्षा करने को तैयार थे—'कालोहि निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'—काल की अवधि नहीं और पृथ्वी भी अनन्त है, कहीं और कभी उसका समानधर्मा पाठक मिल ही जायगा। कवि लिखता अपने ही दृष्टिकोण से है लेकिन वह सब समानधर्मा पाठकों व श्रोताओं के आनन्द और उपभोग का विषय बन जाता है, इसीलिए साहित्य में व्यक्तित्व का महत्त्व देते हुए भी साधारणीकरण की आवश्यकता हो जाती है। कालिदास का 'मेघदूत' सभी विरही हृदयों के तोष का विषय बन जाता है और तुलसी का 'रामचरितमानस' सभी भक्त-हृदयों को भाव-प्रवण कर देता है। संस्कार और रसिकताशून्य पाठकों के लिए 'मेघदूत' और 'रामचरित-मानस' दोनों ही शब्द-जंजाल मात्र हो जाते हैं।

कवि का काव्य उसके आत्मभाव का प्रतिबिम्ब होता है। प्रत्येक कवि और कलाकार की एक शैली विशेष होती है जो उसको दूसरों से अलग खड़ा कर देती है। बिहारी के दोहे 'फानूस'—से अलग चमकते दिखाई देते हैं। कबीर के दोहे छिपाये नहीं छिपते। शैली

में कलाकार के व्यक्तित्व की छाप रहती है। तभी तो कहते हैं—'Style is the man'। कवि की कृति में हम उसकी आत्मा के दर्शन करते हैं। आज तीन सौ वर्ष बाद भी कवि-कुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी के हम उनके 'रामचरितमानस' में दर्शन पा सकते हैं। महर्षि वाल्मीकि और होमर अपनी अमर कृतियों में आज भी जीवित हैं। वे स्वयं ही जीवित नहीं हैं वरन् हमारे जीवन को भी सरस और सम्पन्न बना रहे हैं। हम उनके भावों से प्रभावित हो उनकी ही भांति सुख-दुःख के सागर में गोते खाने लगते हैं। कवि और पाठक का यही भाव-तादात्म्य साहित्य को समाज की मूल प्रेरक शक्ति बनाता है।

काव्य का अध्ययन

कवि और पाठक के भाव-साम्य में ही काव्य की पूर्णता है। कविता चाहे जितनी स्वान्तःसुखाय लिखी जाय कवि का परिश्रम तभी सार्थक होता है जबकि उसकी कविता का कोई रसास्वाद करे। गोस्वामी तुलसीदास जी बुध-जनों के आदर की उपेक्षा नहीं कर सके हैं। जैसा रस कवि के हृदय में होता है वैसे ही रस की जागृति पाठक के हृदय में भी अपेक्षित है। कविता के रसास्वाद के लिए कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। उन साधनों में सबसे पहले कवि के प्रति सहानुभूति चाहिए। हमारे निजी विश्वास चाहे जो कुछ हों, हमको कवि के दृष्टिकोण से ही उसकी कृति का अध्ययन करना चाहिए तभी हम कविता का आनन्द ले सकेंगे। सूर और तुलसी के अध्ययन के लिए हमको भक्त का ही मानसिक बाना धारण करना पड़ेगा। जो लोग प्राचीन कवियों की कृतियों को आजकल के आदर्शों से नापते हैं वे भूल करते हैं। कवि तो अपने ही समय के भावों और विचारों को व्यक्त कर सकता है वह दिव्य द्रष्टा अवश्य होता है किन्तु उसकी दिव्य दृष्टि किसी अंश में सीमित होती है। इसीलिए कृति को अध्ययन करने से पूर्व कवि के समय के वातावरण का अध्ययन भी अपेक्षित रहता है। कवि के साथ सहानुभूति रखने में यह आवश्यक नहीं कि हम उसकी प्रत्येक बात का समर्थन करें। सामाजिक आदर्श बदलते रहते हैं। कवि का सामाजिक आदर्श हमारे

कवि के प्रति सहानुभूति

युग का सामाजिक आदर्श नहीं हो सकता फिर भी कवि को पूर्णतया समझने और उसको आलोचना करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके हो दृष्टिकोण से उसको समझने का प्रयत्न करें। यह आवश्यक नहीं कि हम सभी कवियों के दृष्टिकोण से अपना तादात्म्य कर सकें। पाठक के रुचि-वैचित्र्य को हम भुला नहीं सकते हैं किन्तु यदि पाठक किसी कवि का पूर्णतया रसास्वाद करना चाहता है तो उसको कम-से-कम अध्ययन के समय अपनी रुचि पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

जीवन से परिचय

कवि के साथ सहानुभूति के लिए पाठक को उसके नीजि जीवन तथा उसके समय के वातावरण से परिचित होना नितान्त आवश्यक है निजी जीवन के अध्ययन से हम उसकी मानसिक परिस्थितियों को जान सकेंगे जिनके वश वह अपने काव्य की रचना में प्रेरित हुआ है। कविवर सत्यनारायणजी के निजी जीवन से जो लोग परिचित हैं वे इस बात को भली भाँति समझ सकते हैं कि वे उत्तर-रामचरित के अनुवाद में क्यों सफल हुए। उनके दुःखमय जीवन ने करुण रस को उनकी प्रतिभा का एक अंग बना दिया था। कबीर का अक्खड़पन उसके जुलाहे परिवार में पालित-पोषित होने की ही प्रतिक्रिया मालूम होती है। वैयक्तिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त कवि पर समय का भी प्रभाव पड़ता है। भूषण की कविता में जो उग्रता है वह तत्कालीन परिस्थितियों का हा फल कही जा सकती है।

प्रतिभा और शैली

रसास्वाद के लिए कवि की प्रतिभा को विशेषताओं से जानकारी प्राप्त करना अनिवार्य है। प्रत्येक कवि अपने समकालीन अन्य कवियों से कुछ विशेषता रखता है उसकी अभिव्यक्ति की शैली में भी विभिन्नता रहती है। पाठक को यह देखने की आवश्यकता रहती है कि कवि ने हमको क्या नई चीज दी अथवा पुरानी ही चीज को उसने किस नये ढंग से कहा। उसको कौन-से रस में विशेष सफलता मिली है और किन भावों के प्रस्फुटन में उसकी प्रतिभा की स्फूर्ति अधिक दिखाई पड़ती है। इसके लिए हमको कवि की एक ही कृति का अध्ययन पर्याप्त नहीं है उसकी समस्त कृतियों से ही उसकी प्रतिभा का पूर्णतया अनुमान किया जा सकता है।

प्रतिभा के अध्ययन में हमको तुलनात्मक प्रणाली से भी काम लेना पड़ेगा। कवि की प्रतिभा की नाप-जोख के लिए हमको उसके समकालीन कवियों से और कभी-कभी उसी विषय के भिन्नकालीन अन्य कवियों से भी तुलना करनी पड़ती है। तुलनात्मक प्रणाली से ही कवि की देन का यथार्थ मूल्याङ्कन हो सकता है।

मैथ्यू आरनल्ड ने कविता को जीवन की व्याख्या या आलोचना कहा है (Poetry is at bottom criticism of life)। यद्यपि कवि द्वारा की हुई जीवन की व्याख्या दार्शनिक और समाजशास्त्री की व्याख्या से भिन्न है तथापि कवि जीवन की व्याख्या किये बिना नहीं रह सकता है क्योंकि काव्य जीवन-धारा का ही तो मुखरित रूप है। प्रत्येक कवि ने अपना जीवन-दर्शन देने का प्रयत्न किया है किन्तु एक निजी उल्लास के साथ, यही उल्लासमयता कवि की व्याख्या की विशेषता है। कवि बुद्धि की उपेक्षा नहीं करता है किन्तु वह निरा बौद्धिक प्राणी नहीं है, वह रस का स्रष्टा है। उसकी व्याख्या भी रसमयी होती है। मैथ्यू आरनल्ड की परिभाषा में बुद्धितत्व को कुछ अधिक प्रधानता मिली है। हमारे यहाँ रसतत्व की प्रधानता है किन्तु वह रस जीवन का ही रस है जो कवि और पाठक दोनों के हृदय को आप्लावित करता है।

जीवन की व्याख्या

काव्य की परिभाषा और विभाग

कवि साधारण मनुष्य की अपेक्षा कुछ अधिक भावुक और विचारशील होता है किन्तु वह अपने अनुभव को अपने तक मीमित नहीं रखना चाहता है। वह अपने हृदय का रस दूसरों तक पहुँचाकर उनको भी अपनी तरह प्रभावित करने को उत्सुक रहता है। इस प्रकार काव्य के दो पक्ष हो जाते हैं, एक अनुभूति-पक्ष और दूसरा अभिव्यक्ति-पक्ष। इसी को भाव-पक्ष और कला-पक्ष भी कहते हैं। पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित काव्य के चार तत्व (रागात्मक तत्व, कल्पनातत्व, बुद्धितत्व और शैलीतत्व) इन्हीं दो पक्षों से सम्बन्धित हैं। इन तत्वों में रागात्मक तत्व की प्रधानता है। इसका सम्बन्ध अनुभूति से है। कल्पना नये-नये चित्र उपस्थित कर दोनों पक्षों को बल देती है। शैलीतत्व का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। इसमें मार्नासक पक्ष रहता अवश्य है किन्तु इसमें बल कलात्मक वाह्य पक्ष पर ही है। बुद्धितत्व अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों को औचित्य की सीमा से बाहर नहीं जाने देता। बुद्धितत्व का निजी रूप है 'संगति'।

दो पक्ष

भारतीय समीक्षा-क्षेत्र में काव्य की परिभाषा का प्रश्न काव्य की आत्मा के विवेचन से सम्बन्धित है। शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना जाता है। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में आचार्यों का मत-भेद है। भरतमुनि और उनके बहुत पीछे विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा माना है। दण्डी, भामह आदि ने अलङ्कारों को काव्य की आत्मा माना है। हिन्दी में आचार्य केशवदास जी भी इसी सम्प्रदाय के थे। कुन्तक या कुन्तल ने वक्रोक्ति को (बात को एक विदग्धता और सौन्दर्यपूर्ण घुमाव-फिराव के साथ कहने को—जैसे रामचन्द्रजी ने सुग्रीव से कहा था कि वह रास्ता संकुचित नहीं है जिससे बाली गया अर्थात् हम तुमको भी मार डालेंगे) काव्य की आत्मा माना है। वामन ने रीति को (माधुर्य, ओज आदि गुणों के आधार पर रचना की शैलियों को) काव्य की आत्मा बतलाया है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'।

काव्य की आत्मा

ध्वनिकार और आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि को आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया है (जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा मुख्यता रखता है उसे ध्वनिकाव्य कहते हैं) 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' इन सम्प्रदायों में मुख्यता रस और ध्वनि-सम्प्रदाय की रही है किन्तु इन दोनों ने एक दूसरे का महत्त्व स्वीकार किया है। ध्वनिकारों ने रसध्वनि को श्रेष्ठता दी और रसवादियों ने रस को व्यङ्ग्य मानकर ध्वनि का महत्त्व स्वीकार किया। इन सम्प्रदायों में रस-सम्प्रदाय ने अनुभूति-पक्ष को प्रधानता दी है। अभिव्यक्ति को भी उसने रस के पोषक और सहायक रूप से स्वीकार किया है। अलङ्कार, वक्रोक्ति और रीति-सम्प्रदायों ने अभिव्यक्ति की ओर अधिक ध्यान दिया है। ध्वनि-सम्प्रदाय योरोप के कल्पनावादियों के अधिक निकट आता है क्योंकि ध्वनि में कल्पना का अधिक प्रयोग होता है। इन सम्प्रदायों से प्रभावित होकर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने काव्य की भिन्न-भिन्न परिभाषायें दी हैं।

मम्मटाचार्य—*काव्य-प्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने उस रचना को जो दोषरहित और गुण वाली हो तथा जिसमें कहीं-कहीं अलङ्कार न भी हों काव्य कहा है—*

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" —काव्य-प्रकाश

इसकी साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने बड़ी कड़ी आलोचना की है। पहली बात यह है कि 'अदोषौ' एक अभावात्मक गुण है। बहुत सी उच्चकोटि की कविताओं में भी कुछ-न-कुछ दोष निकल आता है, फिर क्या वे काव्य नहीं कहलायेंगी। इसके अतिरिक्त जब काव्य कभी-कभी बिना अलङ्कारों के भी रह सकता है तो उसके उल्लेख करने की ही क्या आवश्यकता थी। परिभाषा में वही चीज आनी चाहिये जो नितान्त आवश्यक हो। गुण-दोष तो पीछे की वस्तुएं हैं, ये अङ्ग हैं अङ्गी नहीं।

विश्वनाथ—इसलिये विश्वनाथ ने रस को आत्मा मानते हुए *रसयुक्त वाक्य को काव्य कहा है—*

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

—साहित्य-दर्पण

वाक्य में अभिव्यक्ति का पक्ष आगया और रस में अनुभूति का। इस परिभाषा के विरुद्ध केवल यही आपत्ति उठाई जा सकती है कि

रस शब्द ऐसा है कि जिसकी व्याख्या अपेक्षित है किन्तु प्रायः मोटे-तौर से सभी लोग जानते हैं कि रस क्या वस्तु है। गुणों के सम्बन्ध में भी तो यही आपत्ति उठाई जा सकती है।

पण्डितराज जगन्नाथ—रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा भी इससे मिलती-जुलती है। उसने *रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य* मानकर इस परिभाषा को अधिक व्यापक बना दिया है।

"रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"

—रसगंगाधर

इसमें रस और अलङ्कार दोनों के ही चमत्कार आ जाते हैं किन्तु रमणीयता में हृदय के आनन्द की ओर अधिक संकेत है।

पाश्चात्य आचार्य—पाश्चात्य आचार्यों न जो काव्य की परिभाषा दी है वह काव्य के चार तत्वों (भावतत्व, कल्पनातत्व, बुद्धितत्व, और शैलीतत्व) पर ही आश्रित है। किसी ने एक तत्व को प्रधानता दी है तो किसी ने दूसरे को और किन्हीं-किन्हीं ने समन्वय-बुद्धि से काम लिया है। शेक्सपियर ने कल्पना को प्रधानता दी है। वर्ड्सवर्थ ने भाव को प्रधानता देते हुए कहा है कि *काव्य शान्ति के समय मे स्मरण किये हुए प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है*। कॉलरिज ने अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हुए लिखा है कि *कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है*। मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता के विषय की महत्ता देते हुए कहा है कि *कविता जीवन की आलोचना है*। डा० जॉनसन की परिभाषा समन्वयात्मक है। उनका कथन है कि *कविता सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिये कल्पना का प्रयोग किया जाता है*।

आचार्य शुक्ल जी—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सत्य की अवहेलना न करते हुए रागात्मक तत्व को मुख्यता देते हैं। उनका मत इस प्रकार है:—

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।

कविता के लिये सभी तत्व आवश्यक हैं। उसके लिये अनुभूति

और अभिव्यक्ति का प्रायः समान महत्त्व है, फिर भी अभिव्यक्ति का महत्त्व अनुभूति पर निर्भर रहता है। अनुभूति के बिना कविता निस्सार और अभिव्यक्ति के बिना वह आकर्षण-हीन हो जाती है। अनुभूति का आधार अन्तर और बाह्य जगत है। कविता श्रेय को प्रेय रूप देती है। वह केवल स्वान्तःसुखाय ही नहीं होती वरन् उसमें पाठक और आलोचक भी अपेक्षित रहते हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए कविता की परिभाषा नीचे के शब्दों में इस प्रकार दी जा सकती है:—

समन्वय और सार*

काव्य संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की श्रेय को प्रेय रूप देने वाली अभिव्यक्ति है।

काव्य के विभिन्न रूप—काव्य के विभिन्न रूपों को जानने के लिए काव्य के विभाजन को पाश्चात्य और भारतीय परम्परा जान लेना आवश्यक है।

काव्य के अनेक प्रकार के भेद किये गये हैं। इस भेद और विभाजन के कई आधार हैं। यूरोप के समीक्षकों ने व्यक्ति और संसार को पृथक करके काव्य के दो भेद किये हैं—एक विषयीगत (Subjective) जिसमें कवि को प्रधानता मिलती है और दूसरा विषयगत (Objective) जिसमें कवि के अतिरिक्त शेष सृष्टी को मुख्यता दी जाती है। पहले प्रकार के काव्य को लिरिक (Lyric) कहते हैं। यूनानी बाजा 'लाइर' (Lyre) से सम्बन्ध रखने के कारण इसका शाब्दिक अर्थ तो वैणिक होता है किन्तु इसे प्रायः प्रगीत या भावप्रधान काव्य कहते हैं। इसमें गीततत्व की प्रधानता रहती है। दूसरे प्रकार के काव्य को अनुकृत या प्रकथनात्मक (Narrative) कहा गया है। महाकाव्य और खण्ड-काव्य इसके उपविभाग हैं किन्तु पाश्चात्य देशों में प्रायः महाकाव्य (Epic) ही इस प्रकार के काव्य का प्रतिनिधित्व करता है। वहाँ खण्डकाव्य जैसा कोई विशेष उपविभाग नहीं है। ये विभाग कविता (पद्य) के ही हैं। गद्य का भी ऐसा विभाजन किया जा सकता है।

पाश्चात्य परम्परा

---

* इस विषय की विशेष जानकारी के लिये सिद्धान्त और अध्ययन (प्रथम भाग) का प्रथम अध्याय और काव्य की परिभाषा शीर्षक अध्याय पढ़िए।

गद्यकाव्य भाव-प्रधान काव्य का स्थान लेगा और उपन्यास महाकाव्य का तथा कहानी खण्डकाव्य का प्रतिनिधित्व करेगी। गद्य में निबन्ध, जीवनी आदि ऐसे अनेक रूप हैं जिनको इस विभाजन में अच्छी तरह बांध नहीं सकते हैं। गद्य, काव्य के क्षेत्र से बाहर नहीं है। गद्य का उलटा पद्य है जिसको अङ्गरेजी में (Verse) कहते हैं।

यद्यपि अपबीती और जगबीती के आधार पर विषयी-प्रधान और विषय-प्रधान कविता के ऐसे दो विभाग करने को हम मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं—(मनुष्यों में भी कुछ लोग अन्तर्मुखी प्रवृत्ति(Introvert) के और कुछ लोग बहिर्मुखी प्रवृत्ति (Extrovert) के होते हैं)—तथापि यह विभाजन सर्वथा निर्दोष नहीं। गेय तो अनुकृत काव्य भी हो सकता है (जैसे रामायण) किन्तु मुख्यता वैयक्तिक भावना की है। इस विभाजन की बीच की रेखा निर्धारित करना बड़ा कठिन है। कोई अनुकृत काव्य ऐसा नहीं जिसमें वैयक्तिक भावनाओं को प्रधानता न मिली हो। नायक के प्रति कवि के हृदय का उल्लास जो काव्य की सफलता का प्रमुख कारण होता है उसे वैयक्तिक और भाव-प्रधान बना देता है। भाव की प्रधानता तो काव्य की जान है। गीतकाव्य भी प्रायः ऐसा नहीं जिसका वाह्य संसार से सम्बन्ध न हो और जिसमें प्रकथन का थोड़ा बहुत अंश न हो क्योंकि कवि के निजी भावों के जाग्रत करने के लिये भी वाह्य संसार की घटनाएँ अपेक्षित रहती हैं। इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि यह विभाजन प्रगीत या प्रकथनात्मक तत्वों की प्रधानता पर निर्भर है। नाटक को प्रायः बीच का स्थान दिया जाता है। वह विषय-प्रधान तो होता है किन्तु उसमें महाकाव्य-का-सा कवि की ओर से प्रकथन नहीं होता। उसमें पात्र स्वयं कथोपकथन तथा अभिनय किये हुए कार्यों द्वारा कथानक को अग्रसर करते हैं। पात्रों के स्वयं बोलने के कारण उनको अपने भावों के उद्घाटन करने का अधिक अवसर रहता है। इसमें कवि प्रकट रूप से जनता के सामने नहीं आता है वरन् परमात्मा की भाँति वह अपनी सृष्टि में छिपा रहता है। उसके भक्त लोग उसके प्रकट रूप में ही दर्शन कर लेते हैं।

भारतीय परम्परा में नाटक को कुछ अधिक प्रधानता मिली है। जो काव्य अभिनीत होकर देखा जाय वह दृश्य काव्य है (इसमें नेत्र तथा श्रवण दोनों इन्द्रियों का काम रहता है) और जो कानों से सुना

जाय उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। यद्यपि श्रव्य काव्य पढ़े भी जाते थे (बाल्मीकीय रामायण के लिए कहा गया है कि वह पढ़ने और गाने दोनों में मधुर है—'पाठ्य गेयं च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्') तथापि छापे के अभाव में उनका प्रचार गायन द्वारा ही हुआ करता था। उन दिनों काव्य में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता अधिक थी। लोग एकान्त में बैठकर उसका उपयोग नहीं करते थे वरन् समाज में बैठकर उसका रसास्वाद करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे।

भारतीय परम्परा

दृश्य काव्य—श्रव्य काव्य तो अधिकांश में पठित समाज के ही लिए था किन्तु दृश्य काव्य में जनसाधारण भी आनन्द ले सकते थे। इसीलिए उसे पाँचवाँ वेद कहा है जिसमें शूद्र अर्थात् अल्प बुद्धि के लोग भी भाग ले सकें :—

> 'न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिपु।
> तस्मात् सृजापरंवेदं पञ्चमं सर्ववर्णिकम्॥'
>
> —नाट्यशास्त्र

काव्य के और भी भेद हैं, वे प्रायः श्रव्य काव्य के अन्तर्गत आते हैं। दृश्य काव्य को रूपक या नाटक भी कहते हैं और इनके भी कई उपभेद हैं।

गद्य और पद्य—आकार के आधार पर श्रव्य के गद्य, पद्य और मिश्रित (जिसका चम्पू एक भेद है) तीन विभाग किये गये हैं। गद्य की अपेक्षा पद्य में संगीत और आकार-सम्बन्धी भेद में अभेद की मात्रा अधिक रहती है। पद्य में आजकल नियम और नाप-तोल का उतना मान नहीं रहा जितना श्रवण-सुखदता का। छन्द लय के ढांचे मात्र हैं, वे सर्व-सुलभ हैं। निराला, पन्त जैसे कुशल कवि छन्द के बिना भी लय की साधना करते हैं। यह भेद नितान्त आकार का ही नहीं वरन् भाव का भी है। पद्य में गद्य की अपेक्षा भाव का प्राधान्य रहता है। गद्य का सम्बन्ध गद् धातु से है, वह बोलचाल की स्वाभाविक भाषा है। पद्य का सम्बन्ध पद से है, इसलिये उसमें नृत्त-की-सी गति रहती है। वह भाव की गति और शक्ति के साथ बहती है।

बंध की दृष्टि से काव्य के दो भेद किये गये हैं। प्रबन्धकाव्य में तारतम्य रहता है, मुक्तककाव्य इससे मुक्त होता है। उसका प्रत्येक छन्द स्वतःपूर्ण होता है। प्रबन्ध के भी दो भेद किये गये हैं—

महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य में आकार की विशालता के साथ भावों की उदात्तता और विशालता रहती है। उसमें जीवन की अनेकरूपता और शाखाबाहुल्य के साथ जातीय जीवन की झलक रहती है। वाल्मीकीय रामायण, रघुवंश, कामायनी आदि इसके उदाहरण हैं। खण्डकाव्य में एक ही घटना को मुख्यता दी जाकर उसमें जीवन के किसी एक पहलू की झांकी-सी मिल जाती है। कालिदास का मेघदूत, गुप्तजी के अनघ और जयद्रथ-वध, रामनरेश त्रिपाठीजी के स्वप्न और मिलन आदि इसी कोटि के हैं।

श्रव्य काव्य के प्रमुख भेद

स्फुट कविताएँ मुक्तक में आती हैं। मुक्तकों में कुछ तो पाठ्य होते हैं और कुछ विशेष रूप से गेय। गेय को ही प्रगीत काव्य कहते हैं। बिहारी के दोहे, निरालाजी की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता पाठ्य कही जायगी। सूर के पद, महादेवी, पंत, प्रसाद, निराला के गीत प्रगीत काव्य कहे जायंगे।

यद्यपि प्रबन्ध और मुक्तक का विभाग प्रधानतया पद्य का है तथापि गद्य में भी यह विभाग लागू हो सकते हैं। उपन्यास महाकाव्य का स्थानापन्न होकर और कहानी खण्डकाव्य के रूप में गद्य के प्रबन्ध-काव्य कहे जा सकते हैं। गद्यकाव्य तो मुक्तक है ही, पत्र भी मुक्तक की कोटि में आयेंगे। उनकी निबन्ध और जीवनी के बीच-की-सी स्थिति है। समस्त संग्रह की दृष्टि से एक-एक निबन्ध मुक्तक कहा जा सकता है किन्तु निबन्ध के भीतर एक विशेष बन्ध रहता है (यद्यपि उनमें निजीपन और स्वच्छन्दता भी रहती है)। वैयक्तिक तत्व की दृष्टि से गद्य के विभागों को हम इस प्रकार श्रेणीबद्ध कर सकते हैं—उपन्यास, कहानी (काव्य के इस रूप में उपन्यास की अपेक्षा काव्यत्व और निजी दृष्टिकोण अधिक रहता है), जीवनी (यह इतिहास और उपन्यास के बीच की चीज है, इसका नायक वास्तविक होने के कारण अधिक व्यक्तित्वपूर्ण होता है), निबन्ध (इसमें विषय की वस्तुगतता (objectivity) के साथ वर्णन की वैयक्तिकता रहती है), पत्र (इनमें दृष्टिकोण नितान्त निजी होता है, ये व्यक्ति के होते हैं और व्यक्ति के लिए ही लिखे जाते हैं, इनको पढ़े चाहे कोई), गद्य-काव्य (इसमें विषय की अपेक्षा भावना का आधिक्य रहता है)। गद्य-काव्य तो ये सभी रूप हैं किन्तु गद्य-काव्य के नाम की विधा विशेष रूप से गद्य-काव्य है।

नीचे के चक्र से उपर्युक्त विभाजन स्पष्ट हो जायगा —
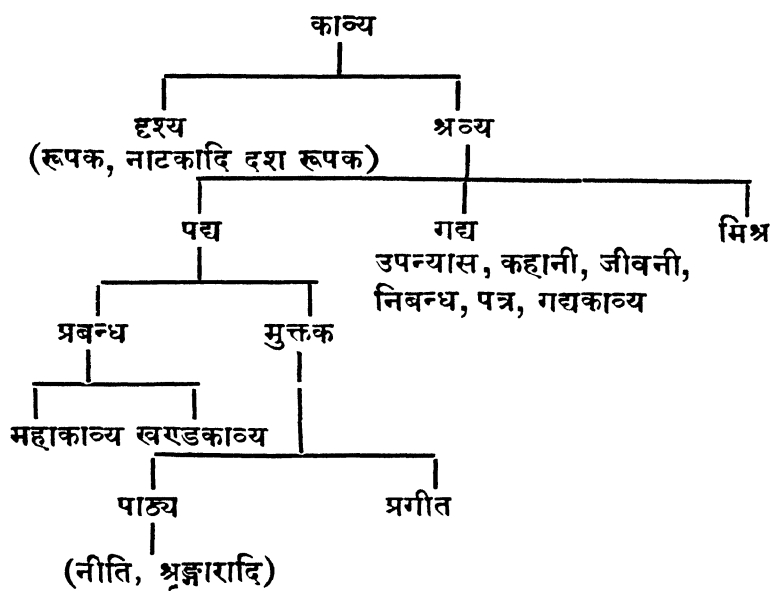
दृश्य काव्य-विवेचन

महत्त्व

इन्द्रियों को प्रभावित करने के आधार पर काव्य के दो विभाग किये गये हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य में केवल श्रवण-पथ से जाने वाले शब्दों द्वारा ही नहीं वरन् नेत्र-पथ से मन तक पहुँचने वाले दृश्यों द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रस का सञ्चार किया जाता है। श्रव्य काव्य उन दिनों का शब्द है जब कि छापे के अभाव में जन-समुदाय के समक्ष काव्य-ग्रन्थ सुनाये जाते थे। वाल्मीकीय रामायण पहले-पहल सुनाई ही गई थी, वैसे उसके लिए पाठ्य शब्द का भी प्रयोग हुआ है किन्तु श्री रामचन्द्रजी के दरबार में लव और कुश द्वारा वह गाई ही गई थी।

श्रव्य काव्य में शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किये जाते हैं। दृश्य काव्य में कल्पना पर इतना बल नहीं देना पड़ता, उसमें हमको यही प्रतीत होता है कि हम वास्तविकता को देख रहे हैं। अमूर्त्त से मूर्त्त का प्रभाव होता है। नाटककार की भाषा में जो कमी रहती है वह नटों या अभिनेताओं की भाव-भङ्गी से पूरी हो जाती है।

इसलिए नाटक की प्रभावोत्पादक शक्ति बढ़ी-चढ़ी रहती है। यदि हम अखबार में पढ़ते हैं कि कहीं पर रेलगाड़ी लड़ गई अथवा नगर में किसी नेता का जुलूस निकला तो उससे हमारे भावों की इतनी जागृति नहीं होती जितनी कि प्रत्यक्ष देखने से होती है। थोड़े पढ़े अथवा कम समझ वाले लोगों के लिए मूर्त्त और प्रत्यक्ष जितना बुद्धिगम्य होता है उतना अमूर्त्त नहीं। इसलिए नाटक जनता की वस्तु है। इसको पञ्चम वेद भी कहा है क्योंकि इसमें शूद्रों तक का भी अधिकार माना गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह निम्नकोटि के लोगों की चीज है। इससे केवल यह मतलब है कि इसमें लोकहित और लोकरञ्जन की क्षमता विपुल रूप से वर्तमान रहती है। नाटक में साधारण काव्य की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। इसका आस्वादन एकान्त में नहीं हो सकता।

शास्त्रों और कलाओं की दृष्टि से भी नाटक का महत्त्व अधिक है।

इसमें सभी कलाओं का समावेश हो जाता है—स्थापत्य (इमारत बनाने की कला), चित्रकला, संगीत, नृत्य, काव्य, इतिहास, समाज-शास्त्र, वेश-भूषा की सजावट, कपड़ों का रँगना आदि सभी शास्त्रों और कलाओं का आश्रय लिया जाता है। दर्शकों के सामूहिक सहयोग के कारण उसमें जातीय जीवन की एक छटा दिखाई देने लगती है। इसके सम्बन्ध में नाट्य कला के आदि आचार्य भरतमुनि ने ठीक ही कहा है—योग, कर्म, सारे शास्त्र, सारे शिल्प और विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न पाया जाय। ❀ इसमें इन सब कलाओं का योग तो है ही किन्तु यह विशेषता है कि इसमें वास्तविकता का अनुकरण जीते-जागते साधनों द्वारा किया जाता है। इसमें घटनाओं का वर्णन नहीं रहता वरन् वे घटित होती दिखाई जाती हैं, उनका उद्घाटन काव्य की भावुकता और रंग-विरंगे दृश्य-विधान में चलते-फिरते पात्रों की क्रियाशील सजीवता के साथ होता है। तभी तो कहा गया है कि—'काव्येषु नाटकं रम्यम्'।

नाटक को शास्त्रीय परिभाषा में रूपक कहते हैं। रूप के आरोप के कारण उसे रूपक नाम दिया जाता है—'तद्रूपारोपात्तु रूपकं'। नट पर दुष्यन्त या राम का आरोप करने से रूपक बनता है। रूपक अलङ्कार भी रूपक इसलिए कहलाता है कि उसमें उपमेय के ऊपर उपमान का आरोप होता है। चरणकमल में चरण के ऊपर कमल का आरोप किया जाता है।

दृश्य काव्य में अभिनय की प्रधानता रहती है। अभिनय को ही नाटक कहते हैं। नाट्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'—अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं। यह अनुकरण आङ्गिक, वाचिक, आहार्य (वेश-भूषा का) और सात्विक चार प्रकार का होता है (इनकी व्याख्या आगे की गई है)। यह अवस्था शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार की होती है। मानसिक अवस्था का सीधा तो अनुकरण नहीं होता है किन्तु अनुभावों और सात्विक भावों द्वारा मानसिक भावों का द्योतन हो जाता है।

नाट्य, नृत्त और नृत्य से आगे की वस्तु है। नृत्त में ताल-लय-

❀ न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्वं शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विवधानि च॥

आश्रित पद-सञ्चालनादि क्रियाएँ रहती हैं—'नृत्तं तालजयाश्रयम्'। नृत्य में भाव-प्रदर्शन भी रहता है—'भावाश्रयं नृत्यम्'। नृत्य और नाट्य में यह भेद किया गया है कि नृत्य केवल भावाश्रित है, नाट्य रसाश्रित है। नाट्य में चारों प्रकार के अभिनय होने के कारण उसके द्वारा सामाजिकों में रस का सञ्चार हो जाता है। इस अभिनय की प्रधानता के कारण दृश्य काव्य श्रव्य से भिन्न हो जाता है। नाटक रूपक का एक प्रकार ही नहीं वरन् वह जातिवाचक शब्द बन गया है। उसका व्युत्पत्ति का अर्थ भी वही है जो रूपक का है। नट अर्थात् अभिनेता से सम्बन्ध रखने के कारण नाटक नाटक कहलाता है।

नाटक की मूलभूत मानसिक प्रवृत्तियाँ

विकासवाद एक सिद्धान्त है कि जाति के इतिहास की व्यक्ति के जीवन में पुनरावृत्ति होती है। यदि हम यह जानना चाहें कि किसी संस्था का प्रारम्भ कैसे हुआ तो हमको बच्चों के जीवन में उसके बीज और अंकुरों को देखना चाहिए। बच्चों के जीवन में मानव-सभ्यता का इतिहास सजीव अक्षरों में अंकित रहता है। मनुष्य की स्वाभाविक अनुकरणशीलता का पता हमको बालकों के खेल में मिलता है।

बच्चा अपनी कल्पना के बल लकड़ी के डंडे को घोड़े का आकार देकर उसको सरपट चाल चलाता है। कहीं वह स्वयं ही इंजन बनकर भक्-भक् करता हुआ अपने पीछे समवयस्क बच्चों की रेल को भगाता फिरता है। मूँछों के रेखामात्र चिह्न न होते हुए भी बालक के अनुकरण में स्याही की मूँछ बना लेता है। बालिकाएँ घरूआ-पतुआ बनाकर उसमें गुड़ियों-गुड्डों का विवाह कराकर अपने भावी गार्हस्थ्य जीवन का पेशगी आनन्द अनुभव कर लेती हैं। यही नाटक की मूल प्रवृत्ति है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि यह अनुकरण की प्रवृत्ति किसलिए, इसका आधार क्या है? मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति इसलिए मालूम पड़ती है कि वह अपनी आत्मा का विस्तार देखना चाहता है। आत्मा सदा विस्तारोन्मुखी रहती है। आत्मा के विस्तार से मनुष्य को सुख और संकोच से दुःख होता है। बालक बड़ों का अनुकरण इसीलिए करता है कि उसकी अवस्था की संकुचित सीमाएँ अखरती

हैं। वह बड़ों के साथ तादात्म्य प्राप्त करना चाहता है। वह मूँछें लगाकर पिताजी होने का गौरव प्राप्त कर लेता है। किसी मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं है, वह दूसरों के जीवन से पूर्णता प्राप्त करना चाहता है। नाटक में इस प्रकार की पूर्णता अभिनेता और दर्शक दोनों को ही मिलती है। मजदूर राजाओं के जीवन से परिचित हो जाता है और राजा मजदूरों के जीवन से जानकारी प्राप्त कर लेता है। साधारण-से-साधारण नट मञ्च पर राजकीय ठाट-बाट और अदार-सत्कार का अनुभव कर सकता है। अभिनेता अपने इष्टदेव का अभिनय कर उनसे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। मानव-सभ्यता का तारतम्य पूरा हो जाता है। इसमें मानव-जाति की रक्षा का भी भाव लगा रहता है। हम नाटक के भिन्न-भिन्न श्रेणी और अवस्था के लोगों का अनुकरण कर एक प्रकार से वही आनन्द पा लेते हैं जो इतिहास के अध्ययन में आता है अथवा अपनी तस्वीर देखने में प्राप्त होता है।

दूसरों के अनुकरण में हमारी एक प्रकार की आत्माभिव्यक्ति भी हो जाती है। मनुष्य को सभी अवस्थाएँ सभी समय प्राप्त नहीं होती हैं। पात्रों को अनुकरण में और दर्शकों को नाटक देखने में अपने भावों को प्रकाशित करने का अवसर मिल जाता है। इस प्रकार नाटक के मूल में चार मनोवृत्तियाँ काम करती हैं:—

(१) अनुकरण।
(२) पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार
(३) जाति की रक्षा
(४) आत्माभिव्यक्ति

इनमें अनुकरण की वृत्ति मुख्य है। अरस्तू ने कला को अनुकरण कहा है। कला का यह लक्षण नाटक के सम्बन्ध में पूर्ण रूपेण चरितार्थ होता है। दशरूपक में नाट्य को भावों की अनुकृति कहा है :— 'भावानुकृतिर्नाट्यम्'।

नाटक के तत्व

नाटक एक प्रकार का काव्य है किन्तु उसकी कुछ विशेषताएं भी हैं। उन्हीं विशेषताओं के अनुकूल उसके तत्व होंगे। नाटक की विशेषताएं इस प्रकार हैं :—

(१) उसमें कथानक होता है किन्तु उस कथानक में पात्रों के व्यक्तित्व को विशेषता रहती है।

(२) यह कथानक कवि द्वारा कहा नहीं जाता वरन अभिनेताओं के कथोपकथन, भाव-भङ्गी और क्रियाकलापों द्वारा रङ्गमञ्च पर घटित होता हुआ दिखाया जाता है।

(३) यह कार्य किसी उद्देश्य से किया जाता है, चाहे वह सामाजिकों में रस-संचार करना हो, चाहे सामाजिक समस्याओं को उपस्थित करना हो और चाहे दोनों।

इस प्रकार नाटक के लिए वस्तु (कथावस्तु या प्लॉट), पात्र, उनका चरित्र-चित्रण, अभिनय और उद्देश्य आवश्यक हैं। वस्तु, नायक (पात्र, और रसों के आधार पर नाटकों या रूपकों के भेद बतलाये गये हैं।[1] इसमें अभिनय इस कारण नहीं दिया गया कि यह तो सब में सम्मिलित रूप से वर्तमान रहता है। नाट्य-शास्त्र में अभिनय चार प्रकार का माना गया है—आङ्गिक या कायिक, वाचिक, आहार्य (वेश-भूषा) और सात्विक। कथोपकथन वाचिक अभिनय में आ जाता है। रङ्गमञ्च का प्रश्न भी अभिनय से सम्बन्धित है। इसी प्रकार हिन्दू नाट्य-शास्त्र के अनुकूल चार तत्व रहते हैं—वस्तु, नेता या पात्र, रस और अभिनय। वृत्ति को भी पाँचवाँ तत्व कह सकते हैं। वृत्तियां एक प्रकार से क्रिया-प्रधान शैलियां होती हैं और अभिनय के ही अन्तर्गत आ जाती हैं। यूरोप की समीक्षा-पद्धति के अनुकूल जो तत्व गिनाये जाते हैं उनका इन तत्वों के साथ समन्वय हो सकता है। वे सब अङ्ग इन अङ्गों में समाविष्ट हो जाते हैं। योरोपीय समीक्षकों के अनुसार जो उद्देश्य-तत्व है वह भारतीय नाटकों में रस-सञ्चार का रूप ले लेता है।

नाटक और उपन्यास

यद्यपि नाटक और उपन्यास दोनों ही व्यक्ति के चरित्र का उद्घाटन करते हैं, तथापि इनके दृष्टिकोण में भेद है। उपन्यास कथानक है जो प्रायः भूत का विषय होता है। नाटक में घटनाएँ, चाहे वे भूत की ही क्यों न हो, वर्तमान में आंखों के सामने घटती हुई दिखाई जाती हैं। उपन्यासकार के पास केवल शब्द ही होते हैं।

---

१ वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।

नाटक में शब्दों की पूर्ति और पुष्टि अभिनय से भी होती है।

उपन्यास मे भी कथावस्तु और पात्र होते हैं किन्तु नाटक की रूप-रचना में जो भेद होता है उसी के कारण इन तत्वों में भी भेद हो जाता है। उपन्यास कमरे में ले जाकर आराम के साथ सप्ताह-दो-सप्ताह में समाप्त किया जा सकता है। नाटक के लिए नाट्य-शाला में बैठना पड़ता है परन्तु ऐसा तीन-चार घण्टे से अधिक नहीं हो सकता। इसके पात्रों के बारे में नाटककार कुछ नहीं कहता है। उनके चरित्र का उनके क्रियाकलाप और वार्तालाप से उद्घाटन होता है। उस वार्तालाप में वे चाहे स्वयं अपने बारे में किसी पात्र से कहें या वे स्वगत कथन में अपने आन्तरिक भावों का परिचय दें या कोई दूसरा पात्र उनके चरित्र पर प्रकाश डाले। स्वयं पात्रों के कार्य भी उनके चरित्र के अनुमापक हो सकते हैं, जहाँ उपन्यासकार चरित्र-चित्रण के विश्लेषात्मक (अर्थात् चरित्र का स्वयं विश्लेपण कर) और नाटकीय (अर्थात् पात्रों के कथोपकथन और क्रियाकलाप द्वारा) दोनों ही ढंगों को काम में ला सकता है वहाँ नाटककार प्रत्यक्ष या नाटकीय ढंग को ही काम में लाता है। वह परोक्ष या विश्लेपात्मक का सहारा नहीं ले सकता है। नाटककार के कथोपकथन में भी कुछ अन्तर आ जाता है। उसमें कथोपकथन की भावभङ्गी द्वारा पूर्ति होती रहती है। यदि इस कारण उसके भाषण कुछ अपूर्ण या संक्षिप्त हों तो भी अन्तर नहीं पड़ता। उपन्यासकार की भांति नाटककार कुल बातों की व्याख्या करने नहीं आता। इसलिए कथोपकथन कहीं लम्बे भी हो सकते हैं। नाटक के तत्वों का नाटक की आवश्यकताओं के अनुकूल अध्ययन करना होगा। नाटक के दृष्टिकोण को अपने सामने रखते हुए इन तत्वों का विवेचन उचित होगा।

वस्तु

नाटक के कथानक को वस्तु कहते हैं। इसको अंग्रेज़ी में प्लॉट (Plot) कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—एक आधकारिक अर्थात् मुख्य, दूसरी प्रासंगिक अर्थात् प्रसंगवश आई हुई या गौण। आधिकारिक उसे कहते हैं जिसमें प्रधान पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली कथा का मुख्य विषय हो। फल के स्वामी को अधिकारी कहते हैं। आधिकारिक कथा का सूत्र प्रारम्भ से फल-प्राप्ति तक रहता है।

प्रासंगिक वस्तु का सम्बन्ध नायक और नायिका से न रहकर अन्य पात्रों से रहता है। वह कथा-भाग मूल कथा की गति को बढ़ाने के लिए होता है।

प्रासंगिक कथावस्तु में फल-सिद्धि नायक के अतिरिक्त किसी और को होती है। यह फल-सिद्धि नायक की अभीष्ट फल-सिद्धि से भिन्न होती है किन्तु उससे नायक का हितसाधन अवश्य होता है। रामायण में राम की कथा तो आधिकारिक कथा है, सुग्रीव की कथा प्रासंगिक है। सुग्रीव की बालि से रक्षा हुई किन्तु उसके कारण राम की कथा को गति मिली। हनुमानजी सीताजी की खोज को भेजे गये और बानरों की सेना तैयार हुई। प्रासंगिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है—एक पताका और दूसरी प्रकरी। जब प्रासंगिक कथा का प्रसंग आधिकारिक कथा के साथ अन्त तक चलता रहे तो वह 'पताका' कहलाती है—जैसे सुग्रीव की कथा। जब यह कथा-प्रसंग बीच में ही रुक जाय तो उसे 'प्रकरी' कहते हैं—जैसे शकुन्तला नाटक के छठे अंक में कंचुकी और दासियों का वार्तालाप।

कथावस्तु के आधार के सम्बन्ध से उसके तीन भेद किये गये हैं❀ (१) जिसका आधार इतिहास, पुराण या परम्परागत जनश्रुति होती है, उसको प्रख्यात कहते हैं। (२) जिसको कवि या नाटककार अपनी कल्पना से गढ़ता है, उसको उत्पाद्य कहते हैं क्योंकि वह उत्पन्न की हुई होती है। आजकल के सामाजिक नाटक प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। (३) जिसमें इतिहास और कल्पना दोनों का मिश्रण हो, उसे मिश्र कहते हैं। इनमें कल्पना के लिए कवि को काफी गुंजाइश रहती है, लेकिन वह एक निर्दिष्ट सीमा के बाहर नहीं जा सकता। इतिहास की मूल बातों में हेर-फेर करना इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग होगा। मूल बात को सरस या जोरदार बनाने के लिए प्रासंगिक बातों में थोड़ा-बहुत फेर-फार अवश्य किया जा सकता है। नाटककार तुलसीदास को औरंगजेब का समकालीन नहीं बना सकता है और न वह उनको रामोपासक के स्थान में कृष्णोपासक कह सकता है, ऐसा

❀ प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्॥
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः।

कहने से पाठकों के हृदय को आघात पहुंचेगा।

जहां नाटककार देखे कि उसके भाव की सत्यता में अन्तर पड़ता है, वहां भाव को ठीक करने के लिए अथवा अपने नायक को दोष से मुक्त करने के अर्थ वह थोड़ी कल्पना से काम ले सकता है। महाभारत में जो दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा है, उसमें दुष्यन्त ने लोकापवाद के भय से शकुन्तला को स्वीकार नहीं किया है। यह बात नायक को हमारी निगाह में नीचे गिरा देगी। नायकों को धीर और उदार वृत्ति वाला होना चाहिए। वैसे भी लोकापवाद-भय से अपनी प्रियतमा को स्वीकार न करना प्रेम के आदर्श के विरुद्ध है। कविकुलगुरु कालिदास ने इसी वैषम्य को देखकर अँगूठी और शाप की कल्पना की। इसके कारण दुष्यन्त दोष से मुक्त हो जाता है।

अवस्थाएं

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कथावस्तु के भाग या अङ्ग बतलाये गये हैं। नाटकों में कार्य के व्यापार की दृष्टि से पांच अवस्थाएँ मानी गई हैं। ये एक प्रकार की श्रेणियां हैं। ये अवस्थाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) प्रारम्भ—यह कथानक का प्रारम्भ है। इसमें किसी फल के लिए इच्छा होती है—जैसे शकुन्तला नाटक में शकुन्तला को देखने की इच्छा। (२) यत्न—जो इच्छा होती है उसकी पूर्त्ति का यत्न किया जाता है। दुष्यन्त का माढव्य से उसके बारे में सलाह करना यह सब प्रयत्न है। (३) प्राप्त्याशा—प्राप्ति की सम्भावना। इसमें विघ्नों का निवारण होकर फलप्राप्ति की आशा दिखाई जाती है। शकुन्तला की प्राप्ति में दुर्वासा ऋषि का शाप विघ्न बन जाता है। चौथे अङ्क के विष्कम्भक में उनके कोप के किञ्चित् शमन हो जाने से प्राप्त्याशा शुरू हो जाती है, लेकिन वह आशा मात्र रहती है। उसमें शाप से मुक्त होने के रास्ते का दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। (४) नियताप्ति—इस चौथी श्रेणी में प्राप्ति की सम्भावना मात्र न रहकर निश्चितता आ जाती है। अंगूठी के मिल जाने से मिलन की आशा निश्चित-सी हो जाती है। (५) फलागम—फल की प्राप्ति। हमारे यहां के नाटक सुखान्त ही होते थे। इसलिए उनमें फल की प्राप्ति हो ही जाती थी। सातवें अङ्क में शकुन्तला और दुष्यन्त का मिलन हो जाता है।

योरोपीय समीक्षा-शास्त्र में भी इसी प्रकार की पाँच अवस्थाएँ

मानी गई हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) व्याख्या (Exposition)। (२) प्रारम्भिक संघर्षमय घटना (Incident)—संघर्ष आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार का हो सकता है। (३) कार्य का चरम सीमा की ओर बढ़ना (Rising Action)—द्वन्द्व, संघर्ष या समस्या स्पष्टता को पहुंच जाती है। (४) चरम सीमा (Crisis)—जहाँ पर संघर्ष अन्तिम सीमा को पहुंच जाता है, वहीं क्राइसिस आ जाता है। संघर्ष हमेशा नहीं चल सकता है। क्राइसिस पर उसका फल इधर या उधर होने लगता है। (५) संघर्ष में दो दल होते हैं। उनमें एक पक्ष का ह्रास होने लगता है और दूसरे पक्ष की विजय की सम्भावना हो जाती है। इसको कार्य की ओर झुकाव या डन्यूमाँ (Denoument) कहते हैं और (६) अन्तिम अवस्था में जब कार्य हो जाता है, इसको केटेस्ट्रोफी (Catastrophe) कहते हैं; यही फल होता है। यह अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। साधारण भाषा में (Catastrophe) बुरे फल को ही कहते हैं। मूल अर्थ में इसका अर्थ अन्तिम फल है। नाटक के उतार-चढ़ाव का इस प्रकार सांकेतिक निरूपण किया जा सकता है।
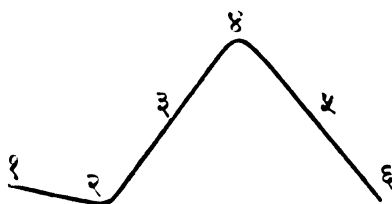
अपने यहाँ के नाटक में संघर्ष होता अवश्य था किन्तु उसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। योरोपीय नाटक-रचना में संघर्ष की मुख्यता रहती है। वहाँ संघर्ष, चाहे वह आन्तरिक हो चाहे वाह्य, नाटक की जान माना जाता है। हमारे यहाँ वह फल-सिद्धि में एक बाधा के रूप में स्वीकार किया जाता है। संस्कृत-नाटकों की कथा-वस्तु में संघर्ष अनुमेय रहता है, स्पष्ट नहीं होता। हमारे यहाँ फल भी निश्चित-सा ही रहता था, वह था नेता की अभीष्ट-सिद्धि। नाट्यशास्त्र में मानी हुई अवस्थाओं की इनसे पूरी समानता तो नहीं हो सकती है किन्तु वे इनसे मिलती-जुलती हैं। आरम्भ नाम की अवस्था पहली अवस्था से मिलेगी, प्रयत्न दूसरी से, प्राप्त्याशा में तीसरी और चौथी

की कुछ झलक आ जायगी, नियताप्ति पाँचवीं से मिलेगी और फलागम छठी से। हमारे यहाँ की अवस्थाओं का इस प्रकार सांकेतिक निरूपण किया जा सकता है :—
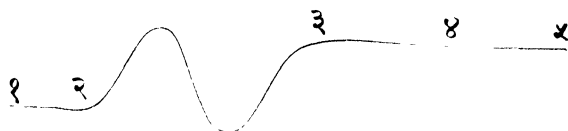
(१) एक से प्रारम्भ होता है। (२) दूसरी में प्रयत्न शुरू होता है। वह कार्य को आगे बढ़ाता है। फिर कोई बाधा आ जाती है, गिरी हुई लकीर बाधा की द्योतक है। (३) प्राप्त्याशा में बाधा मिटने की आशा हो जाती है। (४) नियताप्ति में इसका निश्चय हो जाता है। (५) फलागम में फल की प्राप्ति हो जाती है।

इसका अभिप्राय कथावस्तु के उन चमत्कारपूर्ण अङ्गों से है जो कथावस्तु को कार्य की ओर ले जाते हैं। अर्थप्रकृतियों को दशरूपक के टीकाकार धनिक ने 'प्रयोजनसिद्धिहेतवः' कहा है। ये

अर्थप्रकृतियां

भी पाँच हैं—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य। इनमें बीज तो प्रारम्भ नाम की अवस्था से मिलता है। जिस प्रकार बीज में फल छिपा रहता है, उसी प्रकार बीज में नाटक के फल की सम्भावना रहती है। बिन्दु में तेल की बूंद का रूपक है। यह पानी के ऊपर फैलकर विस्तार का द्योतक बन जाता है। पताका और प्रकरी में छोटी अवान्तर कथाएं होती हैं, जो मूल कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं और कार्य अन्तिम फल को कहते हैं। कार्य और फलागम तो मिल जाते हैं किन्तु प्राप्त्याशा और नियताप्ति, पताका और प्रकरी से मेल नहीं खातीं। प्रकरी द्वारा प्राप्ति की आशा हो जाने के आधार पर ('शकुन्तला' में दुर्वासा के प्रसन्न होने पर) शायद प्रकरी और प्राप्त्याशा का तादात्म्य किया गया है।

संधि कहते हैं मेल या जोड़ को। इसमें अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों का मेल कराया जाता है। ये सन्धियाँ

संधियाँ

एक-एक अवस्था की समाप्ति तक चलती हैं और उनके अनुकूल अर्थप्रकृतियों से योग कराती हैं। ये संख्या में पाँच हैं—(१) मुख (२) प्रतिमुख (३) गर्भ

(४) विमर्श या अवमर्श तथा (५) निर्वहण अथवा उपसंहार। प्रारम्भ नाम की अवस्था के साथ योग होने से जहाँ अनेक रसों और अर्थों के द्योतक बीज की उत्पत्ति होती है, वहाँ मुख-सन्धि होती है। प्रतिमुख में बीज कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप से विकसित होता हुआ दिखाई देता है, उपाय के दब जाने और उसकी खोज के कारण विस्तार और भी अधिक दिखाई पड़ता है, यह गर्भ-सन्धि इसलिए कहलाती है कि इसके भीतर फल छिपा रहता है। इसमें प्राप्त्याशा और पताका का योग रहता है। अवमर्श में नियताप्ति और प्रकरी का योग रहता है और नई बाधा उपस्थित होती है। गर्भ और अवमर्श सन्धियों में पताका और प्रकरी की प्राप्त्याशा और नियताप्ति से योग आवश्यक नहीं है। निर्वहण-सन्धि में कार्य, फलागम का योग होकर नाटक पूर्णता को प्राप्त होता है।

अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं में यही अन्तर है कि अर्थप्रकृतियाँ कार्य की सिद्धि के हेतुओं अर्थात् उपायों वा साधनों से सम्बन्ध रखती है (अर्थप्रकृतयः कार्यसिद्धिहेतवः—सा० द०)। अवस्थाएँ उस सिद्धि की ओर अग्रसर होने की श्रेणियाँ हैं। सन्धियाँ अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं के मेल से बने हुए कथानक के चमत्कारिक अंशों को कहते हैं। दशरूपक ने सन्धि का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

'अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंच संधयः॥'

अर्थात् जहाँ पाँच अर्थप्रकृतियाँ यथाक्रम रूप से समन्वित हों वहाँ क्रमशः मुखादि पाँच सन्धियाँ उत्पन्न होती हैं। साहित्यदर्पण-कार ने भी प्रायः यही परिभाषा दी है, उसमें 'इतिवृत्तस्य भागाः' और जोड़ दिया है अर्थात वे कथानक के भाग हैं। तीनों में दृष्टिकोण का भेद है—अर्थप्रकृतियाँ कार्यसिद्धि के साधनों से, अवस्थाएँ कार्य-सिद्धि की श्रेणियों से और सन्धियाँ कथानक के भाग से सम्बन्ध रखती हैं।

सन्धियों का सांकेतिक निरूपण नीचे दिया जाता है :—
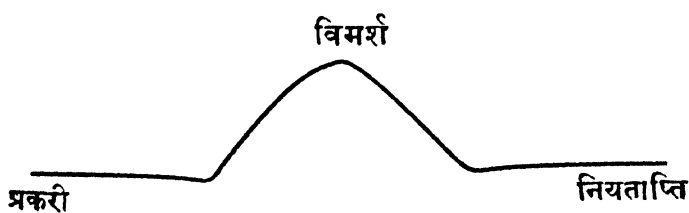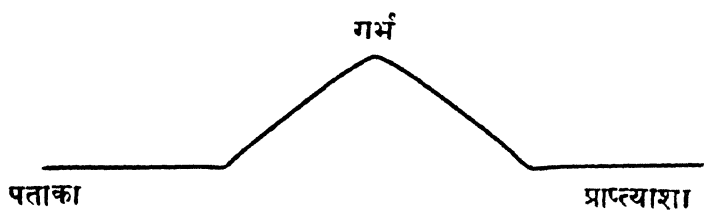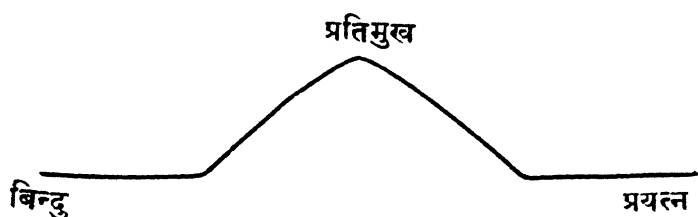
रत्नावली में मुख-संधि नाटक के आरम्भ से लेकर दूसरे अङ्क के उस स्थान तक जहां सागरिका (रत्नावली) राजा का चित्र बनाती है, चलती है। प्रतिमुख-संधि सागरिका के चित्र तैयार करने से आरम्भ होकर दूसरे अङ्क के उस अंश तक चलती है जहां महारानी वासवदत्ता महाराजा उदयन को सागरिका का बनाया हुआ चित्र देखते हुए पकड़ लेती है और अपना रोष प्रकट करती है। गर्भ-संधि रत्नावली में तीसरे अङ्क में आती है जहां सागरिका, वासवदत्ता का वेष धारण कर आत्म-हत्या का उद्योग करती देखी जाती है। राजा और विदूषक उसे इस कार्य से विरत कर देते हैं। राजा को यह जानकर प्रसन्नता होती है कि यह रानी नहीं है, सागरिका है। उससे हृदय खोलकर बात करते हैं फिर रानी आजाती है और क्रोध प्रकट करती है। इस प्रकार राजा का रानी और सागरिका से बार-बार मिलन और विच्छेद होता है। अवमर्श या विमर्श-संधि रत्नावली के चौथे अङ्क में उस स्थान तक चलती है जबकि अग्नि के कारण गड़बड़ मचती है। निर्वहण-संधि अवमर्श-संधि के अन्त से चौथे अङ्क तक चलती है।

अर्थोपेक्षक

कथावस्तु में दो प्रकार की सामग्री रहती है। एक वह जो प्रधान रूप से मंच पर घटित होती हुई दिखाई जाती है, इसको दृश्य-श्रव्य कहते हैं। दूसरी वह जिसको घटती हुई न दिखलाकर उसकी पात्रों द्वारा सूचना दिलादी जाती है जिससे कि कथानक की पूर्ति हो सके, इसको सूच्य कहते हैं। कुछ दृश्य तो मञ्च पर वर्जित रहते हैं—जैसे मृत्यु, राष्ट्रविप्लव, स्नान, भोजन आदि। इन चीजों का मञ्च पर दिखलाना रस में बाधा डालता है, इसलिए ऐसे दृश्यों को विरोधक कहते हैं। कुछ दृश्य ऐसे होते हैं जो अभिनय के योग्य नहीं होते अथवा गौण होते हैं किन्तु कथा का सूत्र मिलाए रखने के लिए इनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। जो सामग्री प्रधान रूप से मञ्च पर दिखाई जाती है, वह अङ्कों और दृश्यों में बँट जाती है। अङ्क समाप्त होने पर सब पात्र बाहर निकल जाते हैं।

सूच्य वस्तु की सूचना देने के जो साधन हैं, उनको अर्थोपेक्षक कहते हैं। ये पाँच होते हैं —

(क) विष्कम्भक—यह वह दृश्य है जिसमें पहले हो जाने वाली या बाद में होने वाली घटना की सूचना दी जाती है। यह केवल दो पात्रों का ही कथोपकथन होता है। ये पात्र प्रधान पात्रों में से नहीं

होते। यह अङ्क के पहले अर्थात् नाटक के प्रारम्भ में अथवा दो अङ्कों के बीच में आ सकता है। यह दो प्रकार का होता है, एक शुद्ध और दूसरा संकर। जिसमें पात्र उत्तम श्रेणी के होते हैं और संस्कृत बोलते हैं वह शुद्ध कहलाता है और जिसमें पात्र मध्यम और नीच श्रेणी के होते हैं और संस्कृत के साथ प्राकृत भी बोलते हैं वह संकर कहलाता है। अब ये भेद कुछ निरर्थक से हो गये हैं क्योंकि आजकल ऊँच-नीच का कोई अन्तर नहीं रहा है और न प्राकृत और संस्कृत बोलने वाले पात्र ही रहे हैं। इन सब का ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है।

(ख) चूलिका—जिस कथा-भाग की पर्दे के पीछे से (जिसको संस्कृत नाटककार 'नेपथ्य में' ऐसा संकेत कर लिखा करते थे) सूचना दी जाती है उसे चूलिका कहते हैं—जैसे महावीरचरित में चौथे अङ्क में विष्कम्भक के आदि में आये हुए नीचे के अवतरण से यह सूचित हो जाता है कि रामचन्द्र जी द्वारा परशुराम पर विजय प्राप्त करली गई है और आगे यही प्रसंग चलेगा:—

'(परदे के पीछे)

सुनो जी सुनो देवताओ! मंगल मनाओ, मनाओ।

जय कृशाश्व के शिष्यवर विश्वामित्र मुनीस।
जय जय दिनपतिबंस के क्षत्रि अवध के ईस॥
अभय करत जो जगत को करि भृगुपतिमद मन्द।
सरन देत त्रैलोक्य कहँ जयति भानुकुलचन्द॥'

(ग) अङ्कास्य - अङ्क के अन्त में जहाँ बाहर जाने वाले पात्रों द्वारा अगले अङ्क की कथा की सूचना दिलाई जाती है उसे अङ्कास्य कहते हैं। इसके द्वारा खेले हुए अङ्क की कथा के साथ खेले जाने वाले अङ्क की संगति मिलादी जाती है।

महावीरचरित के दूसरे अङ्क के अन्त में सुमन्त्र कहते हैं:—

'(सुमन्त्र आता है)

सुमन्त्र—वशिष्ट और विश्वामित्र जी आप लोगों को परशुराम जी समेत बुला रहे हैं।

और सब—दोनों महात्मा कहाँ हैं?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के डेरे में।

राम—बड़ों की आज्ञा से मुझे जाना पड़ता है।

सब—चलो वहीं चलें। (सब बाहर जाते हैं)'

अगले अङ्क अर्थात् तीसरे अङ्क का दृश्य दशरथ के डेरे से प्रारंभ होता है और पूर्व अङ्क की सूचना के अनुसार ही वशिष्ठ और विश्वामित्र परशुराम से वार्तालाप करते हैं।

(घ) अङ्कावतार—जहाँ पर बिना पात्रों के बदले हुए पहले अङ्क की ही कथा आगे चलाई जाती है वहां अङ्कावतार होता है। पात्र वे ही रहते हैं। पहले अङ्क के पात्र बाहर जाकर फिर लौट आते हैं।

'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अङ्क में राजा, योगिनी आदि जो पात्र बातचीत करते हैं वे ही दूसरे अङ्क में बैठे दिखाये जाते हैं।

(ङ) प्रवेशक—प्रवेशक द्वारा घटनाओं की सूचना दी जाती है। विष्कम्भक और प्रवेशक में यह भेद है कि प्रवेशक दो अङ्कों के बीच में ही आता है। इसके पात्र सब निम्न श्रेणी के होते हैं और प्राकृत बोलते हैं।

'शकुन्तला' में सिपाही और मछली बेचने वाले की बातचीत प्रवेशक का अच्छा उदाहरण है।

चूलिका, विष्कम्भक आदि से वह काम निकलता है जो उपन्यास या महाकाव्य में लेखक या कवि द्वारा दिये हुए घटनाओं के विवरण से होता है। इनमें रसोत्पादन की अपेक्षा विवरण (Narration) का नाटकीय ढंग से प्रयोग होता है।

नाटक की कथावस्तु, कथोपकथन अथवा संवाद के रूप में ही रहती है। यह सामाजिकों अथवा दर्शकों के लिए तो श्राव्य रहती ही है किन्तु कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनके सुनने से कुछ पात्र वर्जित कर दिये जाते हैं, इसी आधार पर कथोपकथन के तीन विभाग किये गये हैं।

(१) श्राव्य या सर्वश्राव्य—जो सबके सुनने के लिये हो, इसी को प्रकट या प्रकाश भी कहते हैं।

कथोपकथन के प्रकार

(२) अश्राव्य—जो दूसरे पात्रों के सुनने के लिये न हो। यह एक प्रकार का मुखरित रूप से विचार करना है, इसी को स्वगत या आत्मगत कहते हैं।

यद्यपि आजकल इसको स्वाभाविकता के विरुद्ध समझकर इसके हटाने का उद्योग किया जाता है तथापि कहीं-कहीं इसका प्रयोग स्वाभाविकता बढ़ाने वाला होता है। भावावेश में लोग स्वगत बोलने

लग जाते हैं किन्तु यह बड़ा न होना चाहिए। आजकल स्वगत की अस्वाभाविकता मिटाने के लिये एक विश्वासपात्र को मंच पर ले आते हैं जिसके आगे पात्र अपना हृदय खोलकर रख देता है। इसमें आत्म-विश्लेषण अच्छा हो जाता है। उपन्यासकार जो कुछ विश्लेषात्मक चित्रण द्वारा उपस्थित करता है वह इससे हो जाता है।

(३) नियतश्राव्य—जो कुछ पात्रों के सुनने के लिये हो और कुछ के लिये न हो। यह दो तरह का है—एक अपवारित और दूसरा जनान्तिक। अपवारित में जिस पात्र से बात को छिपाना हो उसकी ओर से मुँह फेर कर बात कही जाती है। जनान्तिक में अँगूठा और कन-अँगुली को छोड़कर तीन अँगुलियों की पताका-सी बनाकर उसकी ओट में एक या दो पात्रों को छोड़कर अन्य पात्रों से बात की जाती है।

आकाशभाषित भी कथोपकथन का एक प्रकार माना गया है। इसमें कोई पात्र आकाश की ओर मुँह उठाकर किसी कल्पित व्यक्ति से बात करता हुआ दिखाया जाता है। वह 'क्या कहा' आदि ऐसे वाक्य कहता जाता है जिससे मालूम पड़े कि वास्तव में किसी दूसरे से बात कर रहा है। यह आकाशवाणी नहीं है। प्राचीन रूपकों में भाण नाम का एकांकी आकाशभाषित के ही रूप में होता है। साधारण नाटकों में भी जैसे सत्य हरिश्चन्द्र में भी आकाशभाषित का प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का 'विषस्य विषमौषधम्' नाम का भाण इसका अच्छा उदाहरण है।

पात्र

नाटक और उपन्यास में पात्रों की मुख्यता रहती है। नाटक के सभी तत्व पात्रों के ही आश्रित रहते हैं।

नायक के गुण

नायक या नेता प्रधान पात्र को कहते हैं। नेता शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ ले चलना होता है। जो कथा को फल की ओर ले जाता है वही नेता होता है। इसी को फल-प्राप्ति होती है। कहीं-कहीं नाटकों या उपन्यासों में यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इसका नायक कौन है। नायक जानने का यही साधन है कि हम देखें कि कथा का फल किसके साथ लगा हुआ है। श्रोता, द्रष्टा या पाठक किसके उत्थान या पतन में अधिक से अधिक रुचि रखते हैं। फल हमेशा मूर्त

नहीं होता। प्रतिज्ञा का पूर्ण होना एक प्रकार का फल ही होता है।

हमारे यहाँ के नाटकों में नायक को सब उच्च और उदार गुणों से सम्पन्न माना गया है। उसके लिए विनयशील, सुन्दर, त्यागी, कार्य करने में कुशल, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, शुद्ध, भाषण-पटु, उच्च-वंशज, स्थिरचित्त, युवा, बुद्धियुक्त, साहसी, स्मृति वाला, प्रज्ञावान, कलाकार, स्वाभिमानी, शूर, तेजस्वी और शास्त्रज्ञ होना आवश्यक बतलाया है। ❀

उसमें अभिजात लोगों या भद्रपुरुषों के सब गुण आजाते हैं। आजकल समय पलट गया है। किसी मनुष्य के भद्रपुरुष होने के लिए उसका किसी उच्च कुल में जन्म होना आवश्यक नहीं है। कीचड़ से कमल, कोयले से हीरा और दीप-शिखा से काजल उत्पन्न होता है।

इसी कारण हमारे यहाँ के नाटकों पर यह आक्षेप किया जाता है कि उनमें चरित्र के परिवर्तन के लिए गुंजाइश नहीं। जो चरित्र स्वयं विकसित है, उसका क्या विकास हो सकता है? पूर्ण चन्द्र की और क्या वृद्धि होगी? यह आक्षेप किसी अंश तक ठीक है किन्तु और दूसरा पहलू भी है। वह यह है कि हमारे यहाँ के नाटककार रस को अधिक महत्ता देते थे। उन रसों में भी शृंगार, करुण और वीर का ही बोलबाला रहा है। इन रसों के लिए धीर और उदार वृत्ति वाले नायकों की ही आवश्यकता रहती है। फिर वे अपने दर्शकों को शुरू से ही एक उदारचरित के सम्पर्क में लाना चाहते थे। नाटक के कार्य में नायक नये गुणों को प्राप्त नहीं करता है। वरन् उसके गुणों का क्रमशः उद्घाटन होता रहता है। हमारे यहाँ के नाटककार नायक में बुराई दिखाकर जनता के नैतिक विचारों को आघात नहीं पहुँचाना चाहते थे। नाटक में लोकप्रतिष्ठित नायक को रखने से उसके प्रति जनता सहज में आकर्षित हो जाती है। वह एक प्रकार से सबका सहज आलम्बन होता है। इस कारण साधारणीकरण में कोई कठिनाई नहीं होती।

❀ नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी, शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

नायक चार प्रकार के होते हैं:—

	(१) धीरोदात्त
नायकों के	(२) धीरललित
प्रकार	(३) धीरप्रशान्त
	(४) धीरोद्धत्त

वे सभी धीर होते हैं क्योंकि यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि नायक का सर्व प्रकार की श्रेष्ठाताओं से सम्पन्न होना वाञ्छनीय है। श्रेष्ठता के लिए धीरता आवश्यक है। जो धीर नहीं है, वह न तो वीर ही हो सकता है और न उसे प्रेमी ही कहना ठीक होगा। यद्यपि सभी नायक धीर होते हैं तथापि श्रीरामचन्द्रजी धीरता के आदर्श माने गये हैं। ❀

धीरोदात्त नायक—इसका लक्षण दशरूपक में इस प्रकार दिया गया है:—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढ़ाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः ॥

अर्थात् शोक-क्रोधादि से अविचलित जिसका अन्तःकरण है (महासत्त्वः=शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तः सत्त्वः) अत्यन्त गम्भीर, क्षमावान, आत्मश्लाघा न करने वाला, अहंकार शून्य और दृढ़व्रत अर्थात् अपनी अङ्गीकृत बात का निर्वाह करने वाला धीरोदात्त नायक कहलाता है।

यह बड़ा उदारचरित्र होता है। इसमें शक्ति के साथ क्षमा तथा दृढ़ता और आत्मगौरव के साथ विनय तथा निरभिमानता रहती है। इसके सबसे अच्छे उदाहरण मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी और धर्मधुरीण युधिष्ठिर हैं। श्री रामचन्द्रजी में शील की प्रधानता है। वे अपनी उस बड़ाई को नहीं सुनना चाहते जिसमें दूसरे का अपमान हो। उत्तररामचरित में चित्रपट को दिखाते हुए जब लक्ष्मण जी परशुराम की ओर इशारा करते हैं तब वे तुरन्त ही उस दृश्य से आगे

❀ 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः ।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥'

अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी के मुखरूपी कमल की शोभा जो राज्याभिषेक से न प्रसन्नता को प्राप्त हुई और न वनवास के दुःख से मलिन हुई, सदा मेरे लिए मंगल देने वाली हो।

बढ़ने को कह देते हैं। 'नागानन्द' नाटक के नेता जीमूतवाहन भी धीरोदात्त नायकों में ही माने गये हैं। वे वास्तव में धीरप्रशान्त कहलाने योग्य थे लेकिन राजा होने के कारण इस गौरव को प्राप्त न कर सके। जीमूतवाहन ने नाग को बचाने के अर्थ अपना शरीर गरुड़ के खाने के लिए प्रसन्नता पूर्वक दे दिया है। उसके सम्बन्ध में गरुड़ जी कहते हैं :—

'खचि के पीवत रक्त न धीरज नेकहु या मन माँहि टरो है।
नोचत मांस अहार के काज नहीं मुख को रङ्गहू बिगरो है॥
गात में पीर असह्य है रोम पै एक नहीं अँग माँहि खरो है।
देखत है उपकारी विचारि कै मोहि सों नैनन नेह भरो है॥'

अन्तिम पंक्ति में जीमूतवाहन की सज्जनता पूरे उभार में आ जाती है। उसकी नीचे की उक्ति भी देखिए :—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात् वः विरतो गुरुत्मन्॥'

अर्थात् मेरी शिराओं से रुधिर चू रहा है और अभी मेरे शरीर में माँस है, हे महान्! जब तक तुम्हारी पूर्ण तृप्ति नहीं होती है तब तक तुम खाने से क्यों विराम लेते हो।

धीरललित नायक—यह बड़े कोमल स्वभाव का होता है। यह सुखान्वेषी, कलाविद् और निश्चिंत होता है—'निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः'—जैसे 'शकुन्तला' के दुष्यन्त या 'रत्नावली' के वत्सराज। शृङ्गार-प्रधान नाटकों में ऐसे ही नायक रहते हैं। दुष्यन्त में हम ये सब गुण पाते हैं। वह कलाविद् भी है। उसने शकुन्तला का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा था। ऐसे नायक अपना राजकाज योग्य मंत्रियों पर छोड़ रखते थे। उनकी प्रजा भी दुःखी नहीं रहती थी। वत्सराज महाराज उदयन के लिए कहा गया है—'सम्यक्पालनलालितः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः'—फिर भी ये आदर्श नहीं कहे जा सकते।

धीरप्रशान्त नायक—यह क्षत्रिय नहीं होता क्योंकि क्षत्रियों में सन्तोष नहीं पाया जाता। 'सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः'—ऐसा नायक अधिकतर ब्राह्मण या वैश्य होता है जिसमें अन्य गुणों के साथ शान्त स्वभाव होने की मुख्यता होती है—जैसे 'मालती-माधव' में माधव। इस नायक में ललित के भी कुछ गुण होते हैं।

धीरोद्धत नायक—यह मायावी, आत्मप्रशंसापरायण तथा स्वभाव

से प्रचण्ड धोकेबाज और चपल होता है। यह अहङ्कार और दर्प से भरा रहता है :—

'दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥'

भीमसेन, मेघनाद, रावण, परशुराम आदि इसके उदाहरण हैं।

जहाँ धीरोदात्त में आत्मश्लाघा का अभाव रहता है वहाँ धीरोद्धत में उसका प्राधान्य दिखाई पड़ता है। 'महावीरचरित' में परशुराम की उक्ति देखिए।

'जीति त्रिलोक जो गर्वित होय महेस समेत पहार उठावा।
सो दसकंधर को अभिमान जो खेल सों आवत सौंह नसावा॥
ऐसहुँ हैहय के बलवान नरेस को कोपि जो मारि गिरावा।
काटि के डार से बाहु हजार जो पेड़ के ठूँठ समान बनावा॥
घूमिकै भूमि पै बार इकीस जो छत्रियवंस समूल संहारा।
राह बनाइ जो हंसन के हित बानन फोरिकै क्रौंच पहारा॥
भृंगि हेरम्ब सहाय समेत जो तारक के रिपुहूं को पछारा।
सो सुनिकै गुरुचाप को भंजन आवत है करि कोप अपारा॥'

शृङ्गार रस के सम्बन्ध में नायकों के चार भेद और होते हैं। ऊपर के नायकों में ये अवान्तर भेद मानना ठीक नहीं प्रतीत होता है (यद्यपि ऐसा सभी ने माना है) क्योंकि धीरोदात्त या धीरप्रशान्त, शठ या धृष्ट नहीं हो सकता, ये स्वतन्त्र भेद हैं। पत्नियों के सम्बन्ध के आधार पर दक्षिण, शठादि नायकों का विभाजन किया गया है। ये विभाग इस प्रकार हैं:—

(१) अनुकूल (२) दक्षिण (३) धृष्ट और (४) शठ।

अनुकूल—

'जो पर बनिता तैं बिमुख, सानुकूल सुखदानि।'

अनुकूल नायक एकपत्नीव्रत को कहते हैं—जैसे श्रीरामचन्द्रजी जिनके सम्बन्ध में 'तोषनिधिजी' कहते हैं कि:—

'नैनन ते सीय रूप सिवाय चितौय न भूलेहुं चित्र की बामें।'

और जिन्होंने राजसूययज्ञ में भी सीता की स्वर्णमयी मूर्त्ति से काम चलाया था :—

'मैथिली समेत तौ अनेक दान मैं दियो।
राजसूय आदि दै अनेक यज्ञ मैं कियो॥

सीय-त्याग पाप ते हिये सु हौं महा डरों ।
और एक अश्वमेध जानकी बिना करौं ॥'

× × × ×

'कारिये युत भूषण रूपरयी । मिथिलेश सुता इक स्वर्णमयी ॥
ऋषिराज सबै ऋषि बोलि लिये । सुचि सों सब यज्ञ विधान किये ॥'

शेष नायकों का बहु विवाह की प्रथा से सम्बन्ध है ।

दक्षिण—

'जु बहु तियन को सुखद सम, सो दच्छिन गुनखानि ।

दक्षिण नायक एक से अधिक पत्नियाँ रखता हुआ भी प्रधान महिषी का आदर करता है । यथासम्भव सबको प्रसन्न रखना उसका एक विशेष गुण है किन्तु वह इस बात का ध्यान रखता है कि उसका अन्य स्त्री-प्रेम प्रधान महिषी पर प्रकट न हो जाय । श्रीकृष्ण जी के सम्बन्ध में पद्माकर का निम्नोलिखित दोहा इस प्रकार के नायक की मनोवृत्ति को बड़ी सुन्दर रीति से व्यक्त करता है:—

'निज-निज मन के चुनि सबै, फूल लेहु इक बार ।
यह कहि कान्ह कदम्ब की हरषि हलाई डार ॥'

'शकुन्तला' के दुष्यन्त, 'रत्नावली' के उदयन तथा 'मालविकाग्निमित्र' के अग्निमित्र इसी प्रकार के नायक हैं । महाराज दुष्यन्त को शकुन्तला का चित्र छिपाते हुए देखकर अप्सरा सानुमती कहती है:—

'सानुमती—इन्होंने दूसरे को हृदय दे डाला है सही, पर ये अपनी पहली रानी के प्रेम को भी ठेस नहीं लगने देना चाहते । पर सच्ची बात तो यह है कि राजा के मन में रानी के लिए कुछ भी प्रेम बचा नहीं रह सकता है ।'

शठ—

'सहित काज मधुरै मधुर, बैननि कहै बनाइ ।
उर अन्तर घट कपटमय, सो शठ नायक आइ ॥'

शठ नायक का अन्य स्त्रियों के प्रति प्रेम प्रकट-सा रहता है किन्तु वह निर्लज्ज नहीं होता :—

'कछु और करै कछु और कहै कछु और धरै न पिछानि परै ।
कछु और ही देखै दिखावै कछू क्यों हियान मे साँच-सी मानी परै ॥
'चिरजीवी' चखाचखी में परिकै कछु रोष-सी जोति बनानी परै ।
कपटीन की कौन कहै करतूत अभूत अली नहिं जानि परै ॥'

धृष्ट—

'धरै लाज उर में न कछु, करै दोष निरशंक।
टरै न टारो कैसेहूँ, कह्यो धृष्ट सकलंक॥'

धृष्ट नायक खुले-खुले दुराचरण करता है और निर्लज्ज होता है। वह अपनी प्रधान महिषी का जी दुखाने में नहीं चूकता और उसकी ताड़ना की भी परवाह नहीं करता। उसकी पत्नी खण्डिता नायिका की कोटि में आयगी:—

'बरज्यो न मानत हौ बार-बार बरज्यौ मैं,
कौन काम मेरे इत भौन में न आइयै।
लाज को न लेस, जग-हाँसी को न डर मन,
हँसत-हँसत आनि बात न बनाइयै॥
कवि मतिराम नित उठि कलिकानि करौ,
नित झूँठी सौंहैं करौ नित बिसराइयै।
ताकै पद लागौ निसि जागि जाके उर लागे,
मेरे पग लागि उर आगि न लगाइयै॥'

× × × ×

'उति गैलिन में धिधिकारहू जात, तऊ उत ही छवि छैयत हैं।
तुम्हें देखिके आँखिन ते अपने हम, जीवित ही मरि जैयत हैं॥
'चिरजीवी' कहा लों कहैं तुम ते, हम जाते सदा दुख पैयत हैं।
तुम झूँठ कहे नहिं लाजत हो, हमहीं उलटे हो लजैयत हैं॥'

नायक का प्रतिद्वन्द्वी *प्रतिनायक* कहलाता है। यह सदा धीरोद्धत होता है। प्रासङ्गिक कथावस्तु का नायक जो नेता का सहायक होता है *पीठमर्द* कहलाता है जैसे—'मालती-माधव' का मकरन्द।

विदूषक—संस्कृत नाटकों में जो हास्य का तत्व रहता था वह प्राय: इसी पात्र में केन्द्रस्थ कर दिया जाता था। अंग्रेजी नाटकों की 'क्लाउन' इसी की नकल बताई जाती है। विदूषक ब्राह्मण होता था और यह अधिकतर पेटू हुआ करता था—जैसे प्रसाद जी के 'स्कन्दगुप्त' नाटक में मुद्गल नाम का विदूषक आता है। मालूम पड़ता है उस समय में भी ब्राह्मण आजकल की भाँति भोजन-भट्ट होते थे। वह राजा का विश्वासपात्र और सलाहकार भी होता था। शायद इसीलिए वह ब्राह्मण रहता था क्योंकि उस समय मंत्रित्व (सलाह देना) ब्राह्मणों का स्वाभाविक कार्य था। वह उनके प्रेम-कार्य में मंत्री होता था।

उसकी अन्तःपुर में भी गति होती थी। राजा उसको 'वयस्य' या 'मित्र' कहकर सम्बोधित करते थे।

नाटकों में और भी बहुत तरह के पात्र रहते थे जिनका वर्णन विस्तार भय से नहीं दिया जाता। हमारे यहाँ नायिकाओं के विभाजन का विस्तार-क्रम दोष की हद तक पहुँच गया था। यह विभाजन यद्यपि अधिकतर शृङ्गार से ही सम्बन्ध रखता था तथापि इसके द्वारा स्त्रियों की मनोवृत्ति का अच्छा अध्ययन मिलता है।

नायक की भाँति नायिकाओं के भी सामान्य गुण शास्त्रों में बतलाये गये हैं जिनके देखने से प्रतीत होता है कि साहित्य में नायिकाओं का बड़ा उच्च आदर्श था। उनमें यौवन के साथ कुल का गर्व तथा गुण, शील और प्रेम की आन्तरिक श्रेष्ठताएँ भी होती थीं। कुल का गर्व प्रायः स्त्रियों को दुश्चरित्र होने से बचाये रखता है, इसलिए उसका भी होना आवश्यक है। नायिका के आठ गुण या अङ्ग माने गये हैं, इन गुणों से युक्त अष्टाङ्गवती नायिका कहलाती थी। वे गुण इस प्रकार हैं :—

'जा कामिन में देखिये, पूरन आठो अङ्ग।
ताहि बखाने नायिका, त्रिभुवन मोहन रङ्ग॥
पहिले जोबन रूप गुन, सील प्रेम पहिचान।
कुल वैभव भूषण बहुरि, आठौ अङ्ग बखान॥'

इस प्रकार संस्कृत नाटकों में पात्र प्रायः एक बँधे हुए कैंडे के होते थे, तब भी उनमें व्यक्तित्व रहता था। 'उत्तररामचरित' के राम, 'चण्ड कौशिक' के हरिश्चन्द्र आदि नायक आदर्श होते हुए भी अपना व्यक्तित्व रखते हैं। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि नायकों के आदर्श होने के कारण उनमें विकास के लिए कम स्थान रहता है। फिर भी उनके विचारों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन दिखाई देता है जो उनको नितान्त अचल होने से बचाये रखता है।

भाव का संघर्ष पहले नाटकों में भी रहता था। रस-विधान में इसको संघर्ष नहीं कहा गया है किन्तु भाव-संधि की संज्ञा दी गई है। पात्र अपनी स्वाभाविक मनुष्य सुलभ कमजोरी की ओर झुकते हैं किन्तु एक साथ सम्हल जाते हैं। 'उत्तररामचरित' में शम्बूक के बध के समय राम में कुछ दया का भाव आया मालूम पड़ता है किन्तु वे तुरन्त ही उस पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में भी

मानवी कमजोरी की एक क्षीण रेखा दिखाई पड़ती है किन्तु वह व्यापक कर्त्तव्य के प्रकाश में विलीन-सी हो जाती है।

नाटक में चरित्र-चित्रण विश्लेषात्मक या प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता है। यह तो उपन्यासकार का ही विशेषाधिकार है। वह स्वयं अपने पात्रों का पाठकों से परिचय कराये तथा उनकी प्रकृति और उनके हृदय के गूढ़ रहस्यों पर प्रकाश डाले। नाटक में तो चरित्र-चित्रण के परोक्ष या अभिनयात्मक ढंग से काम लिया जाता है। या तो नाटक के पात्र एक-दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं या पात्र स्वयं अपने चरित्र का उद्घाटन करते हैं। एक पात्र दूसरे के चरित्र के मूल्यांकन में पक्षपात या ईर्ष्यावश गलती कर सकता है किन्तु यह प्राय. ईमानदारी का होता है। पात्र जो अपने बारे में स्वगत रूप से अथवा अपने घनिष्ट मित्र से अपने हृदय का भार हलका करने के लिए कहता है वह एक प्रकार की आत्मस्वीकृति ही होती है। उसकी सत्यता में सन्देह करने की गुञ्जाइश नहीं (यदि भावावेश में कुछ अत्युक्तियाँ हो जाँय तो दूसरी बात है)। स्वगत कथन अस्वाभाविक अवश्य होता है किन्तु चरित्र के उद्घाटन में सहायक होने के कारण निरर्थक भी नहीं कहा जा सकता।

चरित्र-चित्रण

प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' से तीनों प्रकार के अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण के उदाहरण यहाँ दिये जा सकते हैं।

उदाहरण

(क) स्वयं पात्र द्वारा अपने चरित्र का उद्घाटन—

स्कंदगुप्त स्वगत कथन में अपने विषय में कहता है:—

'स्कन्दगुप्त—इस साम्राज्य का बोझ किसके लिये? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति! परिवार में अशान्ति! केवल मेरे अस्तित्व से?··· ·········केवल गुप्त-सम्राट के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप में सलग्न रक्खा है।'

स्कन्दगुप्त चक्रपालित से बात करता हुआ इन्हीं भावनाओं को प्रकाश में लाता है, देखिए:—

'स्कन्दगुप्त—चक्र! ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिये दिन-रात लड़ना पड़े। आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद्-शशि का विलास हो, तब भी दाँत-पर-दाँत रखे, मुट्ठियों को बाँधे हुए, लाल आँखों से एक-दूसरे को घूरा करे!······चक्र! मेरी समझ में मानव-जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और

भी निगूढ़ रहस्य है, चाहे उसे मैं स्वयं न जान सका हूँ।'

(ख) दूसरे पात्रों द्वारा चरित्र पर प्रकाश

बन्धुवर्मा भी स्कंदगुप्त के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही सोचता है, देखिए:—

'बन्धुवर्मा—उदार-वीर-हृदय, देवोपम-सौन्दर्य, इस आर्य्यावर्त का एकमात्र आशा-स्थल इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र लिपियों से अङ्कित है! अन्तःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवन-पूर्ण ज्योति है।'

(ग) कार्य-कलाप द्वारा चरित्र-चित्रण

स्कन्दगुप्त का कार्य-कलाप भी इस बात की पुष्टि करता है कि वह अपने लिए नहीं लड़ता है वह कहता है:—

'स्कन्दगुप्त—……विजया! मैं कुछ नहीं हूँ, उसका अस्त्र हूँ—परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ। मुझे उसके संकेत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना है। किसी से मेरी शत्रुता नहीं क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नहीं।'

इन्हीं आदर्शों की पूर्ति स्कन्दगुप्त अपने त्याग द्वारा करता है, देखिए:—

'स्कन्दगुप्त—भटार्क! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो, आज इस रण-भूमि में पुरुगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना मेरे बाद जन्म-भूमि की दुर्दशा न हो। (रक्त का टीका पुरुगुप्त को लगाता है)।'

यही स्कन्दगुप्त के चरित्र की अन्विति है। यहाँ कथनी और करनी एक हो जाती है।

मनुष्य का कार्य-कलाप उसके चरित्र का सबसे सच्चा परिचायक होता है। इसलिए कथोपकथन और कार्य-व्यापार की अन्विति, चरित्र की दृढ़ता के साथ नाटककार के कौशल का परिचय देती है।

सफल कथोपकथन वही होता है जो कि या तो कथा-क्रम के अग्रसर करने में सहायक हो या चरित्र पर प्रकाश डाले। नाटकीय लाघव (Dramatic Economy) की यह माँग है कि कथोपकथन यथासंभव छोटा ही न हो वरन् ऐसा हो कि वह चरित्र पर अधिक-से-अधिक प्रकाश डाले। वे ही बातें और कार्य सामने आयँ जिनमें चरित्र की कुंजी सन्निहित हो। स्वल्पातिस्वल्प साधनों द्वारा अधिक-से-अधिक कार्य निकालना यही कलाकार का कौशल है। थोड़े से समय में हम नाटक

और उपन्यास के पात्रों के सम्बन्ध में वास्तविक जीवन के पात्रों की अपेक्षा गहरा परिचय प्राप्त कर लेते हैं। उपन्यास और नाटक के पात्र भी अपना थोड़ा-बहुत समय दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा निरुद्देश्य वार्तालाप में बिताते होंगे किन्तु हमारे सामने उनका सजीव और सक्रिय रूप ही आता है। यदि उनकी अकर्मण्यता उनके चरित्र का अंग ही हो तो दूसरी बात है, नहीं तो नाटक और उपन्यास के पात्रों का कथोपकथन और कार्य-कलाप चुना हुआ और सोद्देश्य होता है।

रस और उद्देश्य

भारतीय परम्परानुसार नाटकों में रस को मुख्यता दी गई है और पाश्चात्य परम्परा में उद्देश्य को। हमारे देश में रस का विवेचन पहले-पहल नाटक के ही सम्बन्ध में किया गया था। रस उन तीन बातों में से है जो रूपकों के विभाजन-आधार बनती हैं। रस का स्वतंत्र विवेचन लेखक के 'सिद्धान्त और अध्ययन' (प्रथम भाग) में किया गया है। प्रत्येक नाटक में कोई-न-कोई रस अङ्गी रूप से रहता है (जैसे 'शकुन्तला' नाटक में शृङ्गार) और दूसरे रस भी अङ्ग रूप से आ सकते हैं। 'शकुन्तला' में और भी रस, जैसे वीर, वात्सल्य, रौद्र आये हैं किन्तु वे शृङ्गार के आश्रित होकर आये हैं। रसों का समावेश रस-मैत्री और रस-विरोध के नियमों के आधार पर किया जाता है।

पाश्चात्य देशों के नाटकों में कुछ-न-कुछ उद्देश्य व्यक्त या अव्यक्त रूप से रहता है। वह किसी प्रकार की जीवन-मीमांसा या विचार-सामग्री के रूप में आता है। इस उद्देश्य का सम्बन्ध आन्तरिक और वाह्य संघर्षों से होता है। यह संघर्ष पाठकों को उद्देश्य के ग्रहण करने के लिये तैयार कर देता है। उद्देश्य प्राय: संघर्ष के शमन का एक मार्ग या प्रकार होता है। नाटक की विचार-सामग्री पात्रों के पारस्परिक कथोपकथन में ही उपस्थित होती है। नाटककार जो कुछ स्वयं कहना चाहता है वह किसी पात्र के द्वारा ही कहलाता है अथवा वह कथानक में व्यञ्जित रहता है। आजकल के बुद्धिवादी नाटकों में, विशेषतया समस्यात्मक नाटकों में, इस उद्देश्य का प्राधान्य रहता है। मानव सहानुभूति का विस्तार तो प्राय: सभी देशी और विदेशी नाटकों का व्यापक उद्देश्य रहता है।

दुःखान्त नाटक-मीमांसा

पाश्चात्य देशों में नाटकों का विभाजन दुःखान्त और सुखान्त के रूप में किया जाता था। दुःखान्त नाटक प्रारम्भ में गम्भीर नाटक होते थे। दुःख में गाम्भीर्य अधिक रहता है। इसीलिए गम्भीर नाटकों ने दुःखान्त का रूप धारण किया। आजकल दुःखान्त-सुखान्त का ऐसा कटा-छटा विभाजन नहीं रहा जैसा पहले था। भारतवर्ष में तो सब नाटक सुखान्त ही होते थे किन्तु उनमें थोड़ा-बहुत दुःख का तत्व भी रहता था। इस सम्बन्ध में एक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न यह है कि दुःखान्त नाटकों के देखने से क्यों सुख होता है? यदि सुख नहीं मिलता है तो हम पैसा देकर क्यों आंसू बहाने जाते हैं? इस सम्बन्ध में अरस्तू (Aristotle) ने तो अपना रेचन (Catharsis) का सिद्धान्त चलाया था। उनका कथन है कि हमारे मन में जो करुणा और भय की मात्रा रहती है, यदि वह इकट्ठी होती रहे तो हानिकारक हो जायगी। जिस प्रकार वैद्य हमारे मलों को निकाल कर हमारे शरीर को शुद्ध कर देता है, उसी प्रकार दुःखान्त नाटक में कृत्रिम रूप से हमारी करुणा और भीति (भय) को निकास मिल जाता है।

दुःखान्त नाटक के देखने में आनन्द क्यों?

यह सिद्धान्त सवमान्य नहीं है। अंगरेजी के आलोचक (F. L. Lucas) का कथन है कि हम इन भावों को निकालना नहीं चाहते है वरन् उनका उपभोग करना चाहते हैं।* कुछ लोगों का यह भी कहना है कि कथानक के दुःखात्मक होते हुए भी शैली की सरसता उसमें आनन्द की सृष्टी कर देती है।

इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि दुःखान्त नाटक अथवा दुःखात्मक नाटक, नाटक तो होते ही हैं तथा जिस प्रकार और

---

*And so we go to tragedies not in the least to get rid of emotions but to have them more abundantly, to banquet and not to purge.

अर्थात्—हम दुःखान्त नाटकों को देखने के लिये इसलिये नहीं जाते कि हम भावों से अपने को मुक्त कर लें, अपितु इसलिये कि हम अधिक मात्रा में उन्हें पावें।

कोई नाटक या काव्य हमको प्रसन्नता देते हैं, उसी प्रकार और उन्हीं कारणों से दुःखान्त नाटक भी प्रसन्नता देते हैं। काव्य या नाटक से हमको क्यों प्रसन्नता होती है? इसके भी कई उत्तर हो सकते हैं। उनमें से एक यह भी है कि काव्य के द्वारा हमारी आत्मा का विस्तार होता है। हम शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध में आते हैं। नाटक चाहे दुःखान्त हो, चाहे सुखान्त, उसके पात्र हमारे-जैसे हाड़, मांस, चाम के पुतले होते हैं और वे हमारी तरह ही इच्छा, द्वेष और प्रयत्न कर सुख या दुःख के भागी बनते हैं। मनुष्य स्वभाव से सहानुभूतिशील है। वह अपने कुल और गोत की वृद्धि चाहता है।

मनुष्य सामाजिक जीव है। वर्तमान सभ्यता का जटिल जीवन अथवा संसार में जीवन के सीमित उपादान उसको प्रतिद्वंद्विताशील और असामाजिक बना देते हैं। यद्यपि ऐसे भी लोग हैं जो 'बिन काज दाहिने बाएँ' होते हैं तथापि वे विरले हैं और यदि उनका इतिहास देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वे भी जीवन के किसी अभाव या निराशा के कारण ऐसे बने होंगे। नाटक देखने या उपन्यास पढ़ने से हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति होती है। नाटक या उपन्यासों के पात्रों से हमारा सम्बन्ध किसी प्रकार से दूषित भाव का नहीं होता। वे हमारे प्रतिद्वन्द्वी नहीं होते और न उनसे हमारा जमीन-जायदाद का कोई झगड़ा होता है। उनके प्रति हमको ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं होता और न उनको विभूति देखकर हमको जूड़ी आती है क्योंकि ज्यादातर हमको अपने पड़ौसी को मोटर में जाते देखकर ईर्ष्या होती है, दुनिया-भर से नहीं। जिनका ईर्ष्याभाव अधिक व्यापक हो जाता है, उनको नाटक या सिनेमा में भी आनन्द न मिलेगा। इस प्रकार नाटक, सिनेमा, उपन्यास, प्रबन्ध काव्य सभी हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति करते हैं। काव्य के द्वारा लौकिक जीवन की कटुता, रुखाई और दाहकता, माधुर्य, स्निग्धता और शीतलता का रूप धारण कर लेती है और काव्य के आलम्बनों से हमारा निजी सम्बन्ध न रह कर मानवता का नाता हो जाता है। हमारे लौकिक सम्बन्ध कभी-कभी मानवता से हटे रहते हैं। काव्य के सम्बन्ध मानवता के सम्बन्ध होने के कारण सत्वगुणप्रधान होते हैं। इसी सत्वगुण की अभिवृद्धि से तथा जिज्ञासा-वृत्ति से उत्पन्न चित्त की एकाग्रता द्वारा आत्मा का स्वाभाविक आनन्द प्रस्फुटित हो उठता है। यही ब्रह्मानन्द-सहोदर

काव्यानन्द है। हिन्दू-शास्त्रों का कुछ ऐसा ही मत है।

दुःखान्त नाटकों का दुःख क्या इस आनन्द में बाधक होता है? इसके लिए हमको दुःख का कारण जानना चाहिए। वास्तविक जीवन में दुःख का कारण निजीपन ही तो है। इसी से ज्ञानी मुक्त होना चाहता है। काव्य द्वारा हम लौकिक जीवन के निजीपन को तो खो देते हैं। ऐसा करने में कुछ नुकसान अवश्य होता है क्योंकि सुखानुभूति की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। (यदि दर्शक को स्वयं लाटरी मिल जाय तो उसको नाटक के नायक को लॉटरी या सम्पत्ति मिलते देखने से कहीं अधिक प्रसन्नता होगी) लेकिन उसी के साथ अनुभूति की व्यापकता बढ़ जाती है। तीव्रता के स्थान में व्यापकता आती है।

नाटक का आनन्द सहानुभूति का आनन्द है। यह वैसा ही आनन्द है, जैसा कि एक परोपकारी जीव को दुःखित और पीड़ितों की सहायता में मिलता है। दुःखान्त नाटकों के देखने से करुण रस की उत्पत्ति होती है। हम शोक नहीं चाहते किन्तु करुण रस में मग्न होना चाहते हैं। भाव सुख-दुःखमय होते हैं, रस आनन्दमय है।

दुःखान्त या दुःखात्मक नाटकों का दुःख आनन्द में बाधक नहीं वरन् सहायक होता है। दुःखान्त नाटक (Tragedy) का मूल अर्थ गम्भीरता-प्रधान (Serious) नाटक था। दुःखान्त नाटकों में जीवन का गाम्भीर्य अधिक होने के कारण उनमें सुखान्त नाटकों की अपेक्षा सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है। इस सहानुभूति से हमारी आत्मा का विस्तार होता है। आत्मा का विस्तार ही सुख है। सुखान्त नाटकों में ईर्ष्या आदि के बुरे भाव भी जाग्रत हो सकते हैं किन्तु दुःख की अतिशयता का भी हमारे ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी लिए हमारे यहाँ दुःखात्मक नाटक होते है, दुःखान्त नहीं।'

दुःखान्त नाटकों में मनुष्य की सहनशीलता को देखकर हम में गर्व की भावना जाग्रत होती है और कभी-कभी हम अपने अपेक्षाकृत तुच्छ दुःखों को भूल जाते हैं। सुख में जो विलास की उन्मत्तता आती है और दुःख में सात्विकता का उदय होता है। इस दृष्टि से दुःखान्त नाटकों का महत्त्व अवश्य है फिर भी उनके द्वारा हमारी ईश्वरीय न्याय की भावना में ठेस लगती है। भारतीय नाटककार इस भावना को ठेस नहीं पहुँचाते।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और रह जाता है। वह यह है कि जब दुःखान्त नाटकों से सहानुभूति बढ़ती है, तब संस्कृत नाटकों में दुःखान्त नाटकों का अभाव क्यों रक्खा ? संस्कृत नाटकों में केवल 'उरुभंग' नाटक ही दुःखान्त है किन्तु दुर्योधन के मारे जाने से किसी को दुःख नहीं होता।

भारत में दुःखान्त नाटकों का अभाव

हमारे यहाँ तो मृत्यु आदि के दृश्य वर्ज्य माने गये हैं, क्योंकि करुण या राजविप्लव आदि भय के दृश्यों को मञ्च पर दिखाने से एक प्रकार का लौकिक अनुभव सा हो जाता है और वह उस आनन्द में बाधक होता है, जिसके लिए हम नाटक देखने जाते हैं। दूसरी बात यह है कि सहानुभूति को कृत्रिम रूप से जाग्रत करने से उसकी शक्ति और तीव्रता कम हो जाती है। लोगों को दुःख में देखते-देखते दूसरों को दुःखी देखने की आदत सी पड़ जाती है और मन में वही मनोवृत्ति उत्पन्न हो उठती है, जो कि शेर के साथ लड़ाई लड़ते हुए ग्लेडियेटर को (वह कैदी जिसको फाँसी का हुक्म होता था) मरते देखने में होती थी। इसीलिए श्रीरामचन्द्रजी ने हनुमानजी से कहा था कि मैं तुम्हारा प्रत्युपकार नहीं करना चाहता क्योंकि मेरी यह इच्छा नहीं है कि तुम पर कभी दुःख पड़े और मैं तुमको उससे मुक्त करूँ। हमारे यहाँ के लोग जीवन का आदर करते थे। वे मनुष्यों का मञ्च पर गाजर-मूली की भाँति काटा जाना पसन्द नहीं करते थे।

इस सम्बन्ध में सब से बड़ी समस्या यह है कि जब तक किसी बड़े आदमी को (बड़े को नहीं वरन् श्रेष्ठ पुरुष को) दुःख न हो, तब तक करुणा और सहानुभूति नहीं उत्पन्न होती है। हरिश्चन्द्र ऐसे सत्यवादी और दशरथ ऐसे दृढ़व्रती को ही दुःख उठाते हुए देख कर हमारे हृदय में करुणा का सञ्चार होता है। लेकिन ऐसे लोगों को दुःख उठाते हुए देखकर हमारी ईश्वरीय न्याय-सम्बन्धी भावना को भी ठेस पहुँचती है। राम को बनवास जाते हुए देखकर दैव को ही दोष दिया जाता है।

यूनानी दुःखान्त नाटकों में दुःख का कारण दुर्भाग्य (Namisis) दिखलाया जाता था। नायक प्रायः निर्दोष रहता था। शेक्सपियर के नाटकों में दुर्भाग्य किसो खल नायक या धूर्त का (Villain),

शेक्सपियर और गाल्र्सवर्दी

जैसे ओथेलो नाटक में आइगो, रूप धारण कर लेता था और वह (अर्थात् नायक) अपनी मूर्खता के कारण उसके फंदे में पड़ जाता था। ओथेलो का शीघ्र विश्वास कर लेने वाला शङ्काशील स्वभाव उसकी निर्दोष एवं पतिपरायणा पत्नी और स्वयं उसकी मृत्यु का कारण बनता है। शेक्सपियर में ईश्वरीय न्याय केवल इतना ही रहता है कि खल नायक के कुचक्र से असली नायक का तो घात हो जाता है किन्तु वह अर्थात् खल नायक अपने कुचक्र का लाभ नहीं उठाने पाता है। 'साधुता सीदति' (साधुता दुःख उठाती है) की बात तो रहती है किन्तु 'हुलसति खलई' की बात चरितार्थ नहीं होने पाती। खलता फूलती-फलती नहीं। नायक का थोड़ा दोष अवश्य रहता है। इसलिए भाग्य को पूर्णतया दोषी नहीं ठहरा सकते हैं किन्तु थोड़ी सी भूल या बुराई का दुष्परिणाम मूल कारण की अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

आज-कल गाल्र्सवर्दी आदि के नाटकों में समाज की दुर्व्यवस्था इसका कारण बनती है किन्तु फिर भी श्रेष्ठ पुरुषों को (वर्तमान समाज में श्रेष्ठता का अर्थ आवश्यक रूप से कुलीनता नहीं है) दुःखित देखकर ईश्वरीय न्याय को भावना को आघात पहुँचता है। यह हम मानते हैं कि दुःखात्मक घटनाओं के देखने से हृदय में कोमलता आती है और विचारों में सात्विकता जाग्रत होती है फिर भी एक बड़ी समस्या का सामना करना पड़ता है। एक ओर दुःखान्त नाटकों द्वारा भावों की परिशुद्धि और दूसरी ओर ईश्वरीय न्याय की रक्षा की मांग, इस उभ-यतोपाश, इधर कुँआ उधर खाई वाली बात से बचने के लिए ही संस्कृत के प्राचीन नाटककारों ने दुःखान्त नाटकों के स्थान में दुखात्मक नाटकों की रचना की थी। उत्तररामचरित में करुणा की पर्याप्त मात्रा है किन्तु उसका अन्त वियोगान्त नहीं हुआ है। इसी प्रकार चण्ड-कौशिक (सत्यहरिश्चन्द्र) में भी करुणा की मात्रा पर्याप्त है किन्तु इसका अन्त सुख में हुआ है इसके भावों की परिशुद्धि एवं सहानुभूति की जागृति के साथ ईश्वरीय न्याय की भी रक्षा पूरी तौर से हो गई। विश्वामित्र का पश्चात्ताप सत्य की विजय का द्योतक है।

अभिनय

अभिनय नाटक का प्रधान अङ्ग है। अभिनय से नाटक का उदय

हुआ है और अभिनय तथा रङ्गमञ्च के सुभीतों की कमी-बेशी के साथ-साथ भिन्न-भिन्न देशों की नाट्य-कला में विकास हुआ है।

हमारे देश में नाट्य-शास्त्र के प्रधान आचार्य भरतमुनि ने नाटक के इस तत्त्व की बड़ी विशद विवेचना की है। अभिनय शब्द अभि-पूर्वक 'णीञ' धातु से बना है 'णीञ' धातु का अर्थ है पहुंचाना। इसके द्वारा नाटक की सामग्री अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति की ओर पहुँचाई जाती है।

अभिनय चार प्रकार का माना गया है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक ❀। आङ्गिक के भी शरीर, मुखज और चेष्टाकृत नाम के तीन भेद किये गये हैं। *आङ्गिक* अभिनय में अङ्गों के सञ्चालन के भिन्न-भिन्न प्रकार बतलाये गये हैं। इस प्रकार के अभिनय का अनुभावों से तथा परिस्थिति के अनुकूल गतियों से सम्बन्ध है। इस प्रसंग में भाँति-भाँति से शिर हिलाने का वर्णन आता है। रसों के अनुकूल दृष्टियाँ भी बतलाई गई हैं। वीर, भयानक आदि की दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। वीर अपनी दृष्टि को सामने रक्खेगा, लज्जान्वित पुरुष अपनी निगाह नीची कर लेगा, भय वाला दृष्टि इधर-उधर फेरेगा। इसी सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार के नृत्य भी बतलाये गये हैं। इसी आङ्गिक अभिनय में तैरने, घोड़े की सवारी आदि का अभिनय हो जाता था। हाथों के टटोलने का नाट्य करने से अँधेरे का भी भान करा दिया जाता था। इस प्रकार आंगिक अभिनय में एक प्रकार से अभिनय का मुख्य भाग आ जाता था।

अभिनय के प्रकार

वाचिक—वाणी का अभिनय आङ्गिक अभिनय को स्पष्टता दे देता था। आजकल के नाटकों में भी थोड़ा-बहुत मूक अभिनय रहता है (जैसे वरमाला में)। भरतमुनि ने वाणी के अभिनय में स्वरशास्त्र, व्याकरण तथा छन्दः शास्त्र का परिचय कराया है, जिससे कि अभिनेताओं को स्वरादि का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाय। बोलने और पाठ करने की विधियों का भी उल्लेख हुआ है, और रसों के अनुकूल छन्दों और रागों का भी निर्देश किया गया है।

❀आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः॥

वाणी के अभिनय के सम्बन्ध में आचार्य ने प्राकृत के प्रयोग का भी विधान दिया है। प्राकृत का प्रयोग स्वाभाविकता लाने के लिए ही होता था। जैसे आजकल के नाटकों में कहीं-कहीं ग्रामीण भाषा आ जाती है और कहीं शहरी भाषा का प्रयोग होता है, उसी प्रकार प्राचीन समय के नाटकों में प्राकृत और संस्कृत का प्रयोग होता था और भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राकृत बोलते थे।

प्राचीन समय में भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से सम्बोधित किये जाते थे, जैसे—नौकर लोग राजा से 'देव' कहते थे, बौद्धों को भदन्त कहा जाता था, ऋषि लोग राजा को 'राजन्' कहकर सम्बोधित करते थे, विदूषक लोग राजा से 'वयस्य' और रानी से 'भवती' कहते थे। नाट्य-शास्त्र में नाटकीय पात्रों के नामों का भी विधान है। क्षत्रियों के नाम के आगे विजयबोधक शब्द लगाना उचित बतलाया गया है। वैश्यों के नाम के आगे 'दत्त' लगाने का निर्देश है। वेश्याओं के नाम के आगे दत्ता, मित्र, सेना आदि लगाने का संकेत किया गया है, जैसे—वासवदत्ता, वसन्तसेना। इसीलिए हमारे यहाँ कथोपकथन को अलग तत्व नहीं माना है। कथोपकथन-सम्बन्धी सब निर्देश वाचिक अभिनय में आ जाते हैं।

आहार्य अभिनय के सम्बन्ध में नाना प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों के रंगों का उल्लेख किया गया है। नाट्य-शास्त्र में भिन्न-भिन्न जाति के लोगों के रंग भी बतलाये गये हैं। गोरे वर्ण का आदर उस समय भी था। देवताओं तथा सम्पन्न लोगों के गौर वर्ण* में सजाये जाने का निर्देश है। रंगों के मिश्रण के सभी अच्छे प्रयोग बतलाये गये हैं। भिन्न-भिन्न स्थिति के लोगों के बालों और मूंछों की सजावट की भी विधि दी गई है। विदूषक गंजा दिखाया जाता था (संभवतः इसलिए कि गंजे के सिर पर चपत अच्छी जमाई जा सकती है)। बच्चों की तीन चोटियाँ होती थीं (जैसी कि कभी-कभी कंजरों के बालकों की देखी जाती हैं)। नौकरों को भी ऐसी ही चोटियाँ रहती थीं। कभी-कभी उनके कटे हुए बाल भी रहते थे। अवन्ती की स्त्रियों के घुंघराले बाल रहते थे। शिरोभूषा और मुकटों का भी पूरा-पूरा वर्णन है। युवराज और सेनापतियों के लिये आधे मुकट का विधान है। इन सब वेष-भूषाओं के

---

* ये चापि सुखिनो मर्त्याः गौराः कार्यास्तु ते बुधैः।

अध्ययन से उस समय की सभ्यता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

सात्विक अभिनय के सम्बन्ध में भारतेन्दु बाबू इस प्रकार लिखते हैं—'स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, कम्प और अश्रुप्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्विक अभिनय है, सात्विक अभिनय के विषय में लोगों को यह आपत्ति है कि कायिक अभिनय को रख कर सात्विक अभिनय को क्यों स्वतन्त्र स्थान दिया गया है ? इसका उत्तर यही है कि अनुभावों के होते हुए भी जिस प्रकार सात्विक भावों को स्वतन्त्र स्थान दिया गया है, उसी प्रकार सात्विक अभिनय को भी। सात्विक अभिनय का सम्बन्ध भावों से है। सात्विक अभिनय में भावों का प्राधान्य रहता है। साधारण कायिक अभिनय में गतियों का भी अभिनय हो सकता है।

नाटक के तत्वों के साथ-साथ नाट्य-शास्त्र में उनकी शैलियों का भी वर्णन आता है। इनका सम्बन्ध पूरे नाटक की गति-विधि से रहता है। इनका बड़ा महत्त्व है। इनको 'नाट्यमातर:' अर्थात्

वृत्तियां

नाटक की माताएं कहा गया है। इनका सम्बन्ध पात्रों के चलने-फिरने के ढंग से हैं। ये चार मानी गई हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—कौशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती।

(१) *कौशिकी वृत्ति*—यह बड़ी मनोहर वृत्ति है। इसका सम्बन्ध शृंगार और हास्य से है। इसमें गीत-नृत्य का बाहुल्य रहता है। यह नाना प्रकार के विलासों से युक्त होती है। गायनप्रधान होने के कारण इसकी उत्पत्ति सामवेद से मानी गई है।

(२) *सात्वती वृत्ति*—इस वृत्ति का सम्बन्ध शौर्य, दान, दया, दाक्षिण्य से है। इसमें वीरोचित कार्य रहते हैं। यह आनन्दवर्द्धिनी होती है। इसमें उत्साहवर्द्धिनी वाग्भंगी रहती है। इसका सम्बन्ध वीर रस से है और इसमें थोड़ा रौद्र और अद्भुत का भी समावेश रहता है। इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से बतलाई गई है।

(३) *आरभटी वृत्ति*—माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष, आघात-प्रतिघात और बन्धनादि से युक्त यह वृत्ति रौद्र रस के वर्णन में काम आती है। इस वृत्ति की उत्पत्ति अथर्ववेद से बतलाई गई है।

(४) *भारती वृत्ति*—इससे स्त्रियाँ वर्जित रहती हैं। इसका सम्बन्ध पुरुष नटों या भरतों से है। इसलिए भी यह भारती कहलाती है। इसका सम्बन्ध शब्दों से है। साहित्यदर्पणकार का मत है कि सब

रसों में भारती वृत्ति काम आती है। भरतमुनि ने इसका सम्बन्ध करुण और अद्भुत से बतलाया है। इसके विषय में भारतेन्दु जी लिखते हैं कि यह केवल वीभत्स में ही काम आती है। भारती वृत्ति का सम्बन्ध नाटक के आरम्भिक कृत्यों से भी रहता है। भरतमुनि ने इस वृत्ति की उत्पत्ति ऋग्वेद से बतलाई है।

रूपकों के भेद

हमारे यहां रूपकों का विस्तार बहुत बड़ा है। नाटक से रूपक व्यापक है और रूपक से भी व्यापक है नाट्य। रूपक और उपरूपक दोनों नाट्य के अन्तर्गत हैं। रूपकों में रस की प्रधानता रहती है और उपरूपकों में भावों, नृत्य और नृत्त की मुख्यता रहती है। नृत्त में नपा-तुला ग्रम और ताल के साथ पद-संचालन होता है। नृत्य में भाव-प्रदर्शन भी होता है। रूपकों के भेद वस्तु, नायक और रस के आधार पर किये गये हैं। रूपक दस प्रकार के माने गये हैं।❀

१—*नाटक*—यह रूपकों में मुख्य है और जातिवाचक शब्द बन गया है। इसकी वस्तु में पाँच संधियाँ, चार वृत्तियाँ, चौसठ सन्ध्य माने गये हैं। इसमें पाँच से दस तक अङ्क होने चाहिए, जिससे कि पाँचों संधियों का पूर्ण समावेश हो सके। इसका विषय कल्पित न हो। इसका नायक धीरोदात्त, प्रतापी होना चाहिए। वह राजा, राजर्षि अथवा कोई अवतारी पुरुष होता है। इसमें शृङ्गार, वीर अथवा करुण रस की प्रधानता रहती है।

उदाहरण—शकुन्तला।

इस कसौटी से आजकल के बहुत से नाटक इस संज्ञा से बाहर हो जायँगे। उस समय की परिभाषा आजकल काम नहीं दे सकती है।

२—*प्रकरण*—इसमें प्रायः नाटक-की-सी ही वस्तु होती है। अन्तर केवल इतना है कि इसका विषय कल्पित होता है और इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता रहती है किन्तु हास्य और शृङ्गार वर्जित रहते हैं। इसका नायक कोई मन्त्री, धनी, वैश्य या ब्राह्मण होता है।

❀'नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च। भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः। ईहामृगश्च विज्ञेयं दशकं नाट्यलक्षणम्'। डी० आर० मनकद ने अपने 'टाइप्स आफ इंडियन ड्रामा' (Types of Indian Drama) में सब का परस्पर सम्बन्ध दिखलाते हुए भाण को सब से पहले बतलाया है।

उदाहरण—मालतीमाधव, मृच्छकटिक।

३—*भाण*—यह एक ही अङ्क का होता है। इसमें एक ही पात्र होता है, जो ऊपर को मुंह उठाकर आकाशभाषित के ढंग से किसी कल्पित पात्र से बातचीत करता है। इसमें धूर्तों का चरित्र रहता है और दर्शकों को खूब हँसाया जाता है।

उदाहरण—भारतेन्दुकृत 'विषस्य विषमौषधम्'।

४—*व्यायोग*—इसमें एक ही अङ्क होता है और एक ही अङ्क की कथा रहती है। स्त्री पात्रों का अभाव सा रहता है; वीररस का प्राधान्य होता है; मुख, प्रतिमुख और निर्वहण संधियाँ रहती हैं।

उदाहरण—भारतेन्दुकृत 'धनञ्जयविजय'।

५—*समवकार*—इसके बारह तक नायक हो सकते हैं। सबको अलग-अलग फल मिलता है। इसमें देव या दानवों की कथा रहती है और केवल तीन अङ्क होते हैं; विमर्श संधि और बिन्दु नाम की अर्थ-प्रकृति नहीं होती। इसमें युद्ध दिखाये जाते हैं।

उदाहरण—नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित अमृतमंथन। भास का पंचरात्र इस भेद के निकट आता है। भाषा में कोई उदाहरण नहीं है।

६—*डिम*—इसके चार अङ्क और सोलह नायक होते हैं। इसमें रौद्र रस का प्राधान्य रहता है। इसके नायक देवता, दैत्य वा अवतार होते हैं और इसमें जादू तथा माया-जाल रहता है। इसमें भी शृङ्गार और हास्य वर्जित हैं और कौशिकी वृत्ति को स्थान नहीं मिलता।

उदाहरण—संस्कृत में त्रिपुरदाह। भाषा में कोई नहीं।

७—*ईहामृग*—इसमें एक धीरोदात्त नायक और एक प्रतिनायक होता है। नायक किसी कुमारी की स्पृहा करता है। वह मृग की भाँति दुष्प्राप्य हो जाती है। प्रतिनायक उसे नायक से छुड़ाना चाहता है उसके लिए युद्ध भी होता है। मिलन तो नहीं होता किन्तु किसी का मरण भी नहीं होता। इसमें चार अङ्क होते हैं।

उदाहरण नहीं है।

८—*अङ्क*—इसमें एक ही अङ्क होता है। यह करुण-रस प्रधान होता है। इसका नायक गुणी और आख्यान-प्रसिद्ध होता है किन्तु वह प्राकृत मनुष्य होता है। इसमें मुख और निर्वहण संधियाँ ही होती हैं।

उदाहरण—शर्मिष्ठा-ययाति।

९—*वीथी*—भाण की भाँति इसमें भी एक अङ्क रहता है। इसका

विषय कल्पित होता है। इसमें शृङ्गार रस का प्राधान्य रहता है और तदनुकूल कौशकी वृत्ति भी होती हैं।

उदाहरण—'लीलामधुकर'।

१०—*प्रहसन*—इसमें हास्य-रस की प्रधानता रहती है। इसमें एक ही अङ्क होता है और मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं।

उदाहरण—'अंधेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।' प्रहसन के रूप में लिखे गये मोलियर के नाटक या और हास्य-रस-प्रधान नाटक सब एकाङ्की नहीं होते। प्राचीन परिभाषा में प्रहसन एकाङ्की ही होता था। हमारे यहाँ एकाङ्की नाटकों का अभाव न था। भाण, वीथी आदि एकाङ्की होते थे।

उपरूपकों के अठारह भेद हैं। उनके नाममात्र यहाँ पर दिये जाते हैं। उनकी व्याख्या करना पुस्तक को अनावश्यक विस्तार देना होगा। उपरूपकों के नाम इस प्रकार हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य-रासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका हल्लीश और भाणिका।

आजकल हिन्दी नाटकों में इन भेदों का कोई उपयोग नहीं होता। आजकल हिन्दी नाटकों में प्रायः विषय का भेद रहता है। जैसे—ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक। सुखान्त, दुःखान्त का भी भेद हो जाता है। कहीं-कहीं यथार्थवाद और आदर्शवाद का भी भेद किया जाता है। वस्तु-प्रधान और भाव-प्रधान का भी भेद हो सकता है। कुछ नाटक, जैसे—ज्योत्स्ना, कल्पना-प्रधान कहे जा सकते हैं। एकाङ्की, गीत-नाट्य आदि और भी प्रचलित भेद हैं।

रङ्गमञ्च

यद्यपि सब नाटक खेले जाने के ही लिए नहीं लिखे जाते क्योंकि बहुत सी नाटक नाम की रचनाएँ रङ्गमञ्च की वस्तु न होकर कक्षस्थ मञ्चिका (कुर्सी) पर बैठे हुए पाठकों के हाथ की शोभा बढ़ाते हैं तथापि उनके अभिनेय होने में ही उनकी पूर्ण सार्थकता है। हिन्दी का स्वतन्त्र रङ्गमञ्च न होने के कारण नाटककार अपनो रचनाओं के अभिनेयत्व पर ध्यान नहीं देते किन्तु यह उनकी अपूर्णता ही कही जायगी। हर्ष की बात है कि आधुनिक नाटककार इस बात का अधिक ध्यान रखते हैं।

संस्कृत नाटक प्रायः अभिनय योग्य होते थे। कुछ लोगों का विचार है कि उत्तररामचरित जैसे क्लिष्ट नाटक श्रव्य अधिक थे। किन्तु उनकी प्रस्तावना से तो यही प्रतीत होता है कि वे खेले जाने के लिए ही लिखे गये थे।

नाट्यशास्त्र में अभिनय और रङ्गमञ्च का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जाता था। भरतमुनि ने तीन प्रकार की नाट्य-शालाओं का उल्लेख

नाट्य-शालाओं के प्रकार

किया है। चतुरस्र—जिनकी लम्बाई चौड़ाई बराबर होती थी (१०८ हाथ का ज्येष्ठ, ६४ हाथ का मध्यम, ३२ हाथ का कनिष्ठ)। विकृष्ट—जिनकी लम्बाई चौड़ाई से दूनी होती थी, इनके भी तीन भेद होते हैं, ज्येष्ठ की लम्बाई १०८, मध्यम की लम्बाई ६४ हाथ और कनिष्ठ की लम्बाई ३२ हाथ होती है। त्र्यस्र—यह त्रिकोण के आकार का होता था। विकृष्ट ही अधिक अच्छा माना जाता था। चतुरस्र देवताओं के लिए होते थे, विकृष्ट मनुष्यों के लिए और त्र्यस्र घरेलू सीमित दर्शकों के लिए।
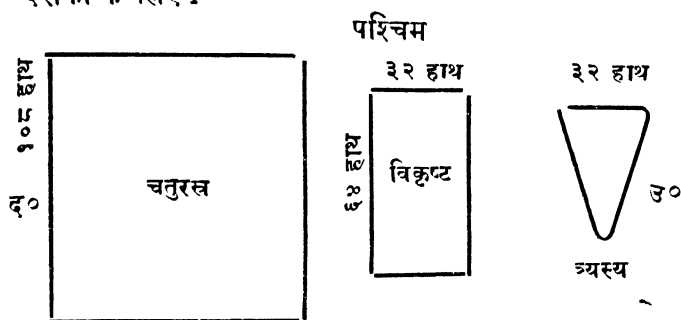
यहाँ पर हम एक विकृष्ट रङ्गमञ्च के विभाग देकर उस समय की नाट्य-शाला का दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं।

नाट्य-शाला के दो सम भाग रहते थे। पीछे का 'क' भाग अभिनय

नाट्य-शाला के भाग

के लिए और आगे का 'ख' भाग दर्शकों के लिए। पिछले भाग के दो और भाग रहते थे। सबसे पिछले
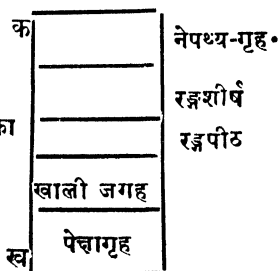
भाग को नेपथ्य-गृह कहते थे। इसमें नट लोग अपनी वेश-भूषा सजाते थे और यदि कोई कोलाहल या और कोई जन-रव सुनाना होता था तो इसी में से सुनाया जाता था (पुराने नाटकों में ऐसा संकेत रहता था—'नेपथ्ये' या 'नेपथ्य में')। नेपथ्य-गृह के आगे के भाग के भी दो भाग रहते थे। नेपथ्य-गृह से मिले हुए भाग को रङ्गशीर्ष और उसके आगे के भाग को रङ्गपीठ कहते थे। रङ्गशीर्ष और रङ्गपीठ के बीच में जवनिका रहती थी। रङ्गशीर्ष में नाना प्रकार की चित्रकारी दिखाई जाती थी। सम्भवतः और पर्दे भी रहते थे; उसमें जो लकड़ी के खम्बे आदि रहते थे, उन पर सुन्दर नक्कासी का काम रहता था। नीचे की भूमि चिकनी होती थी। रङ्गपीठ से चार हाथ दूरी पर प्रेक्षक गण बैठते थे। रङ्गशीर्ष में ही प्रारम्भिक पूजा आदि होती थी। असली अभिनय रङ्गशीर्ष में ही दिखाया जाता था। रङ्गपीठ में तो ऐसे ऊपरी कृत्य होते थे, जो शायद दृश्य बदलने के समय होते हों। इसमें नाच आदि भी हुआ करता था। सूत्रधार भी अपनी प्रारम्भिक सूचनाएँ यहीं से देते थे।

आगे के 'ख' भाग में जो दर्शकों के लिए होता था, सोपानाकार बैठकें (जो आजकल की गैलरियों से मिलती-जुलती होंगी) होती थीं। ये बैठकें भिन्न-भिन्न वर्ण के लोगों के लिए अलग-अलग होती थीं। इन बैठकों के बीच स्थित खम्भों के रङ्ग से यह निश्चय हो जाता था कि वे किस वर्ण के लोगों के लिए हैं। नेपथ्य-गृह और रङ्गशीर्ष के बीच में दो द्वार होते थे। इनमें से ही निश्चित नियमों के अनुसार अभिनेता आया जाया करते थे। इन सब चीजों के अतिरिक्त बाँसों या कपड़े या चमड़े का और भी सामान रहता था जिससे घोड़े, रथ आदि दिखाये जा सकें।

नाटक और अभिनेयत्व

नाटक के लिए अभिनय योग्य होना क्या आवश्यक है, यह प्रश्न कुछ विवादग्रस्त होता जाता है। वैसे तो नाटक, रूपक आदि शब्द अभिनय से ही सम्बन्ध रखते हैं और इससे प्रतीत होता है कि नाटक मूलरूप से अभिनय के लिये ही लिखे जाते थे (नट या अभिनेता से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु नाटक कहलाती है) किन्तु कालान्तर में नाटक कथानक और शैली के ही लिये लिखे जाने लगे। यद्यपि नाटक की पूर्णता अभिनय में ही है और अभिनय योग्य नाटकों में रङ्गमञ्च की आवश्यकताओं और प्रभाव का ध्यान रक्खा जाता है

तथापि अभिनेयत्व के अभाव के कारण किसी नाटक को हम हेय नहीं ठहरा सकते हैं। केवल पढ़े जाने वाले नाटकों को अँग्रेजी में (Closet Drama) अर्थात् कक्ष-नाटक कहते हैं। जो लोग इस प्रकार के नाटक लिखते हैं उनका कथन है कि कलाकार स्वान्तः सुखाय लिखता है और उसके लिये रङ्गमञ्च का प्रश्न इतना ही गौण है जितना कि पैसे का। इसका दूसरा पक्ष भी है। अनुकरण नाटक की जान है। यही उसको साहित्य की अन्य विधाओं से पृथक करती है। अनुकरणकर्त्ताओं और दर्शकों की सुविधा के अनुकूल उसका संगठन होता है। इस सम्बन्ध में हम केवल इतना ही कहेंगे कि नाटक के मूल उद्देश्य में तो अभिनेयत्व आवश्यक है किन्तु अच्छी साहित्यिक शैली अभिनेयत्व की कमी को किसी अंश में पूरा कर देती है और गीत, शब्दावली आदि कल्पना के सहारे उचित वातावरण और दृश्य-विधान को उपस्थित कर देती है। यद्यपि उसमें अभिनय-की-सी सजीवता नहीं आती है तथापि साहित्यिक नाटकों में गौरव और शालीनता बढ़ जाती है। इस प्रकार के नाटकों को हम दृश्य और श्रव्य काव्य के बीच की वस्तु कहेंगे। अभिनेयत्व भी एक सापेक्ष शब्द है, जो नाटक साधारण रङ्गमञ्च और दर्शकों के लिये अभिनय-योग्य न समझा जाय वह एक विदग्ध समाज में अभिनेय हो सकता है। कुछ लोग रङ्गमञ्च के योग्य नाटकों और साहित्यिक नाटकों का पार्थक्य करते हैं। साहित्यिक नाटक रङ्गमञ्च के योग्य नहीं हो सकते और रङ्गमञ्च के योग्य नाटक साहित्यिक नहीं हो सकते, जैसे बेताव या राधेश्याम के नाटक, किन्तु यह बात सर्वथा ठीक नहीं है। दोनों गुणों का सुखद समन्वय किया जा सकता है। इसके लिए कुछ रङ्ग-मञ्च के उत्थान की भी आवश्यकता है।

हिन्दी रङ्गमञ्च

हिन्दी नाटकों के अभिनय के सम्बन्ध में यहाँ दो एक शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा। जब हिन्दी नाटक लिखे जाने आरम्भ हुए तब उर्दू का बोलबाला था। पारसी थिएट्रिकैल कम्पनियाँ व्यावसायिक ढंग पर चल रही थीं। जनता की रुचि परिमार्जित न थी। बदलते हुए रङ्ग-विरङ्गे पर्दे तथा चमकीली-भड़कीली पोशाकों तथा एक खास ढंग के गानों को सुनकर वे लोग मुग्ध हो जाते थे। वे लोग अधिकतर 'इन्द्र-सभा', 'गुलबकावली' जैसे नाटक खेलते थे। यदि वे लोग कभी हिन्दी नाटक खेलने

का साहस करते तो वे न हिन्दी शब्दों का शुद्ध उच्चारण कर सकते और न उन नाटकों के अनुकूल वातावरण ही जुटा सकते थे। भगवान् कृष्ण को बिरजिस पहनाकर खड़ा कर देते थे। पोशाकों में वे देश-काल का ख्याल नहीं करते थे। यह ऐसा ही हास्यास्पद हो जाता था, जैसा कि भगवान् रामचन्द्र की सवारी को आजकल भी 'रोल्सरोइस' मोटर में चित्रित कर हनुमानजी को ड्राइवर बना देना और फिर अपनी सूझ-बूझ पर दाद चाहना। पारसी नाटक-मण्डलियों का प्रभाव व्यापक हो चला था। जो और नाटक-मण्डलियाँ बनती थीं, वे भी उनका आदर्श लेकर चलती थीं। बंगाल भी उनके प्रभाव से न बचा किन्तु वहाँ वह प्रभाव कुछ न्यून रूप में रहा। दक्षिण में प्राचीन देशी पद्धति कायम रही। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पारसी थियेट्रिकैल कम्पनियों द्वारा खेले हुए नाटकों का बड़ा हास्य-प्रद चित्र खींचा है, देखिए :—

"काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त (धीरललित) नायक दुष्यन्त खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थीबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता, वे लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। "

भारतेन्दु जी भी अपने नाटकों का अभिनय करते थे। बलिया में उन्होंने बड़ी सफलता के साथ 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अभिनय किया था। नाटकों में साहित्यिकता का तो विकास होता रहा किन्तु रङ्गमञ्च में कोई उन्नति नहीं हुई।

हरिश्चन्द्र के युग के आस-पास हिन्दी रङ्गमञ्च के अस्तित्व में लाने के प्रयत्न हुए। सन् १८६१ में पंडित शीतला प्रसाद त्रिपाठी का बनाया हुआ 'जानकी-मङ्गल' नाटक बनारस थियेटर्स में धूम-धाम से खेला गया था। कानपुर में भी 'रणधीर-प्रेम-मोहनी' तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र' का सफल अभिनय हुआ किन्तु ये प्रयत्न किसी स्थायी रङ्गशाला की स्थापना में और उसके विकास में सहायक न हो सके, फिर भी उद्योग जारी रहे। हिन्दी का रङ्गमञ्च कुछ शिक्षित लोगों के व्यसन के रूप में अपना मरता-गिरता अस्तित्व अवश्य रखता है किन्तु वह जनसाधारण की वस्तु न बन सका। वास्तविक रङ्गमञ्च पारसी

नाटक कम्पनियों के हाथ में था और उसमें उर्दू का बोल-बाला रहा। वे जनता का आकर्षण अवश्य कर सकीं किन्तु एक सजीव संस्था न हो पाईं। श्री राधेश्याम जी कथावाचक, श्री बेताब जी आदि ने कुछ ऐसे नाटक (जैसे, वीर अभिमन्यु, महाभारत आदि) अवश्य दिये जो उस प्रकार के रङ्गमञ्च की अनकूलता प्राप्त कर सके। शायद उस परम्परा में और विकास होता किन्तु सिनेमा के प्रादुर्भाव के साथ रङ्गमञ्च का पटाक्षेप-सा होगया।

हिन्दी नाटकों के अभिनय में व्याकुल जी की 'भारत-नाटक-मण्डली' ने सराहनीय योग दिया किन्तु वह अधिक दिन जीवित न रह सकी। यह भी एक स्फुट प्रयत्न ही था। हिन्दी रङ्गमञ्च वैयक्तिक अथवा साहित्यिक संस्थाओं की वस्तु बना हुआ है। राजा-रईसों के मनोविनोद के लिए यत्र-तत्र निजी नाटक-मण्डलियाँ जीवित रहीं। स्कूल-कालेजों और साहित्यिक उत्सवों पर डी० एल० राय, प्रसाद, उग्र, आदि के नाटकों का अभिनय हुआ। प्रसाद जी के नाटकों का थोड़ा-बहुत काट-छाँट के साथ साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन जैसे साहित्यिक समारोहों पर प्रदर्शन हुआ। श्री माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन-युद्ध' का भी सुन्दर अभिनय हो चुका है। पंडित बदरीनाथ भट्ट की 'चुङ्गी की उम्मीदवारी' ने कुछ दिनों जनता का अच्छा मनोरञ्जन किया था।

अब एकाङ्की नाटकों के प्रचलन से अभिनय-कला को कुछ प्रोत्साहन मिला। एकाङ्कियों के अभिनय में अपेक्षाकृत कम साज-सामान की आवश्यकता होती है। श्री रामकुमार वर्मा के 'अट्ठारह जुलाई की शाम', श्री जगदीशचन्द्र माथुर के 'भोर का तारा', 'कलिङ्ग विजय' आदि एकाङ्कियों का अभिनय कालेजों में बड़ी सफलतापूर्वक हुआ। बड़े नाटकों का झुकाव भी संक्षिप्तता की ओर हो गया है और भाषा भी कुछ सरलता की ओर जारही है। प्रसाद जी के नाटकों की अभिनेयता में उनका अत्यधिक विस्तार तो बाधक था ही किन्तु उनकी संस्कृतगर्भित दार्शनिकता-प्रधान भाषा ने उनको जनसाधारण की पहुँच से बाहर कर दिया। वास्तव में प्रसाद जी के नाटकों के लिये दर्शक और अभिनेता दोनों का ही सुसंस्कृत होना अपेक्षित है। उसी के अनुकूल रङ्गमञ्च और दर्शक चाहिएँ। भाषा की दुरूहता के सम्बन्ध में प्रसाद जी का मत है कि अच्छे अभिनेताओं के हाथ में भाषा दुरूह नहीं

रह जाती; वह अभिनय की टीका के साथ सुबोध हो जाती है। अवाक् चित्रपट तो बिना शब्दों के ही सुबोध होता है। यहां हम स्वयं प्रसाद जी का ही मत उद्धृत करते हैं—

'रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रङ्गमञ्च के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रङ्गमञ्च हो, जो व्यावहारिक है। हाँ रङ्गमञ्च पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है।'

प्रसादजी ने हिन्दी रङ्गमञ्च की असफलता का एक कारण यह भी बतलाया है कि हिन्दी रङ्गमञ्च को स्त्रियों का सहयोग न मिल सका। इसके कारण स्त्री-पात्रों का ठीक अभिनय नहीं हो पाता। उच्च वर्ग के लोगों में विशेषकर संयुक्तप्रान्त में संगीत-शास्त्र का आदर वैसा नहीं है जैसा कि होना चाहिए, इसी कारण हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त में नाट्य-कला का ह्रास हो रहा है। व्यापारिक दृष्टि से नाट्य-कला में भाग लेना तो निन्द्य है ही किन्तु इसमें शौकिया भाग लेने वाले भी कम रहे। बंगाल और गुजरात में ऐसा नहीं था। वहां इस कला की अपेक्षाकृत उन्नति भी रही।

हिन्दी रङ्गमञ्च का तभी उद्धार हो सकता है जब पंत, निराला, उदयशङ्कर भट्ट, विष्णु प्रभाकर आदि इसके विकास में क्रियात्मक सहयोग दें और शिक्षित युवक और युवतियाँ अभिनय में भाग लें। साथ ही ऐसे नाटकों की सृष्टि की जाय जो तुकबन्दी के बिना प्रवाह-मय हों और जिनमें रङ्गमञ्च की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए जीवन की स्वाभाविकता के साथ साहित्यक सौष्ठव और शालीनता वर्तमान रहें।

सिनेमा और रङ्गमञ्च

यहाँ पर दो एक शब्द सिनेमा के सम्बन्ध में कह देना अनुपयुक्त न होगा। जैसे ही हिन्दी के सम्बन्ध में कुछ जागृति बढ़ी वैसे ही सिनेमा का उदय हुआ। उसने जनता के मनोरंजन के लिए रङ्गमञ्च का स्थान ले लिया। सिनेमा में कुछ सुभीते अवश्य हैं, जो नाटक में नहीं हैं। सिनेमा में चाहे कला कम हो किन्तु वातावरण की वास्तविकता अधिक लाई जा सकती है। स्टेज पर लड़ती हुई रेल, डूबते हुए जहाज या आधुनिक युद्ध या दृश्य दिखाना कठिन होगा। सिनेमा के लिए सब दृश्य सुलभ है। उसमें सब चीज हस्तामलक हो सकती है। इसलिए सिनेरियाँ

लिखने वाला अपने कथानक में दृश्यों को अधिक रख सकता है। उसके लिए घटनाओं की सूचना देने की जरूरत नहीं रहती। उचित वातावरण उपस्थित करने के लिए नाटक-मंडलियों को लम्बा-चौड़ा आडम्बरपूर्ण स्टेज का सामान रखना पड़ता है। सिनेमा में यह सब झंझट बच जाती है। फिल्म बनाने वाले को ही सब सामान जुटाना पड़ता है। सिनेमा-भवन वालों को कोई झंझट नहीं करनी पड़ती। सिनेमा का एक ही खेल कई स्थानों में हो सकता है।

ये सब सुभीते होते हुये भी सिनेमा (अभी वर्तमान स्थिति में) रङ्गमञ्च का स्थान नहीं बन सकता। सिनेमा आखिर छाया है। वस्तु और छाया में बहुत भेद है। हम सिनेमा में यह भूल नहीं सकते कि हम छाया-चित्र देख रहे हैं। नाटक भी वास्तविकता की नकल है किन्तु सिनेमा नकल की नकल है। सिनेमा के अभिनय में दिन-प्रतिदिन उन्नति की सम्भावना नहीं रहती। जो भूल होगई, सो हो गई। वह पत्थर की लकीर बन जाती है। इन सब बातों के अतिरिक्त सिनेमा के अभिनेताओं को दर्शकों के प्रत्यक्ष साधुवाद का प्रोत्साहन नहीं मिलता। इस कारण भी अभिनय में कुछ अन्तर आ जाता है। सिनेमा में रंगीन फिल्में तो बन गई हैं किन्तु अभी चित्रों में आयाम का स्थूलत्व दृष्टिगोचर नहीं होता है। जब लम्बाई-चौड़ाई के साथ गहराई और उभार भी पूर्णरूपेण परमार्जित हो तब वास्तविकता का कुछ भाव हो सकेगा फिर भी वे नाटक के पात्रों की भांति हाड़-मांस नाम के स्त्री-पुरुष न बन सकेंगे।

इंगलैण्ड, अमरीका आदि देशों में सिनेमा की चरम उन्नति होते हुए भी नाटक का मान है। थिएटरों में बैठने के लिए स्थान बहुत पहले से सुरक्षित कराना पड़ता है। इसलिए सिनेमा के अस्तित्व से नाट्य-कला का ह्रास हो जाना आवश्यक नहीं है। यद्यपि गुणग्राहकों की कमी है तथापि सच्चे गुण का मान हुए बिना नहीं रहता।

पश्चिमी नाट्य-साहित्य

पाश्चात्य देशों के विचारों का मूल स्रोत यूनान और रोम की गङ्गा-जमुनी धाराओं में है। स्वयं यूनान ने मिश्र देश से प्रेरणा ग्रहण की थी। उनके नाटकों का स्थानीय आधार अवश्य था किन्तु जहां तक आदर्शों का सम्बन्ध था, वे यूनान और रोम से प्रेरणा ग्रहण

करते थे। पश्चिमी नाटकों की गति-विधि को समझने के लिये हमको रोम और यूनान के नाटकों का चलता परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक हो जाता है।

यूनान में भी अन्य प्राचीन देशों की भांति धर्म की प्रधानता थी। वहां के नाटकों का उदय धार्मिक नृत्य और गीतों से भरा हुआ था। ये गीत डाइयोनिसस (Dionysus) की प्रसन्नतार्थ वर्षारम्भ के समय गाये जाते थे। इस अवसर पर लोगों के हृदय में एक विशेष आतङ्क और आदर-भाव छाया रहता था। इस समय के गीत अधिकतर गाम्भीर्यपूर्ण होते थे। ये गीत डाइयोनिसस देवता के अनुकरण में बकरी की खाल ओढ़कर गाये जाते थे क्योंकि उस देवता का धड़ और टाँगें बकरी की खाल-सी थीं। अतः इनसे विकसित होने वाले करुणात्मक नाटक ट्रेजेडी कहलाते थे। डाइयोनिसस का जीवन भी करुणात्मक था। ट्रेजेडी (Tragedy) यूनानी ट्रैगांस शब्द से, जिसका अर्थ बकरा है, बना है। ये नाटक यद्यपि सब दु:खान्त नहीं होते थे तथापि इसमें गाम्भीर्य-भाव स्थित रखने के लिये करुण और भय के भाव (The emotions of Terror and Pity) का प्राधान्य रहता था। गाम्भीर्य बढ़ाने के लिये ही ये नाटक प्रायः दुःखान्त होने लगे और इनमें घोर और भयानक घटनाओं का समावेश होना आरम्भ हुआ। मृत्यु से बढ़कर कौन-सी चीज गाम्भीर्यवर्धक हो सकती है? इसीलिये ट्रेजेडी का मृत्यु से सम्बन्ध हो गया।

जिस अवसर पर ये करुणात्मक गीत नाट्य होते थे वह यद्यपि नव वर्ष से सम्बन्ध रखता था तथापि उसमें पिछले नव वर्ष के गर्व के लिये मृत्यु-दण्ड का भाव लगा रहता था। अरस्तू ने ट्रेजेडी की परिभाषा दी थी उसमें तो गाम्भीर्य का ही भाव था किन्तु पीछे से उसके साथ मृत्यु का सम्बन्ध हो गया। यह परिभाषा कुछ अनिश्चित सी है और इसमें भी भरत के सूत्रों की भांति व्याख्या की विविधता की गुंजाइश है:—

'Tragedy, then is an imitation of some action that is serious, entire, of some magnitude, by language embellished and renderd pleasurable by different means in different parts, presented not through narration but in action, effecting through pity and terror the purgation o these passions'.

इस परिभाषा से प्रतीत होता है कि ट्रेजेडी या करुणात्मक नाटक किसी गम्भीर, पूर्ण, और बड़े कार्य के अनुकरण थे। यह अनुकरण विवरण में नहीं वरन् कार्य में होता है (यही अन्तर महाकाव्य और नाटक का है महाकाव्य में विवरण रहता है, नाटक में अनुकरण कार्य द्वारा होता है) और इसकी भाषा विविध स्थानों में विविध साधनों द्वारा अलंकृत और प्रसादपूर्ण (Pleasurable) बनाई जाती है। इसका फल भय और करुणा को जाग्रत कर इन भावों का रेचन (निकास) है। इस परिभाषा का अन्तिम अंश ही सबसे संदिग्ध है, इसमें यह स्पष्ट नहीं है कि रेचन भी भय और करुणा का ही होता है या और किन्हीं का।

यूनान के दुःखान्त नाटक-लेखकों में ईस्किलस (Aeschylus), सोफीक्लीज (Sophocles), युरोपिडीज (Euripides) मुख्य हैं।

गीत के उदय होने के कारण यूनानी नाटकों में सामूहिक गान की, जिसको कोरस (Chorus) कहते हैं, प्रधानता रहती थी। इसके बीच में आजाने से दृश्य विभाजित हो जाते थे। यूनानी दुःखान्त नाटक प्रायः चेहरे या मुखौटे (Masks) लगाकर खेले जाते थे। अभिनेता लोग विशाल लगने के लिये ऊंची एड़ी के जूते पहन लेते थे। ये जूते बस्किन (Buskin) कहलाते थे।

यद्यपि चेहरे स्वाभाविकता के लिये लगाये जाते थे तथापि ये अभिनय-कला के विकास में बाधक रहे। बनावटी चेहरों में भावों का उतार-चढ़ाव कहां ? यूनान के नाट्य-गृहों के विशाल और खुले होने के कारण उनमें अभिनय-कौशल दिखलाना भी कठिन था।

यूनानी हास्य-नाटक (Comedy) का भी उदय उत्सवों में होने वाले जन-मनोरञ्जन से हुआ। होली की भाँति उन उत्सवों में भी अश्लीलता का प्राधान्य रहता था। पीछे से इसका निराकरण हो गया। ये हास्य-नाटक जीवन के कुछ अधिक निकट थे क्योंकि करुणात्मक नाटकों का सम्बन्ध तो अधिकतर देवताओं और नेताओं से ही रहता था। ऐसे नाटकों के विषयों में पर्याप्त वैविध्य रहता था। यद्यपि हास्य-नाटकों का उदय भी डाइयोनिसस की ही पूजा से हुआ था तथापि इनके प्रचार करने वाले वे लोग थे, जो कि खेल-तमाशे के लिए धार्मिक कृत्यों में शामिल होते हैं। ये लोग स्वाँग रचकर अपना मन हलका कर

लेते थे। किन्तु इनमें तत्कालीन जीवन की अधिक आलोचना रहती थी और कभी-कभी तत्कालीन अधिकारियों की हँसी भो उड़ाई जाती थी। यूनानी हास्य-नाटककारों में मिनेन्डर ने बड़ी ख्याति पाई है।

पश्चिमी सभ्यता यूनान से हटकर रोम में पहुँची। यद्यपि रोमन लोग विजेता थे तथापि वे विजित यूनानियों से पूरी तौर से प्रभावित हुए थे। रोम ने राजनीतिक विजय पाई थी किन्तु सांस्कृतिक विजय यूनान की ही हुई। रोम में यूनानी हास्य-नाटकों का अनुकरण हुआ और इनके लिखने में वे लोग अधिक सफल रहे। इनकी संख्या भी अधिक रही। रोम के करुणा-प्रधान नाट्यकारों में केवल सिनेका (Seneca) का नाम मिलता है। इसके नाटक श्रव्य अधिक थे, दृश्य कम।

रोम में भी अभिनय-कला की उन्नति न हो सकी क्योंकि उनके यहाँ अभिनेता लोग अधिकतर दास होते थे। रोम में नाटकों द्वारा विलासिता और क्रूरता के दृश्यों का प्रचार होने लगा, इसी कारण धार्मिक समाज में उन नाटकों का विरोध हुआ और वहाँ पर नाट्य-कला का ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। रोमन नाटकों का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने यूरोप के नाटकों को प्रभावित किया।

मनुष्य की प्रकृति खेल-तमाशे चाहती है। जिस धर्म ने नाटकों का विरोध किया था उसने नाटकों को दूसरे रूप में अपनाया।

यूरोप के प्रारम्भिक नाटक राम-लीलाओं की तरह अधिकतर धार्मिक होते थे। उनमें ईसामसीह तथा उनके शिष्यों की जीवन-घटनाओं का अभिनय रहता था। ये रहस्य और चमत्कार-सम्बन्धी नाटक (Mystry and Miracle Plays) कहलाते थे। इनके पश्चात् नीति-प्रधान नाटक (Morality Plays) आये। ये नाटक प्राय: रूपक और अन्योक्ति-प्रधान होते थे। कभी-कभी इनमें अपने यहां के प्रबोधचन्द्रोदय आदि नाटकों की भांति धैर्य, करुणा आदि अमूर्त्त धार्मिक भावनाओं को पात्र बना दिया जाता था।

यूरोप में आधुनिक ढंग के नाटकों का उदय पुनरुत्थान काल (Renaissance) से हुआ है। उन दिनों प्राचीन आदर्शों की उपासना-सी होने लगी थी। यूनान और रोम के आदर्श तो वे ही रहे किन्तु विषय में परिवर्तन हो गया। नाटकीय कथावस्तु में प्रेम का अधिक समावेश होने लगा। इसी को नियो-क्लासिक (Neo Classic)

अर्थात् अभिनव प्राचीनतावादी युग कहते हैं। इसके पश्चात् स्वातन्त्र्य युग (Romantic) आया। इसमें विषय तो प्रेम ही रहा, कथावस्तु में अभिजातवर्ग की ही प्रधानता रही किन्तु प्राचीन नियमों की अवहेलना होने लगी। यह अवहेलना स्वाभाविक ही थी क्योंकि नियम परिस्थितियों के अनुकूल बनते हैं। वे नियम बदलती हुई परिस्थिति में केवल नियम होने के कारण उपास्य नहीं हो सकते। इस स्वातन्त्र्य-युग में सुखान्त नाटकों में करुणात्मक तत्वों का समावेश होने लगा था।

प्रसंगवश यहां पर प्राचीन यूनान के नियमों में से संकलन-त्रय के नियम का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। प्राचीन नाटकों में स्थल, काल और कार्य की एकता की ओर अधिक ध्यान जाता था। वे चाहते थे कि जो घटनाएँ नाटक में दिखाई जायँ, उनका सम्बन्ध एक ही स्थान से हो; यह नहीं कि एक दृश्य आगरे का हो तो दूसरा दृश्य कलकत्ते का। इसी को वे स्थल की एकता (Unity of place) कहते थे। दूसरी बात यह थी कि जो घटना नाटक में दिखाई जाय, वह वास्तव में उतने समय की हो जितना कि नाटक के अभिनय में लगता हो। उसको वे समय की एकता (Unity of Time) कहते थे। ऐसा करने में वास्तविक समय का रङ्गमञ्च के समय से ऐक्य हो जाता था। तीसरी बात यह थी कि कथावस्तु एकरस हो। इस एकरसता को निभाने के लिए प्रासङ्गिक कथाओं को स्थान नहीं मिल सकता था। इस नियम को कार्य की एकता (Unity of Action) कहते थे।

संकलन-त्रय
Three Unities

ये तीनों बातें यूनानी रङ्गमञ्च की आवश्यकताओं के परिणाम-स्वरूप थीं। वहां के नाटकों में दृश्य नहीं बदले जाते थे। सामूहिक गान द्वारा, जिसको वे Chorus कहते थे, दो दृश्यों में अन्तर डाल दिया जाता था। वही पर्दे का काम करता था। उनके रङ्गमञ्च पर वास्तव में स्थान बदलता नहीं था। इसीलिए वे स्थान की एकता पर जोर देते थे। यूनानी नाटक आजकल के नाटकों की भांति दो या तीन घण्टे के नहीं होते थे। वे बड़ी देर तक (प्राय: दिन भर से भी अधिक) चलते थे। इसलिए वे समय की काट-छाँट में विश्वास नहीं रखते थे।

कार्य की एकता वैसे तो नाटक की प्रधान आवश्यकताओं में से है, इससे नाटक में उच्छृङ्खलता नहीं आने पाती, किन्तु उन्होंने इसे एक

अनुचित सीमा तक पहुँचा दिया था। यह उनके अनुकरणप्रधान आदर्श के अनुकूल था। वे रङ्गमञ्च और वास्तविक घटनाओं में भेद नहीं रखना चाहते थे। किन्तु कला अनुकरणमात्र नहीं है, उसमें चुनाव रहता है। प्रभाव के लिए घटनाओं को व्यवस्थित रूप में रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त किसी घटना को समझाने के लिए उसके पूर्व घटी हुई बातों का बतलाना भी आवश्यक होता है।

नाटकों में केवल विवरण (Narration) से काम नहीं चलता उसमें क्रिया और प्रत्यक्ष अभिनय का अधिक मूल्य होता है। पूर्व की घटनाएँ सब एक ही स्थल में घटित नहीं होतीं। आजकल का समाज पहले से अधिक पेचीदा है। हमारे सम्बन्धों का जाल बहुत दूर तक फैला रहता है। ऐसे समाज में स्थल की एकता का नियम निभाना बड़ा कठिन हो जाता है। इसके लिए पट-परिवर्तन का साधन भी अच्छा है। पर्दे के साथ-साथ ही वातावरण बदल जाता है। आजकल तो बिना पर्दा उठे ही सभी वातावरण और का और हो सकता है। फिर आजकल के लोग स्थलैक्य की क्यों परवाह करने लगे ? संस्कृत नाटकों में भी स्थलैक्य की परवाह नहीं की गई। शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' (Tempest) के सिवाय और किसी नाटक में इन नियमों का निर्वाह नहीं हुआ। मिल्टन के सेम्सन एगनोस्टीस (Samson Agonistes) में यूनानी आदर्शों का पूर्णतया निर्वाह हुआ है। संस्कृत नाटककार स्थल बदलने के लिए नाटक के भीतर ही पर्याप्त व्याख्या रखते थे। उत्तररामचरित में श्री रामचन्द्र जी अनायास हो दण्डक वन नहीं पहुँच जाते। नाटकीय प्रभाव के लिए श्री रामचन्द्र जी का दण्डक वन जाना आवश्यक था। किन्तु इस नियम की अवहेलना करने का यह अभिप्राय नहीं है कि चाहे जैसे दृश्य रख दिये जायँ। एक अङ्क के भीतर ही एक साथ लाहौर और न्यूयार्क के दृश्य रख देना ठीक नहीं क्योंकि वहाँ पहुँचने में भी समय लगता है। राम को दण्डक वन भेजने के लिए नाटककार को शम्बूक की कथा लानी पड़ी।

संस्कृत नाटकों में काल-सङ्कलन का नियम किसी अंश में पाला जाता था। एक अङ्क में वर्णित कथा एक दिन से अधिक की होने का निषेध है और दो अङ्कों के बीच में एक वर्ष से अधिक का व्यवधान वर्जित था। पीछे के नाटककारों ने जिनमें शेक्सपियर भी था इन नियमों को नहीं पाया। यद्यपि अपने यहाँ यह नियम बड़ा कड़ा

था 'वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्' तथापि इस नियम की भी उत्तररामचरित में अवहेलना हुई। पहले और दूसरे अङ्क के बीच में ही बारह वर्ष का व्यवधान है, किन्तु इस अन्तर को नाटककार बड़े कौशल के साथ दिखाया है। आत्रेयी द्वारा बालकों के बारह वर्ष का हो जाना बतलाया है। हाथी के बच्चे की उम्र से भी समय का भान कराया गया है। श्री रामचन्द्र जी पूर्व-परिचित दृश्यों को देख कहने लग जाते हैं कि ये गिरि, पर्वत और नदियाँ तो वे ही हैं:—

'बहु दिन पाछें विपरीत चिह्न देखन सों,
यह कोऊ भिन्न बन से न जिय आवै है।
जहाँ के तहाँ पै किन्तु अचल हेरि,
सोई पंचवटी त्रिसास ये दृढ़ावै है॥'

इस उक्ति के द्वारा समय का व्यवधान कुछ घटा हुआ सा प्रतीत होने लगता है। आचार्यों ने व्यायोग और समवकार में आने वाली घटनाओं के लिए काल निश्चित कर दिया था।

कार्य की एकता हर समय के नाटकों में एक आवश्यक तत्व रहता है किन्तु एकता का मतलब शुष्क वैविध्यहीन एकता नहीं। प्रासङ्गिक घटनाओं का बिलकुल वहिष्कार कर नाटक में एकरसता लाना उसके महत्त्व को कम करना है। वैविध्य में ही एकता का महत्त्व है। एकरसता से तो जी ऊब जाता है। अनेकता में एकता स्थापित करना वस्तु को संगठित बनाना है। बिना अवयवों के संगठन कैसा? सूखे शहतीर-की-सी निरवयव एकरसता निर्जीव हो जाती है। हरे-भरे वृक्ष-का-सा वैविध्य-पूर्ण स्कन्ध-शाखामय ऐक्य ही दर्शकों के लिए नयनाभिराम होता है।❀

रोमान्टिक स्कूल के लोगों ने स्थल और समय की एकता की अवहेलना की और कार्य की एकता को उन्होंने ऊपर के बतलाये हुए व्यापक अर्थ में लिया। रोमान्टिक स्कूल वालों में और अभिनव प्राचीनतावादियों में एक बात का और अन्तर था। वह यह कि अभिनव

❀ भरतमुनि ने भी बहुत से कार्यों को एक अङ्क में लाने का निषेध नहीं किया है किन्तु उनमें अविरोध रखना बतलाया है। यह कार्य की एकता ही है:—

'एकाङ्के न कदाचित् बहूनि कार्याणि योजयेद्धीमान्।
आवश्यकाविरोधेन तत्र कार्याणि कार्याणि॥'

प्राचीनतावादी संस्कृत-नाटककारों की भांति मञ्च पर मृत्यु आदि के घोर दृश्यों का दिखाना वर्ज्य मानते थे और उसका अभिनय नहीं करते थे। वे उस घटना के हो जाने की सूचना किसी पात्र द्वारा दिला देते थे। घोर और उग्र घटनाएँ रङ्गमञ्च से बाहर हुई समझी जाती थीं और उनका उल्लेख हो जाता था। रोमान्टिक लोग घटना को मञ्च पर घटती हुई दिखाना अधिक पसन्द करते थे।

शेक्सपियर इन्हीं रोमान्टिक विद्रोहियों में से था। वह घोर और उग्र प्रकार की घटनाओं को स्टेज पर दिखलाने में नहीं चूका। शेक्सपियर के नाटकों में नाटकों का विषय अधिकतर अभिजातवर्ग का जीवन रहा। शेक्सपियर ने ट्रेजेडी, कामेडी, दुःखान्त, सुखान्त का पार्थक्य भी मिटा-सा दिया अर्थात् यह नहीं माना कि ट्रेजेडी के साथ कामेडी का योग न हो सके अथवा इसके विपरीत सुखान्त नाटकों में करुणात्मक दृश्यों का समावेश न हो। 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' में करुणात्मक दृश्यों का सुखद सम्मिश्रण है।

यूरोप के ड्रामों का इतिहास बड़ा पेचीदा है। शेक्सपियर के बाद नाटकीय आदर्शों में बहुत-सा घात-प्रतिघात होता रहा। आधुनिक समय के नाटकों के बारे में दो एक शब्द कहकर इस प्रसंग को समाप्त कर दिया जायगा। आधुनिक नाटकों पर सबसे अधिक प्रभाव नार्वे निवासी इब्सन (Ibsen सन् १८२८-१९०६) का है। इब्सन द्वारा नाटकीय आदर्शों में कई परिवर्तन हुए। उनमें पांच बातें मुख्य हैं। पहली यह कि नाटकों का विषय ऐतिहासिक न रहकर वर्तमान समाज और उसकी समस्याएँ हो गया। यद्यपि मानव-जीवन की समस्याएँ शाश्वत हैं तथापि वे युग के अनुकूल बदलती रहती हैं। प्राचीन युग में नवीन समस्याओं का अवतरित करना उचित नहीं है। हमको अपने निकट का जीवन अतीत की अपेक्षा अधिक आकर्षक लगता है (इसमें मतभेद हो सकता है) दूसरी बात यह है कि नाटक का विषय अभिजातवर्ग में ही सीमित नहीं रहा। साधारण कोटि के लोग मानव-रुचि का विषय बन गये। बहुत सी सामाजिक समस्याएँ साधारण कोटि के लोगों में केन्द्रित रहती हैं। तीसरी बात यह है कि नाटकों में व्यक्ति-व्यक्ति के द्वेष की अपेक्षा सामाजिक संस्थाओं के प्रति विद्रोह अधिक दिखाया जाने लगा। उनमें युवकों के हृदय में उठते हुए विद्रोह की छाया दिखाई

इब्सन का प्रभाव

देने लगी। जो सामाजिक बन्धन, शील और मर्यादा के आदर्श विक्टोरिया के युग में आदरणीय समझे जाते थे, वे उपेक्षणीय बन गये। चौथी बात यह भी हुई कि बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष को प्रधानता मिली। पाँचवीं बात यह थी कि स्वगत कथन आदि कम हो गये और नाटक स्वाभाविकता की ओर अधिक बढ़ा।

इंगलैण्ड में (Galsworthy), बर्नर्ड शॉ (Bernard Shaw) आदि नाटककारों पर इब्सन का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। इसके कारण रङ्गमञ्च वास्तविक स्थिति के अधिक अनुकूल हो गया है। इसीलिए रङ्गमञ्च के संकेतों में जरा-जरा सी बात का ब्योरा दिया जाता है। इसका प्रभाव अपने यहाँ के नाटकों पर भी पड़ा है। देखिए लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, भुवनेश्वरप्रसाद, रामकुमार वर्मा, पंतजी आदि के नाटक।

अन्य प्रवृत्तियाँ

यूरोप में इब्सन से ही नाटकीय आदर्शों की इतिश्री नहीं हो जाती है। यथार्थवाद की प्रतिक्रिया भी चल रही है। क्षणिक समस्याओं को छोड़कर मानव-जाति की चिरन्तन और मौलिक समस्याओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जाता है। कवित्व और प्रतीकवाद (Poetry and Symbolism) को स्थान मिल रहा है। प्राकृतिक घटनाएँ मानवीय समस्याओं की प्रतीक बन जाती हैं। यह एक प्रकार की अन्योक्ति-पद्धति है। मेटरलिंक (Maeterlinck) आदि नाटककारों ने गम्भीर आध्यात्मिक विषयों का विवेचन ही अपना मुख्य ध्येय बना रखा है। वे आध्यात्मिक संघर्ष को नाटक के रूप में घटित दिखाते हैं। आजकल के कुछ नाटकों में कल्पना की भी उड़ान रहती है। पंतजी की 'ज्योत्स्ना' में इस प्रवृत्ति का प्रभाव है। सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश' नाटक में साँड के चीनी के बर्तनों की दुकान में घुस जाने की बात जो प्रारम्भ में दी है, वह भी एक प्रकार का प्रतीकवाद ही है। स्वयं प्रकाश ही वह साँड है।

एकाङ्की नाटक

इसी युग में एकाङ्की नाटकों का उदय हुआ। प्रारम्भ में ये नाटक समय की पूर्ति के लिए खेले जाते थे। नाटक देखने के लिए कुछ लोग देर में आया करते थे। उन लोगों के लिए समय पर आने वालों को खाली बिठलाना उनके साथ अन्याय था। इसलिए आगन्तुकों के मनो-

विनोदार्थ प्रधान नाटक के आरम्भ के पूर्व कुछ छोटे नाटकीय दृश्य दिखाये जाते थे। लोग इनको अधिक पसन्द करने लगे। आधुनिक एकाङ्की नाटकों का इन्हीं से उदय हुआ। ये नाटक समय की बचत करने वाली मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल हुए।

यद्यपि संस्कृत में भी रूपकों के प्रकारों में एकाङ्की नाटक थे (जैसे-भाण, अङ्क, व्यायोग, वीथी, प्रहसन) तथापि वर्तमान हिन्दी एकाङ्की नाटकों ने पश्चिमी एकाङ्की नाटकों से ही प्रेरणा ग्रहण की वर्तमान एकाङ्कियों में प्राचीन एकाङ्कियों-के-से रस, पात्र, और सन्धियों आदि के नियम नहीं वर्ते जाते हैं वे अधिकांश में पाश्चात्य शिल्प के अनुकूल रचे जाते हैं। भारतेन्दु काल के एकाङ्की तो प्राचीन आदर्शों पर ही रचे गये किन्तु वर्तमान एकाङ्कियों ने पाश्चात्य देशों के एकाङ्कियों से प्रेरणा ग्रहण की। हिन्दी नाटक-साहित्य पर बहुत कुछ पश्चिमी प्रभाव है किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमारे यहाँ के नाटककार अन्धानुकरण कर रहे हैं, वरन् यह कि जो प्रवृत्तियाँ यूरोपीय नाटककारों के मन में काम कर रही हैं, वे हमारे यहाँ के नाटककारों के मानस को भी प्रेरित कर रही हैं। स्वाभाविकता की पुकार हमेशा से चली आई है, उसके रूप बदलते रहे हैं। यूरोप से हमारे नाटककारों को उदाहरण मिल जाने के कारण उनका कार्य सहल अवश्य हो जाता है किन्तु उनको सब बातें देशी रंग में रंगनी पड़ती हैं।

सिनेमा और रेडियो नाटक

अभिनयात्मक मनोरंजन के क्षेत्र में सिनेमा और रेडियो नाटक दोनों ही नवीन युग की देन हैं और इन्होंने जनता में लोकप्रियता भी प्राप्त करली है। नाटक में जहाँ सजीव स्त्री-पुरुषों द्वारा वास्तविकता की अनुकृति की जाती है वहाँ सिनेमा में उनके छायालोकमय चलचित्र दिखाये जाते हैं जिनके द्वारा मौखिक अभिनय (वाचिक) भी होता है। सिनेमा में दृश्य-विधान की प्रधानता रहती है और जहाँ तक वातावरण का प्रश्न है सिनेमा नाटक की बहुत-सी न्यूनताओं को पूरा कर देता है। सिनेमा फोटोग्राफी और हाथ के बनाये हुए चित्रों द्वारा जो स्टेज-पर असम्भव होता है उसको भी सम्भव कर दिखाता है किन्तु सिनेमा और नाटक में अन्तर है। नाटक पढ़े और देखे दोनों ही जाते हैं। सिनेमा के लिए जो सिनेरियो लिखे जाते हैं वे केवल पट पर दिखाये

जाने के लिए ही होते हैं। इसलिए सिनेरियों में दृश्यों को आकर्षक और मनमोहक बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। आजकल नाटकों में से संगीत का अनावश्यक समावेश कम हो जाता है किन्तु सिनेमा में उसकी आकर्षकता बढ़ाने के लिए संगीत पर विशेषकर चलते हुए संगीत को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इसलिए जनता के निम्न-स्तरों में उस प्रकार के संगीत की मान्यता भी अधिक हो गई है। सिनेमा के नाटक पुराने पारसी नाटकों के बहुत अंश में निकट आजाते हैं।

श्रव्य काव्य में चाहे वह पद्यमय और चाहे गद्यमय हो केवल शब्दों का ही सहारा रहता है। उसमें कल्पना पर विशेष बल देना पड़ता है। शब्दों द्वारा ही सारा चित्र-विधान उपस्थित किया जाता है। नाटक और सिनेमा में कल्पना पर कम बल डालना पड़ता है, इसलिए वे जनसाधारण के लिए अधिक उपयोगी समझे गये हैं और उनको प्रचार का भी साधन बनाया गया है। पाण्डित्य की दृष्टि से दृश्य काव्य श्रव्य काव्य से एक श्रेणी नीचे उतर आता है। तभी तो उसको पञ्चम वेद कहा गया है जिसमें शूद्रों को अर्थात् अल्प बुद्धिवाले लोगों को भी अधिकार हो। इस दृष्टि से सिनेमा एक सीढ़ी और नीचे उतर आता है। सिनेमा में न तो भाषा की बारीकियों पर आश्रित वार्त्तालाप होते हैं और न चरित्र को प्रकाश में लाने वाले स्वगत कथन होते हैं। स्वगत कथन अस्वाभाविक चाहे हों किन्तु वे प्रायः पाण्डित्य-पूर्ण होते थे, सिनेमा की भाषा जनता की भाषा होती है। उसमें चरित्र की अपेक्षा चमत्कार का प्राधान्य रहता है।

सिनेमा नाटक की भाँति दृश्य और श्रव्य दोनों ही होता है किन्तु रेडियो नाटक केवल श्रव्य ही होता है। उसमें भी श्रव्य काव्य की भाँति कल्पना का अधिक आश्रय लेना पड़ता है किन्तु उसकी ध्वनियाँ सजीव होती हैं जिनके सूक्ष्म उतार-चढ़ाव में लिखित शब्द से कुछ अधिक भावाभिव्यक्ति रहती है। आदमियों की गति आदि के भी चित्र (उतरना, चढ़ना, दरवाजा-खटखटाना आदि) ये सब बातें शब्द द्वारा प्रसारित हो जाती हैं। दृश्य का बदलना, पर्दा गिराना नहीं होता है वरन् सङ्गीत का व्यवधान डालकर होता है। फिर भी उसमें सिनेमा-का-सा दृश्य-विधान नहीं होता है। दूरी का अन्तर समय में कठिनता से परिवर्तित हो पाता है। दूरी का भान तो सिनेमा में दृश्य-विधान को कुछ लम्बा

करके नाटक से भी अधिक सफलता से कराया जाता है।

रेडियो नाटकों में समय का भी बन्धन अधिक होता है। इसी कारण उसकी एक दूसरी विधा 'रूपक' में जिसको अंगरेजी में Feature कहते हैं प्रकथन अर्थात् नेरेशन को अधिक स्थान मिलता है, आवश्यक कथोपकथन के बीच में उनका तारतम्य जोड़नेवाले सूत्रधार या 'नेरेटर' द्वारा प्रकथन आ जाते हैं, उनके द्वारा समय की खाई पाट दी जाती है। सूत्रधार समय का संकेत जैसे पांच वर्ष बाद बीच की आवश्यक बातें कहकर आनेवाले कथोपकथन की भूमिका बांध देता है। इसलिए रेडियो रूपक उपन्यास के अधिक निकट आ जाते हैं किन्तु उनमें उपन्यास-की-सी समय की बहुलता और पेचीदगी नहीं रहती है, इसीलिए चरित्र का भी विकास नहीं दिखाया जा सकता है। प्रायः एकाङ्की नाटकों की भांति बने बनाये चरित्रों पर ही प्रकाश डाला जाता है। कहीं-कहीं विशेष आघात पड़ने पर परिवर्तन भी हो जाता है किन्तु विकास के लिए गुंजाइश नहीं रहती।

रेडियो नाटकों में केवल वाचिक अभिनय रहता है सो भी अपूर्ण किन्तु कलाकार का कौशल इस बात में रहता है कि मार्मिक स्थल सब कथोपकथन में आ जाय। सिनेमा के लिए घर से बाहर जाना पड़ता है। रेडियो नाटक घर के कक्ष में ही सुने जा सकते हैं यही उनकी सफलता का मूल कारण है, अन्यथा उनमें नाटक के पूर्ण गुण नहीं आने पाते। श्री विष्णु प्रभाकर, श्री उदयशंकर भट्ट, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, श्री गिरजाकुमार माथुर, श्री प्रभाकर मांचवे, श्री भारतभूषण अग्रवाल, श्री रामचन्द्र तिवारी आदि ने कई सुन्दर रेडियो नाटक लिखे हैं जो समय-समय पर रेडियो द्वारा प्रसारित भी हुए हैं।

हिन्दी का नाट्य-साहित्य

यद्यपि हिन्दी को संस्कृत और प्राकृत की मूल्यवान पैतृक सम्पत्ति प्राप्त थी तथापि इसका उपभोग उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व न हो सका।

अभाव के कारण

इसके कई कारण थे। हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य का उदय आपस की मारकाट और मुसलमानी आक्रमणों के क्षुब्ध वातावरण में हुआ था। इस समय देश में वह शांति न थी जो नाटकों के अभिनय और विकास के लिए अपेक्षित थी। नाट्य-साहित्य की सृष्टि के लिए जीवन के प्रति आस्था और जातीय उत्साह अपेक्षित होता है। बहुत दिनों की दासता,

अशान्ति और उत्पीड़न ने इस उत्साह को नष्ट कर दिया था। हमारे भाग्यवाद और मायावाद ने भी हमारे जीवन के प्रति आस्था को कम कर रक्खा था। अंग्रेजी-राज्य के आगमन से जीवन की वास्तविकताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हुआ और उस काल की अपेक्षाकृत शान्ति ने अपनी समस्याओं की नाटकीय अभिव्यक्ति का अवसर दिया। मुसलमानों के यहाँ नाट्य-साहित्य का बिलकुल अभाव था, उनसे इसके सम्बन्ध में कोई उत्तेजना या प्रोत्साहन मिलना असम्भव था, नाटकों में गद्य और पद्य दोनों ही रहते हैं क्योंकि बोलचाल की स्वाभाविक भाषा गद्य ही है। संस्कृत नाटकों में गद्य पर्याप्त मात्रा में रहती थी किन्तु हिन्दी भाषा के विकास के आरम्भ-काल में गद्य का कोई रूप प्रतिष्ठित न था। हिन्दी और संस्कृत के नाटकों की बीच की कड़ी हमको बिहार के नाटकों में मिलती है, उदाहरण-स्वरूप उमापति उपाध्याय का 'पारिजात-हरण' नाटक दिया जा सकता है।

पूर्व हरिश्चन्द्र युग

हिन्दी में जो प्रारम्भिक नाटक लिखे गये वे प्राय. संस्कृत के अनुवाद थे और पद्यात्मक संवाद के रूप में थे। नेवाज कवि कृत 'शकुन्तला' नाटक तुलसीदासजी के समकालीन प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदासजी का 'समयसार' तथा 'प्रबोध चन्द्रोदय' का ब्रजवासीदास द्वारा किया हुआ अनुवाद ऐसे ही नाटक हैं जो केवल संवाद-रूप में होने के कारण नाटक नाम से अविहित हुए हैं। पिछले दो नाटकों का विषय आध्यात्मिक है और पात्र प्राय: कल्पित या चित्त-वृत्तियों के मानवीकरण हैं। इस श्रेणी के नाटकों में देवजी का 'देव माया प्रपञ्च' नाटक (यद्यपि अब इसके प्रसिद्ध कवि देवकृत होने में संदेह किया जाता है) भी आयगा। इन प्रारम्भिक नाटकों की सूची में श्री महाराज काशीराज की आज्ञा से बना हुआ 'प्रभावती' तथा श्री महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनंद रघुनन्दन' इन दो नाटकों के नाम और गिनाये जाने हैं।

स्वनामधन्य श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सर्व प्रथम नाटक जिसमें पात्रों के प्रवेशादि के नियम का पालन हुआ है अपने पिता श्री कविवर गिरधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचन्द जी) का बनाया हुआ 'नहुष' नाटक बतलाया है। इसमें इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगने के कारण उनके पदच्युत होने तथा नहुष के इन्द्र-पद को प्राप्त होकर कामलोलुपता वश इन्द्राणी को वरण करने की अभिलाषा से सप्तर्षियों को

पालकी में जोतकर उनके यहाँ जाने की चेष्टा एवं दुर्वासा द्वारा शापित होकर उनके (नहुष के) पतन की कथा है। हिन्दी का दूसरा नाटक राजा लक्ष्मणसिंह का 'शकुन्तला' नाटक है। इसकी गद्य खड़ी बोली की है और इसका पद्य-भाग ब्रजभाषा का है। यह पहले-पहल पिन्काट साहब के सम्पादकत्व में छपा था। अनुवाद होते हुए भी इसमें मूल-का-सा आनन्द आता है। इसकी भाषा के माधुर्य की प्रशंसा भारतेन्दु जी ने भी की है। इस प्रकार पूर्व हरिश्चन्द्र काल के नाटकों का विषय प्रायः आध्यात्मिक या पौराणिक रहा। ये नाटक प्रायः संस्कृत के अनुवाद होते थे और इनकी भाषा अधिकांश में (कम-से-कम पद्य भाग अवश्य) ब्रजभाषा रही। भाषा के सम्बन्ध में इस परिपाटी का पालन भारतेन्दु जी के समय तक होता रहा।

वास्तविक अर्थ में हिन्दी नाट्य-साहित्य के जन्मदाता होने का श्रेय भारतेन्दु जी को ही दिया जा सकता है। उन्होंने संवत् १९२५ में सब से पहला अनूदित नाटक 'विद्या सुन्दर' लिखा (यह बंगला से अनुवादित था) और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम का सबसे पहला मौलिक नाटक उन्होंने संवत् १९३० में रचा। इस बीच में लाला श्री निवासदास का 'तप्ता-संवरण' निकला। इसको भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी का चौथा नाटक कहा है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के बाद अलीगढ़ के बाबू तोताराम जी का 'केटो कृतान्त' निकला, यह एडीसन द्वारा लिखे हुए 'केटो' नाम के अंग्रेजी नाटक से अनुवादित था। इस प्रकार नाटकों का ढर्रा चल पड़ा।

भारतेन्दु-काल

भारतेन्दु जी ने विद्या सुन्दर' और 'वैदकी हिंसा हिंसा न भवति' के अतिरिक्त और भी नाटक लिखे—'प्रेम योगिनी', 'सत्य हरिश्चन्द्र' (संस्कृत के 'चण्ड-कौशिक' का कुछ हेर-फेर का रूपान्तर), 'मुद्रा राक्षस' (यह विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद है)। यह राजनैतिक नाटक है और इसका कथानक बड़ा पेचीदा है, फिर भी हिन्दी में इसका बड़ा सुन्दर निर्वाह हुआ है। 'विषस्य विषमौषधम्' (भाण नामक प्राचीन ढंग का एक रूपक है जिसमें एक ही पात्र आकाश की ओर मुँह उठाकर आकाश भाषित के रूप में वार्तालाप करता है)। इसका विषय आधुनिक है, इसमें महाराज बड़ौदा के अत्याचार के कारण ब्रिटिश सरकार द्वारा उनके पदच्युत किये जाने

पर संतोष प्रकट किया गया है। 'चन्द्रावली' (कृष्ण-भक्ति-प्रधान एक नाटिका है। इसमें काव्यत्व की मात्रा अधिक है। संचारियों और विरह-दशाओं के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। इसकी भाषा अधिकांश में व्रज-भाषा है)। 'भारत दुर्दशा' (इसमें भारत की दयनीय दशा और उसके कारणों का चित्रण है), 'नीलदेवी' (इसमें एक भारतीय नारी के वीरत्व और कार्य-कौशल का वर्णन है), 'अंधेर-नगरी' (न्याय की विडम्बना-सम्बन्धी एक प्रहसन) आदि चौदह नाटक हैं।

भारतेन्दु जी के समकालीन लेखकों के नाटकों में श्री बद्रीनारायण प्रेमघन लिखित 'भारत सौभाग्य नाटक', प्रताप नारायण मिश्र का 'त्रिया तेल, हमीर हठ चढ़े न दूजी बार' (हमीर जिनके सम्बन्ध में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है), श्री राधाकृष्ण दास के 'महारानी पद्मावती' तथा 'महाराणा प्रताप', श्री केशवराम भट्ट के 'सज्जाद सम्बुल' और 'समसाद सौसन' आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त लाला श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और 'तप्ता: संवरण', किशोरी-लाल गोस्वामी कृत 'प्रणनी प्रणय' और 'मयङ्क-मंजरी' शालिग्राम का 'माधवानल', 'कामकन्दला' आदि नाटक भी विशेष रूप से ख्याति पा चुके हैं। उस समय से ही दुःखान्त नाटकों की प्रवृत्ति का श्रीगणेश हो चुका था। 'रणधीर प्रेममोहिनी' दुःखान्त-नाटक ही है। पिछले दो नाटकों की भाषा यद्यपि उर्दू थी तथापि इनमें तत्कालीन जीवन से अधिक सम्पर्क था इनमें राजनीतिक पुट भी था (ये दोनों ही बंगला नाटकों के आधार पर लिखे गये हैं)। इनमें सभी प्रकार के पात्र आये हैं। इस समय के नाटकों में प्राचीन परिपाटी का कुछ-कुछ त्याग होने लगा था (भारतेन्दु जी प्राचीन प्रथा से हटे अवश्य किन्तु अधिक नहीं। उनके बहुत से नाटकों में मंगलाचरण और भरत-वाक्य मिलते हैं) और उनका विषय धार्मिक से हटकर सामाजिक और राजनैतिक की ओर जाने लगा। ऐतिहासिक नाटकों में भी जातीय गौरव की प्रधानता होने के कारण वे राजनीतिक की कोटि में आ सकते हैं। इस समय के नाटकों में हास्य-व्यङ्ग्य का भी समावेश होने लगा और कहीं-कहीं एक ही नाटक में मनोरंजन के लिए हास्य-प्रधान कथानक को भी स्थान दिया जाता था। भाषा भी व्रजभाषा से हटकर खड़ी बोली की ओर आने लगी, और उर्दू के शब्दों का भी समावेश होना आरम्भ हो गया।

संस्कृत और बङ्गला के नाटकों का अनुवाद तो हरिश्चन्द्र युग में ही आरम्भ हो गया था किन्तु संक्रांति काल में वह कुछ तेजी से बढ़ा।

संक्रान्ति-युग

भारतेन्दु जी ने अपने समय के अनधिकारी व्यक्तियों द्वारा किये हुए संस्कृत के नाटकों की बड़ी हँसी उड़ाई है। नाट्य करने का अर्थ होता है अभिनय करना। उन लोगों ने नाट्य का अर्थ नाचना लगाया था, इस कारण वे कहीं-कहीं हास्यास्पद बन गये। भारतेन्दुजी लिखते हैं:—'एक आनन्द और सुनिए। नाटकों में कहीं-कहीं आता है 'नाट्येनोपविश्य' अर्थात् बैठने का नाट्य (अभिनय) करता है। उसका अनुवाद हुआ—राजा नाचता हुआ बैठता है। 'नाट्येनोल्लिख्य' की दुर्दशा हुई है 'ऐसे नाचते हुए लिखता है'। ऐसे ही 'लेखनी को लेकर नाचती हुई', 'निकट बैठकर नाचती हुई।'

इस संक्रांति-काल के अनुवाद इस प्रकार के न थे। संस्कृत के नाटकों में रायबहादुर लाला सीताराम भूप कृत अनुवाद बड़े सफल हुए हैं। श्री सत्यनारायण जी का भवभूति का 'उत्तररामचरित' मूल लेखक के भाव के निर्वाह और भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से उतना ही उत्कृष्ट है जितना राजा लक्ष्मणसिंह का 'शकुन्तला' नाटक का अनुवाद; हाल में भास के कई नाटकों के स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिमा आदि सुन्दर अनुवाद निकले हैं। इन्हीं दिनों शेक्सपियर के नाटकों का भी हिन्दी अनुवाद हुआ। बंगला के अनूदित नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अनुवादों की कुछ दिन बड़ी धूम रही रवि बाबू के 'डाक घर', 'चित्राङ्गदा', 'राजा रानी', 'चिरकुमार-सभा' आदि के भी सुन्दर अनुवाद निकल चुके हैं। इन अनुवादों का श्रेय पण्डित रूपनारायण पाण्डेय को है। इन नाटकों द्वारा हिन्दी नाटकों में गद्य का प्रचार बढ़ा।

इस काल में कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये। उनमें से कुछ तो साहित्यिक कहे जा सकते हैं और कुछ विशेष रूप से पारसी नाटक-कम्पनियों के साथ समझौते की दृष्टि से लिखे गये थे। साहित्यिक नाटकों में मिश्रबन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (इसमें मुकदमे बाजी के मार्मिक दृश्य दिखाये गये हैं), पण्डित बदरीनारायण भट्ट के 'दुर्गावती' 'चन्द्रगुप्त' तथा 'वेनु-चरित्र', राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला', 'भानु कुमार', बाबू मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास', पण्डित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'मधुर मिलन', पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन

युद्ध' आदि नाटक प्रमुख हैं। इन नाटकों में भी कम-से-कम कुछ में तो अवश्य पारसी नाटकों-की-सी पद्य की प्रवृत्ति है। जरा-सी बात की जैसे-आप किस पर नाराज हैं—भट्ट जी के 'दुर्गावती' नाटक में लम्बी-चौड़ी पद्यमयी अभिव्यक्ति की गई है। देखिए:—

'क्रुद्ध हुए हैं भला, आज यों किस अत्याचारी पर आप,
कौन मेटने वाला है, खुद मिटकर दुनिया का सन्ताप।
भला कौन से पापी का अब घड़ा फूटने वाला है,
कौन शख्स है जिसका यम से पाला पड़ने वाला है॥'

श्री माखनलाल जी के 'कृष्णार्जुन युद्ध' में भी अनावश्यक पद्य-प्रयोग की प्रवृत्ति है किन्तु उन पद्यांशों में साहित्यिकता कुछ अधिक होने के कारण वह क्षम्य-सा हो जाता है। जहाँ थोड़ा भावावेश हो वहाँ पद्य इतना नहीं खटकता जितना कि अनावश्यक प्रसङ्गों में :—

'वृन्दा तुझ में भरा हुआ है, मेरे बालकपन का रंग,
लाड़ जसोदा मैया का वह, भैया बलदाऊ का संग।
ग्वाला बाल की सुखद मंडली, गौवें जमना और निकुञ्ज,
राधा सह सखियों का आना, चन्द्र साथ ज्यों तारक पुञ्ज।'

पहले छंद की अपेक्षा इसमें अधिक मार्मिकता और प्रसंगानुकूलता है। इसमें भी प्रवृत्ति तो वही है किन्तु कुछ परिमार्जित रूप में।

रङ्गमञ्च की दृष्टि से लिखे हुए नाटकों में नारायण प्रसाद 'बेताब' जी का 'महाभारत', पं० राधेश्याम कथावाचक के पौराणिक नाटक 'वीरअभिमन्यु', 'परम-भक्त प्रह्लाद' तथा हरेकृष्ण जौहर के 'पति-भक्ति' आदि नाटक जो पारसी नाटक कम्पनियों में खेले जाने योग्य हिन्दी भाषा-प्रधान नाटक थे, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कृष्णचन्द जेबा का 'जख्मी पंजाब', 'जख्मी हिन्दू', 'शहीद सन्यासी' ने विशेष ख्याति पाई किन्तु उनमें उर्दू का प्राधान्य था।

इस समय के साहित्यिक नाटकों में पद्य से छुटकारा तो नहीं मिला किन्तु गद्य की ओर प्रवृत्ति बढ़ी, उसका अपेक्षाकृत प्राधान्य हो गया। विषयों में भी परिवर्तन हुआ। धार्मिक विषयों का बाहुल्य रहा किन्तु दैवी या अतिमानवी शक्तियों का हस्तक्षेप कम हो गया। धीरे-धीरे इस काल में समाज की रुचि धार्मिक विषयों से हटकर ऐतिहासिक सामाजिक और राजनीतिक विषयों की ओर अग्रसर होने लगी और यथार्थवाद की ओर भी कुछ-कुछ झुकाव बढ़ा।

प्रसादजी स्वयं एक युग थे। उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रान्ति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों को भूल गये। वर्तमान जगत के संघर्ष और कोलाहल-मय जीवन से ऊबा हुआ उनका हृदयस्थ कवि उनको स्वर्णिम आभा से दीप्त दूरस्थ अतीत की ओर ले गया।

प्रसाद-युग

उन्होंने अतीत के इतिवृत्त में भावना का मधु और दार्शनिकता की रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा पौष्टिक अवलेह दिया जो ह्रास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नयी सांस्कृतिक चेतना का सञ्चार कर सके। उनके नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय-की-सी ऐतिहासिकता और रविबाबू-की-सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता से दर्शन होते हैं। प्रसादजी ने अपने नाटकों में भारत क शक्ति-वैभव की अपेक्षा उसकी नतिक सम्पन्नता और विशालता को अधिक उभार में लाकर देशवासियों का मस्तक गर्व से ऊँचा कर दिया है। मालव वीरों के हाथ में आये हुए विश्वविजेता सिकन्दर को सिंहरण द्वारा अभयदान दिलाकर पर्वतेश्वर का ऋण ही नहीं चुकाया वरन् एक नैतिक प्रतिशोध भी ले लिया और भारतीय उदारता का परिचय दिया। प्रसादजी इतिहास और पुरातत्व के पंडित थे। उन्होंने बौद्धकालीन भारत का विशेष अध्ययन किया था और इसी कारण वे तत्कालीन वातावरण, राजकीय शिष्टता और शासन-व्यवस्था के चित्रण में विशेष रूप से समर्थ हुए हैं। महाबलाधिकृत, परम भट्टारक, अश्वमेध पराक्रम, दंडनायक, न्यायाधिकरण, दौवारिक, महास्थविर, विषयपति, महाश्रमण महाप्रतिहार, महासंधिविग्राहक, स्कंधावार, नासीर, गरुड़ध्वज, आदि शब्द इस काल में भी प्राचीन सभ्यता को सजीव बना देते हैं। प्रसादजी ने वातावरण की ही सृष्टि नहीं की वरन् उसको सार्थकता प्रदान करने वाले सजीव और सबल तथा कोमल और संगीतमय स्त्री-पात्रों की भी सृष्टि की है, जो अपनी ममता की दृढ़ता और त्याग के तेज में सबलों की आभा को फीकी कर देते हैं। उनके स्त्री-पात्रों में अलका, कल्याणी, देवसेना आदि चिरस्मरणीय रहेंगी। प्रसादजी के नाटकों में बाह्य संघर्ष के साथ अंतर्द्वन्द्वों के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। विचार सामग्री और जीवन-मीमांसा की दृष्टि से भी प्रसादजी के नाटक बड़े सम्पन्न हैं। आध्यात्म में ब्राह्मण और बौद्धधर्म का बड़ा सुन्दर समन्वय किया गया है। धातुसेन के मुख से प्रसादजी

कहलाते हैं :—

'अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो उतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी? उपनिषदों के नेतिनेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है।'

प्राचीन वातावरण के भीतर ही प्रसादजी ने प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता के ऊपर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है, देखिए :—

'मालव और मागध को भूलकर जब आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।' और

'आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद न करेंगे।'

प्रसादजी के सभी नाटकों में कर्मण्यता और दार्शनिक त्याग तथा सुख-दुख के समन्वय और मधुर मिलन की भावना सूत्रात्मा की भाँति ओत-प्रोत है। जीवन की मुस्कान में छिपी हुई अश्रुमाला से प्रसादजी विचलित नहीं होते, 'जीवन में मृत्यु बसी है जैसे बिजली हो घन में'। मृत्यु उनके नाटकों में आती है (जैसे अजातशत्रु में) किन्तु सुख-शान्तिपूर्ण आदर्शों की पूर्ति के रूप में प्रसादजी अपने सभी पात्रों के कण्ठ में बैठकर नियतिवाद का प्रचार करते हैं। उनके पात्रों में दार्शनिकता एक दोष की सीमा तक पहुँच गई है। प्रसादजी की भाषा यद्यपि एकरस रही है तथापि कोमल प्रसङ्गों में वह गीतिमय हो गई है और अपना सौंदर्य, सौरभ विकीर्ण करती हुई दिखाई देती है। उनके नाटकों में दार्शनिक निर्ममता के साथ कुसुम-कमनीय-कोमलता के भी दर्शन होते हैं जो प्रायः गीतिलहरी में प्रस्फुटित होती है। कर्मठ एवं नृशंस चाणक्य के हृदय में बाल्य स्मृति के रूप में सुवासिनी के प्रति एक कोमल स्थान है, जो उसको मानवता के क्षेत्र से बाहर होने से बचा लेता है।

प्रसाद जी के नाटक कुछ अधिक बड़े होते थे। इसीलिए उनके अभिनय में विशेष काट-छाँट की आवश्यकता रहती है। नवीन नाटकों की प्रवृत्ति छोटे नाटकों की ओर हो चली है जो सिनेमा की भांति लगभग ढाई घंटे में समाप्त हो जाते हैं। आधुनिक नाटकों में तीन अङ्क की प्रवृत्ति, आवश्यक रूप से तो नहीं किन्तु पर्याप्त मात्रा में प्रचलित होगई है। इसके अतिरिक्त इन नाटकों में भूत की अपेक्षा वर्तमान को अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि उसके लिए कल्पना पर कम बल देना

प्रसादोत्तर काल

पड़ता है। किन्तु प्राचीन सभ्यताविषयक नाटकों में मनोवैज्ञानिक दूरी (Psychological distance) के कारण जो भव्यता आती है उसमें कुछ कमी अवश्य हो जाती है। आजकल जो पौराणिक नाटक भी लिखे जाते हैं उनको बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण ऐसा रूप दिया जाता है जो तर्क-संगत हो (डा० लक्ष्मणस्वरूप का 'नल-दमयन्ती' नाटक इस प्रवृत्ति का एक उदाहरण है, उसमें हंस को एक सौदागर का रूप दिया गया है)। वर्तमान नाटकों के लिए कुलीनता और लोक-प्रसिद्धि आवश्यक नहीं रही और उसका झुकाव वस्तुवाद की ओर होता जाता है। इसी कारण पाश्चात्य नाटकों-के-से विस्तृत रङ्गमञ्च के संकेतों का चलन हो गया है। इन नाटकों में सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं पर अधिक बल दिया जाता है। ये सब प्रवृत्तियाँ अधिकांश में इब्सन, गाल्सवर्दी, बर्नर्ड शॉ, आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव का फल है। आधुनिक नाटककारों में सर्वश्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, गोविन्द बल्लभ पंत, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, कैलाशनाथ भटनागर, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगन्नाथप्रसाद मिलिन्दजी, पृथ्वीनाथ शर्मा आदि प्रमुख हैं। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने भी नाटक के क्षेत्र में प्रवेश किया है।

पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र पर इब्सन का अधिक प्रभाव है। उनके नाटक समस्यात्मक होते हैं और उनमें बुद्धिवाद के साथ पर्याप्त रोमांस भी रहता है। उनके 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', और 'मुक्ति के रहस्य' में उन्मुक्त प्रेम की ओर झुकाव है। वास्तविक प्रेम का नैराश्य का सामना करना पड़ता है (सन्यासी में तो यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है)। इन नाटकों के विपरीत 'सिन्दूर की होली' में मानसिक वरण चिरकाल के लिए नायिका को वैवाहिक बन्धन में बांध देता है और नायक का मरण नायिका को वैधव्य के शोक-सागर में निमग्न कर देता है। मिश्रजी ने 'गरुड़ध्वज' नामक एक ऐतिहासिक नाटक भी लिखा है।

पण्डित गोविन्द बल्लभ पन्त के 'वरमाला' नामक नाटक का कथानक मार्कण्डेय पुराण से लिया गया है उसमें मूक अभिनय को भी स्थान मिला है, 'राजमुकुट' उनका ऐतिहासिक नाटक है। उनके नाटकों में, सुपाठ्य होने के साथ, अभिनय योग्य होने का भी गुण है। हरिकृष्ण प्रेमी 'रक्षाबन्धन' और मिलिंदजी के 'प्रताप-प्रतिज्ञा'

नाटक ने विशेष ख्याति पाई है। ये नाटक भी ऐतिहासिक हैं किन्तु इनका इतिवृत्त मुगलकालीन भारत है। ये रचनाएँ जनता की रुचि के अधिक अनुकूल हैं, किन्तु इनमें प्रसाद-का-सा गाम्भीर्य और उनकी-सी दार्शनिकता नहीं है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए 'रक्षा-बन्धन' पठनीय है। 'स्वप्न-भंग' भी इन्हीं नाटकों की कोटि में आता है। उसका भी इतिवृत्त मुगलकालीन है और उसमें हिन्दुत्व की ओर झुके हुए 'दारा' के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न है। ऐतिहासिक नाटक लिखने में श्री प्रेमी जी ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है। उन्होंने 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'उद्धार' आदि और भी कई ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं।

सुदर्शन जी का 'भाग्य-चक्र' कई कालेजों में सफलता के साथ खेला गया है। यह सामाजिक एक नाटक है। इसमें समाज के मान्य और प्रतिष्ठित लोगों की धूर्तता का उद्‌घाटन किया गया है। पण्डित उदयशङ्कर भट्ट का 'कमला' भी इसी प्रकार का नाटक है। ऐसे नाटक जनता की रुचि के अनुकूल होते हैं। समाज में जिन लोगों से, जैसे—रईसों, जमीदारों और पूंजीपतियों से हम बदला नहीं ले सकते उनकी धूर्तता का उद्‌घाटन होते हुए देखकर हमको प्रसन्नता होती है। इनमें साहित्यिकता की अपेक्षा लोक-रुचि की साधना अधिक दिखाई देती है। इनके पक्ष में यह अवश्य कहा जायगा कि यह रुचि कुत्सित रुचि नहीं है और इसमें एक प्रकार का आदर्शवाद है जो बुराई की हानि और साधुता की विजय देखना चाहता है। पं० उदय-शंकर भट्ट ने 'मत्स्य-गन्धा' 'विक्रमादित्य' आदि गीत-नाट्य भी लिखे हैं। उनका 'दाहर' एक ऐतिहासिक नाटक है। उसमें खलीफा द्वारा सिन्ध-विजय का हाल है। भट्टजी के 'अम्बा' और 'सगर-विजय' नाटक पौराणिक आख्यानों पर आश्रित हैं। उनकी 'अम्बा' में वर्तमान नारी का गौरव मुखरित हो उठा है। हाल ही में उन्होंने 'शक-विजय' नामक एक और ऐतिहासिक नाटक लिखा है। उनका 'कुमार-सम्भव' नाटक बड़ा कलापूर्ण है। उसमें कला और आचार की समस्या है। भट्ट जी ने सरस्वती जी द्वारा कला का ही पक्ष समर्थन कराया है।

सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक और वर्तमानयुगीन समस्यात्मक दोनों प्रकार के नाटक लिखे हैं। 'कर्तव्य' में राम और कृष्ण के चरित्र

को मिलाने का प्रयत्न किया है किन्तु वास्तव में ये नाटक के दो अङ्क से हो गये हैं। उनके 'स्पर्द्धा' नाम के नाटक में नारियों की पुरुषों से अनुचित स्पर्द्धा की समस्या उपस्थित की गई है। नये नाटकीय प्रयोग करने में सेठ जी बड़े कुशल हैं। उनके नाटकों में जैसे 'प्रकाश' में 'चीनी की दुकान में सांड'का प्रतीकवाद भी है। प्रकाश स्वयं चीनी की दुकान का सांड है। उनके 'चतुष्पथ' में एक-एक पात्र के एकपक्षी वार्तालाप (Monologues) हैं। प्राचीनकाल में भाण भी एकपात्रीय नाटक होता था। 'नवरस' में रसों को ही, (जैसे वीरसिंह, रुद्रसेन, ग्लानिदत्त आदि) पात्र बनाया है। आजकल सभी प्रकार के नाटक लिखे जा रहे हैं, उनमें सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, और राजनीतिक मुख्य हैं। कुछ भाव-नाट्य और गीति-नाट्य भी लिखे गये हैं।

हिन्दी में आजकल एकाङ्की नाटकों का प्रचलन अधिक बढ़ रहा है। इसके दो कारण हैं। एक समय की बचत और दूसरा अभिनय की अपेक्षाकृत सुलभता। जो सम्बन्ध उपन्यास का छोटी कहानी से है वही नाटक और एकाङ्की का है। वह भी कहानी की भाँति जीवन की एक झलक है।

एकाङ्की नाटक

इसके सम्बन्ध में एक बड़ी समस्या यह है कि चरित्र-चित्रण की इनमें कम गुञ्जाइश रहती है और बने-बनाये चरित्रों पर ही प्रकाश डाला जाता है। सबमें बिलकुल ऐसी बात नहीं है, डा० रामकुमार वर्मा के 'अठारह जुलाई की शाम' तथा 'रेशमी टाई' में चरित्र—परिवर्तन बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। हिन्दी एकाङ्कीकारों में सर्वश्री रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद, सुदर्शन, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर, उदयशंकर भट्ट, गणेशप्रसाद द्विवेदी तथा भगवतीचरण वर्मा आदि का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। रेडियो नाटक लिखने में श्री उदयशंकर भट्ट, श्री विष्णु प्रभाकर, श्री भारतभूषण अग्रवाल, श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', विशेष रूप से ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

श्रव्य काव्य (पद्य)

प्रबन्ध काव्य—महाकाव्य

बन्ध की दृष्टि से भारतीय समीक्षा-पद्धति में श्रव्य काव्य के दो भेद किये गये हैं—एक प्रबन्ध और दूसरा मुक्तक। प्रबन्ध में पूर्वापर का तारतम्य होता है। मुक्तक में इस तारतम्य का अभाव रहता है। प्रबन्ध में छन्द एक दूसरे से कथानक की शृंखला में बंधे रहते हैं, उनका क्रम उलटा-पलटा नहीं जा सकता, वे एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। मुक्तक छन्द पारस्परिक बंधन से मुक्त होते हैं। वे स्वतःपूर्ण होते हैं। वे क्रम से रखे जा सकते हैं किन्तु एक छन्द दूसरे की अपेक्षा नहीं करता। साहित्यदर्पणकार ने दो-दो और तीन-तीन छन्दों के भी मुक्तक माने हैं। अंग्रेजी स्फुट कविताओं के स्टेन्जा (Stanza) समूह और आजकल के गीत भी इसी प्रकार के संयुक्त मुक्तक गिने जावेंगे प्रबन्ध काव्य में सम्पूर्ण काव्य के सामूहिक प्रभाव पर अधिक ध्यान रखा जाता है। मुक्तक में एक-एक छन्द की अलग-अलग साज-सम्हाल की जाती है।

प्रबन्ध और मुक्तक

प्रबन्ध के भी दो भेद किये गये हैं—एक महाकाव्य दूसरा खण्ड-काव्य। महाकाव्य का क्षेत्र विस्तृत होता है, उसमें जीवन की अनेकरूपता दिखाई जाती है। खण्डकाव्य में किसी एक ही घटना को मुख्यता दी जाती है और इस कारण उसमें एकदेशीयता रहती है। गद्य के कथात्मक साहित्य और नाटक में भी महाकाव्य और खण्ड-काव्य की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कहानी और एकाङ्की, कथा और नाट्य-साहित्य में खण्ड काव्य के प्रतिरूप हैं।

महाकाव्य को अंग्रेजी में ऐपिक (Epic) कहते हैं। पाश्चात्य समीक्षा में काव्य के दो मूल विभाग किये गये हैं—एक विषयी-प्रधान (Subjective) दूसरा विषय-प्रधान (Objective)। विषयी-प्रधान काव्य को प्रगीत-काव्य कहा गया है और विषय-प्रधान का ऐपिक (Epic) से तादात्म्य किया गया है। प्रगीत-काव्य (Lyric) में भावना और गीत की प्रधा-

पाश्चात्य विभाग

नता रहती है, महाकाव्य में विवरण हा प्रकथन (Narration) की ! तीसरा विभाग नाटक का है जिसमें अभिनय या प्रतिनिधित्व का प्राधान्य रहता है।

महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों को हम संक्षेप में इस प्रकार बता सकते हैं:—

महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षण

१—यह सर्गों में बँधा हुआ होता है।

२—इसमें एक नायक रहता है जो देवता या उत्तम वंश का धीरोदात्त गुणों से समन्वित पुरुष होता है। उसमें एक वंश के बहुत से राजा भी हो सकते हैं—जैसे कि रघुवंश में।

३—शृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस अङ्गी रूप से रहता है। नाटक की सब संधियाँ होती हैं।

४—इसका वृत्तान्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है या सज्जनाश्रित।

५—इसमें मंगलाचरण और वस्तु-निर्देश होता है।

६—कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों का गुण-कीर्तन रहता है—जैसे कि रामचरितमानस में।

७—एक सर्ग में एक ही छंद रहता है और अन्त में वह बदल जाता है। यह नियम शिथिल भी हो सकता है—जैसे रामचन्द्रिका में। प्रवाह के लिए छंद की एकता वांछनीय है। सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की सूचना रहती है। कम से कम आठ सर्ग होने आवश्यक हैं।

८—इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातःकाल, मध्यान्ह, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संग्राम, यात्रा, अभ्युदय आदि विषयों का वर्णन रहता है।

भारतीय साहित्य में विशेषकर प्राकृत में चरितकाव्य भी हुआ करते थे। इस प्रकार के काव्यों में कला की अपेक्षा चरित्र और कथानक की महत्ता रहती थी। संस्कृत में अश्वघोष का बुद्धचरित इसी प्रकार का काव्य है। अर्द्धमागधी प्राकृत में विमलसूरिकृत 'पउम चरिउ' (पद्मचरित) प्राकृत भाषा का सर्वप्रथम चरितकाव्य है और श्री रामचन्द्र जी के जीवन से सम्बन्ध रखता है, किन्तु इसका चित्रण जैनधर्म के दृष्टिकोण से हुआ है। 'कुमारपालचरित', 'भविष्यदत्तकथा,' 'यशोधराचरित' इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। 'रामचरितमानस' में आदर्श

तो चरित का ही लिया गया है किन्तु उसमें कला का पर्याप्त समावेश हो जाने से उसकी गणना महाकाव्यों में ही होती है।

पाश्चात्य मान से महाकाव्य के लक्षण संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

१—यह एक बृहदाकार प्रकथन-प्रधान (Narrative) काव्य है।

२—व्यक्ति की अपेक्षा इसमें जातीय भाव अधिक रहते हैं। इसमें प्राय: कोई बड़ा जातीय संघर्ष भी दिखाया जाता है।

३—इसका विषय परम्परा से प्रतिष्ठित और लोकप्रिय होता है।

४—इसके पात्र शौर्यगुण-प्रधान होते हैं। उनका सम्पर्क देवताओं से भी रहता है। उनके कार्यों की दिशा निर्धारित करने में देवताओं और नियति का हाथ रहता है।

५—इसमें नायक को लेकर सारी कथा एक सूत्र में बँधी रहती है।

६—इसकी शैली में एक विशेष प्रकार की शालीनता और उच्चता रहती है।

७—इसमें एक ही छंद का प्रयोग रहता है।

इसके दो प्रकार माने गये हैं—एक प्राकृतिक अथवा जनसाधारण-सम्बन्धी(Epic of growth),जैसे-'वाल्मीकीय रामायण', 'आल्हखंड', 'होमर की इलीयड'। दूसरे कलात्मक(Epic of Art), जैसे—'रघुवंश नैषध', 'कामायनी', 'पैराडाइज लॉस्ट' (Paradise Lost) किन्तु भारतीय समीक्षा में ऐसा कोई अन्तर नहीं किया गया।

महाकाव्य के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में विशेष अन्तर नहीं है। साहित्य-दर्पण से उद्धृत किये गये महाकाव्य के लक्षणों में कुछ तो उसके संगठन से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ नायक तथा रस से सम्बन्धित हैं। पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही आदर्शों के

तुलना और विवेचना

अनुकूल विषय में तथा नायक में शालीनता तथा महानता का प्रतिबंध रखा गया है। धीरोदात्त नायक में उदात्त भावनाओं का समावेश भली प्रकार होता ही है। आजकल यद्यपि कुलीनता पर विशेष बल नहीं दिया जाता है तथापि महाकाव्यों में इतिहास-प्रसिद्ध, लोकप्रिय नायक होने से उनमें लोकरञ्जकता आ जाती है और साधारणीकरण या लोक-हृदय से साम्य की सम्भावना अधिक हो जाती है। इतिहास-प्रसिद्ध होने से एक लाभ यह है कि इसमें मानसिक दूरी का भाव (Psychological distance) आ जाता है। यह रस की बाधक

बातों को दूर करने में सहायक होता है (अपने निकट के नायक में उसके दोषों का भी ज्ञान होता है और नायकों के चारों ओर एक दिव्य आभा-चक्र (Halo) उपस्थित कर देता है। आजकल दोषों का भी वर्णन वास्तविकता का अङ्ग माना जाता है।

पाश्चात्य आदर्शों में एक बात पर विशेष बल दिया गया है वह, यह कि महाकाव्य के नायक में व्यक्तित्व की अपेक्षा जातीयता का प्रतिनिधित्व अधिक रहता है। महाकाव्य वास्तव में जाति की ही वस्तु होती है। उसमें लोकरस कुछ बाहुल्य के साथ दिखाई देता है। हमारे यहाँ यद्यपि इस गुण का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है तथापि वह व्यञ्जित अवश्य है। नायक की श्रेष्ठता, इतिहास-प्रसिद्धि, युद्ध-यात्राओं आदि के वर्णन द्वारा महाकाव्य जातीय जीवन से सम्बद्ध हो जाता है। व्यवहार में भी महाकाव्यों में जातीय गुणों और जातीय मनोवृत्ति को प्राधान्य मिलता है। वाल्मीकीय रामायण में उसके वर्ण्य नायक के अपेक्षित गुण बताये गये हैं। वे गुण भारत की जातीय मनोवृत्ति के द्योतक हैं। रघुवंश के आरम्भ में भी रघुवंशी राजाओं के उदात्त गुणों का उल्लेख किया गया है :—

'यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।'

अर्थात् जो विधिपूर्वक नित्य नैमित्तिक यज्ञ, हवनादि करते थे, जो याचकों को उनकी कामना के अनुकूल (थोड़ा-सा देकर भगा नहीं देते थे) दान देते थे, जो अपराधियों को उनके अपराध के अनुकूल दण्ड देते थे और जो समय पर जागते थे, जो त्याग के लिए धन-संचय करते थे, जो सत्य के लिए थोड़ा बोलते थे (घमण्ड से नहीं), जो यश के लिए विजय की इच्छा रखते थे (दूसरों के राज्य छीनने के लिए नहीं), जो पितृऋण के शोध के लिये विवाह करते थे (विशेष रूप से कामोपभोग के लिए नहीं), जो बाल्यकाल में विद्याभ्यास करते थे, यौवन विषय-भोग में लगाकर बुढ़ापे में मुनियों की वृत्ति

धारण कर लेते थे, अर्थात् वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश कर बन को चले जाते थे और अन्त में योग द्वारा (रोग द्वारा नहीं) शरीर छोड़ते थे—ऐसे रघुवंशियों का मैं वर्णन करता हूँ यद्यपि मेरे पास वाणी का वैभव बहुत थोड़ा है।

इस वर्णन में भारतीय मनोवृत्ति का पूर्ण चित्र आगया है। आजकल के युग में कामायनी में भी 'बुद्धि' और 'श्रद्धा' के समन्वय का भारतीय आदर्श दिखाई पड़ता है। गुप्तजी के राम तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वे आर्यों का आदर्श बताने तथा धन से जन को अधिक महत्ता देने आये हैं :—

'मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सन्मुख धन को तुच्छ जताने आया।
सुख-शान्ति-हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया।
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन, शापित हैं।
हो जायं अभय वे जिन्हें कि भय भासित है,
जो कौणप-कुल से मूक-सदृश शासित है।
मैं आया, जिसमें बनी रहै मर्यादा,
बच जाय प्रलय से, मिटै न जीवन सादा।
× × × ×
भव से नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।'

—साकेत

प्राचीन आदर्श के अनुकूल खल और सज्जनों के वर्णन जो महाकाव्य में अपेक्षित माने हैं उनमें भी जातीय मनोवृत्ति तथा आदर्शों की झलक रहती है। इतना ही नहीं वरन् उसमें एक व्यापक मानवता का भाव रहता है। गोस्वामी जी ने जो सज्जनों का वर्णन दिया है वह ऐसा ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकाव्य के भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में विशेष भेद नहीं है। दोनों ही आदर्शों के अनुकूल महा-

काव्य का नायक उच्चकुलोद्भव तथा उदात्त विचारों का होता है। उसकी महान् कृतियां, विजय-यात्राओं और साहसपूर्ण कार्यों में जातीय भावनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं और आदर्शों का प्रकाशन होता है और नायक के द्वारा जातीय, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान दिखाया जाता है। महाकाव्य आकार-प्रकार में भी बड़ा होता है, उसके साथ उसकी शैली और उसका विषय दोनों ही गौरवपूर्ण होते हैं। महाकाव्य जाति की सांस्कृतिक चेतना के द्योतक होते हैं। महाकाव्य का कवि भी नायक की भांति स्वयं सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक बन जाता है। महाकाव्यों में प्रायः दैव का भी हाथ रहता है किन्तु उस दैव के हस्तक्षेप द्वारा भी मानवीय गौरव की स्थापना हो जाती है। दैवी हस्तक्षेप के सम्बन्ध में पश्चिमी और पूर्वी आदर्शों में थोड़ा अन्तर है। पश्चिमी महाकाव्यों में विशेषकर यूनानी महाकाव्यों में दैव को ऐसी क्रूर सत्ता के रूप में दिखाया गया है जो मानव के उत्पीड़न में प्रसन्नता का अनुभव करती है। हमारे यहां मानव का उत्पीड़न चाहे परीक्षा के लिए हो किन्तु हृदय से देवता लोग सहानुभूतिपूर्ण रहते हैं। हमारे यहाँ मनुष्य जो सुख-दुःख भोगता है वह अपने कर्मों के अनुकूल, 'कर्म-प्रधान विश्व कर राखा। जो जस करा सो तस फल चाखा'। इस दृष्टि से यदि दैव की क्रूरता होती है तो वह अकारण नहीं होती। महाकाव्य का चित्रपट विस्तृत होते हुए भी उसके अङ्कन में एक विशेष अन्विति रहती है, वह अन्विति चाहे नायक के व्यक्तित्व के द्वारा, चाहे लक्ष्य की एकता के द्वारा सम्पादित की जाय।

महाकाव्य के प्राचीन और वर्तमान आदर्शों में थोड़ा-बहुत अन्तर पड़ गया है। अब मङ्गलाचरण इत्यादि की आवश्यकता नहीं समझी जाती और न किन्हीं माङ्गल्यसूचक शब्दों का रखना नितान्त आवश्यक है (गुप्त जी ने साकेत के प्रत्येक सर्ग में मंगलाचरण किया है), प्राचीन काल में भी इस नियम का बहुत कड़ाई के साथ पालन नहीं होता था। 'कुमारसम्भव' में कोई मंगलाचरण नहीं है। उसमें हिमालय का वर्णन अवश्य है जो विशालता का द्योतक है। 'कुमारसम्भव' पूर्ण नहीं हुआ चाहे देवताओं के शृंगार-वर्णन के दोष के कारण हो, और चाहे मंगलाचरण के अभाव के कारण हो। 'प्रिय-प्रवास' का आरम्भ दिवस के अवसान से होता है, 'दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला', केवल इसीलिए हम उनको निन्दनीय

नहीं कहेंगे। आजकल नायक के सम्बन्ध में भी थोड़ी शिथिलता आ गई है। कामायनी में नायक तो मनु है किन्तु प्राधान्य श्रद्धा का है। नायक शब्द में नायिका भी शामिल की जा सकती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि महाकाव्य वह विषय-प्रधान काव्य है जिसमें कि अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्‌घाटन किया जाता है।

पाश्चात्य महाकाव्य

पाश्चात्य देशों में महाकवि होमर (Homer) के 'इलियड' (Illiad) और 'ओडेसी' (Odyssey) आदर्श महाकाव्य माने जाते हैं। अन्य महाकाव्य—जैसे (Vergil) का 'इनियड' (Aeneid) अथवा मिल्टन (Milton) का 'पैराडाइज़ लॉस्ट' (Paradise lost) इन्हीं के नमूने पर बने हैं। 'इनियड' में रोम के संस्थापक रोम्यूलस (Romulous) के पिता के साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन है। उसमें होमर की दोनों पुस्तकों की कथा का योग-सा है। 'पैराडाइज लॉस्ट' में ईश्वर के विरुद्ध शैतान का विद्रोह, आदम का बहकाया जाना, मनुष्य के पतन और ईश्वर द्वारा उसके उत्थान का वर्णन है। उसमें किसी जाति-विशेष का भाग्य-निर्णय नहीं वरन् ईसाई धर्म के अनुकूल सारी मानवता का उत्थान है। उसका उद्देश्य ईश्वरीय न्याय का उद्‌घाटन है (To justify the ways of God to men)।

रामायण से इलियड और ओडेसी की तुलना

रामायण की तुलना प्रायः 'इलियड' और 'ओडेसी' से की जाती है। इन काव्यों और रामायण में कुछ बातों की समानता अवश्य है। वाल्मीकीय रामायण की भाँति 'ओडेसी' का प्रचार भी गाकर हुआ था। गानेवाले 'रेपसोडोई' (Rhapsodoi) कहलाते थे। 'इलियड' में जिस लड़ाई का वर्णन है उसका आरम्भ भी एक स्त्री के हरे जाने के कारण हुआ था। 'ओडेसी' की नायिका बड़ी सती-साध्वी थी और उस पुस्तक में भी विवाह-सम्बन्धी परीक्षा में एक धनुष के झुकाये जाने की शर्त का उल्लेख है। सतीत्व के आदर्श में बहुत कुछ समानता है। हम यह नहीं कहेंगे कि सतीत्व केवल भारतीय स्त्रियों के ही बाँट में आया है। वास्तव में प्राचीन भारतीय और यूनानी सभ्यताओं में इतना अन्तर भी नहीं था। उन दिनों दोनों ही

देशों में धनुष ही प्रधान आयुध था।

इन सब समानताओं के होते हुए भी इन काव्यों का रामायण से अन्तर है। रामायण के नायक स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी हैं, अतः उनका देवताओं के साथ संघर्ष का कोई प्रश्न रामायण में उठता ही नहीं है। उसमें संघर्ष राक्षसों से है। देवता मनुष्य-रूप-धारी भगवान की सहायता करते हैं और वे भी देवताओं के कार्य के लिए ही संसार में आने का कष्ट करते हैं। रामायण की यह धार्मिक भावना 'इलियड' या 'ओडेसी' में नहीं है। सतीत्व के आदर्श में भी थोड़ा भेद है। सीता जी वाणी से भी रावण के वरण करने की बात स्वीकार नहीं करतीं। 'ओडेसी' की नायिका कम-से-कम यह तो कह देती है कि वह विशेष वस्त्र के बुन जाने पर विवाह कर लेगी (वह दिन को वस्त्र बुनती थी और रात का उसे छिन्न-भिन्न कर देती थी) किन्तु सीता ने निर्भय होकर रावण का तिरस्कार किया, विशेषकर जब कि वह राक्षसियों से दिन-रात घिरी रहकर रावण की ही अशोक-वाटिका में रहती थीं। मिल्टन की 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में तो ईश्वर के विरोध में शैतान का जो तर्क है वह उस देश की तत्कालीन मनोवृत्ति का परिचायक है। पाश्चात्य मनोवृत्ति में संघर्ष अधिक है। हमारे यहाँ के देवताओं में भी दण्ड देने की प्रवृत्ति है किन्तु रामायण में देवताओं और मनुष्यों का संघर्ष नहीं है वरन् देवताओं और दानवों का संघर्ष है।

यद्यपि भारतीय समीक्षा-शास्त्रों में स्वाभाविक और कलात्मक (Epic of Growth and Epic of Art) का विभाजन नहीं है तथापि हम वाल्मीकीय 'रामायण' को स्वाभाविक की कोटि में रख सकते हैं और 'शिशुपाल-बध' तथा 'किराता-र्जुनीय' को कलात्मक कह सकते हैं।

संस्कृत के महाकाव्य

'इलियड' और 'ओडेसी' के सम्बन्ध में कुछ लोगों की शंका है कि शायद ये एक ही कवि की रचना न हों और होमर भी व्यास शब्द की भांति सम्पादक की पदवी हो (भारतीय दृष्टि से तो व्यास एक ही व्यक्ति थे जिन्होंने अट्ठारह पुराण और महाभारत लिखा किन्तु अंग्रेज समीक्षक उन्हें एक व्यक्ति नहीं मानते हैं)। वाल्मीकीय रामायण के लिए यह शंका नहीं हो सकती है किन्तु उसमें प्रक्षिप्त अंश अवश्य है। यदि उसका प्रचार गाकर हुआ है, जैसा कि 'रामायण' और 'रघुवंश' दोनों से ही प्रतीत होता है तो उसमें घटाये-बढ़ाये जाने की अधिक

सम्भावना है। 'रघुवंश' में उसके गाये जाने का इस प्रकार उल्लेख है:—

'वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ।
किं तद्येन मनोहर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम्॥'

अर्थात् वृत्त रामचन्द्र जी का था, कृति वाल्मीकि जी की थी और उसके गाने वाले किन्नर-कण्ठ दोनों बालक थे तो सुनने वालों के मन को हरने के लिए कौन सी बात पर्य्याप्त न थी—इसमें चरितनायक, कवि और गायक तीनों को महत्त्व दिया गया है।

हमारे यहाँ महाभारत को इतिहास माना है किन्तु अँग्रेजी मान से उसे भी (Epic) या महाकाव्य कहते हैं। महाभारत में इतनी अन्विति नहीं है जितनी कि रामायण में। वह भारतीय संस्कृति का विश्व-कोष अवश्य है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'। संस्कृत के महाकाव्यों में स्वाभाविकता और कलात्मकता के विभिन्न स्तर हैं। कवि-कुल-गुरु कालिदास में स्वाभाविकता और कलात्मकता का बड़ा सुखद सम्मिश्रण है, इसीलिए तो उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि कवियों की गणना में कालिदास का नाम पहला है और दूसरा कवि उनकी टक्कर का न होने के कारण दूसरी अँगुली अनामिका ही रही। कुछ लोग माघ को तीनों गुणों—उपमा, अर्थ-गौरव और पद-लालित्य—से सम्पन्न मानकर शीर्ष-स्थान देते हैं।

कालिदास के ग्रन्थों में 'रघुवंश' की विशेष ख्याति है। यह उनका सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें रघु-वंश के कई राजाओं का काव्यात्मक वर्णन है परन्तु दिलीप, रघु, और राम के लोकोत्तर चरित्रों को प्रधानता दी गई है। इसी के कारण शायद साहित्य-दर्पणकार को लिखना पड़ा कि महाकाव्य का विषय एक राजा ही नहीं वरन् एक वंश के कई राजा हो सकते हैं—'एकवंशभवाः भूपाः कुलजा बहवोऽपिवा'। उसमें १६ सर्ग हैं।

महाकाव्य की वृहत्त्रयी में 'रघुवंश' के बाद दूसरा नाम भारवि के 'किरातार्जुनीय' का है। भारवि दक्षिण भारत के रहने वाले थे। 'किरातार्जुनीय' का कथानक महाभारत से लिया गया था और १८ सर्ग में है। इसमें अर्जुन और किरात-वेषधारी भगवान शङ्कर के युद्ध का वर्णन है। महादेव जी से अर्जुन का पाशुपत अस्त्र का प्राप्त करना इस महाकाव्य का फल है। इसमें शृंगार आदि रस गौण हैं

और द्रौपदी के प्रोत्साहन से पाण्डवों को युद्ध के लिए उत्तेजना दी गई है।

माघ के 'शिशुपाल-वध' का नाम बड़े आदर से लिया जाता है, यही उनका कीर्ति-स्तम्भ है। यह वृहत्त्रयी का तीसरा ग्रन्थ है, इसका कथानक भी महाभारत से लिया गया है। इसमें युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में चेदि-नरेश शिशुपाल के बध की कथा बड़े कौशल के साथ वर्णित है। उसी घटना के आधार पर इसका नामकरण हुआ है। इसकी कथा बीस सर्गों के साढ़े सोलह सौ श्लोकों में फैली हुई है। महाकाव्यों में श्री हर्ष का 'नैषधचरित' भी अपना विशेष स्थान रखता है। इसमें राजा नल का चरित है।

संस्कृत में और भी छोटे-बड़े महाकाव्य और खण्डकाव्य हैं किन्तु उनका उल्लेख यहाँ पर स्थानाभाव से नहीं किया गया है। ऊपर के ग्रंथों के विषय में कुछ न जानना सांस्कृतिक अज्ञता का द्योतक होता।

संस्कृत के शास्त्र-काव्यों में 'भट्टिकाव्य' का स्थान प्रमुख है। शास्त्र-काव्य उन्हें कहते हैं जिनमें कि काव्य के साथ-साथ व्याकरण आदि शास्त्रों का परिज्ञान करा दिया जाता है। भट्टि द्वारा लिखा हुआ काव्य उनके ही नाम से प्रसिद्ध है जिसका विषय रावण-बध है। इस काव्य में प्रायः साढ़े तीन हजार श्लोक २० सर्गों में आबद्ध हैं। भट्टि ने अपने काव्य के विषय में कहा है कि व्याकरण जानने वाले के लिए तो यह काव्य दीपक के समान है किन्तु उसके न जानने वाले के लिए यह अन्धे के हाथ की आरसी है। व्याकरण के शास्त्रीय ज्ञान से अनभिज्ञ लोगों के लिए इसका रसास्वाद करना कठिन है।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास तीन कालों में विभाजित किया जाता है:—

हिन्दी के महाकाव्य

(१) आदि काल अर्थात् वीर-गाथा-काल।

(२) भक्ति-काल जिसमें निर्गुण और सगुण दोनों ही शाखाएँ सम्मिलित हैं।

(३) वर्तमान-काल जिसके विकास-क्रम की तीन श्रेणियाँ की जा सकती हैं:—

(अ) हरिश्चन्द्र-युग

(ब) द्विवेदी-युग

(स) प्रसाद-पंत-निराला-युग

(१) *वीरगाथाकाल*—आदिकाल में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही प्रकार के काव्य लिखे गये। प्रबन्धकाव्यकार अपने व्यक्तित्व को अपने उपास्य अथवा आश्रयदाता के व्यक्तित्व में मिला देता है। यद्यपि वीरगाथा-काल में लोक-भावना का बाहुल्य था अर्थात् साहित्य का जनता से सम्पर्क था फिर भी कविता राज्याश्रित ही थी। कवि लोग स्वयं भी अपने आश्रयदाता की ओर से युद्ध में सम्मिलित होते थे और वे नितान्त पैसे के गुलाम न थे। उनमें चाहे आजकल-की-सी व्यापक राष्ट्रीय भावना न हो फिर भी वे अपने राज्य के लिए प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहते थे। चन्दबरदाई ने कलम और तलवार दोनों से ही पृथ्वीराज की सेवा की। अपने व्यक्तित्व को समर्पण करने वाले ऐसे ही कविगण प्रबन्धकाव्य लिख सकते थे।

पृथ्वीराजरासो—यद्यपि पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानोंका मतभेद है तथापि उसको हिन्दी के प्रथम महाकाव्य होने का श्रेय दिया जाता है। हम उसको स्वाभाविक विकासशील महाकाव्य (Epic of growth) कहेंगे। यह वृहद्ग्रन्थ ६९ समयों (अध्यायों) में समाप्त हुआ है और लगभग ढाई हजार पृष्ठ का है। यह ग्रन्थ पृथ्वीराज-केन्द्रित है। इसमें केवल युद्धों का ही वर्णन नहीं हुआ वरन् वीर-भावना के साथ शान्त और शृङ्गार का भी पर्याप्त पुट है। इसमें जो देवताओं और भक्ति, मुक्ति आदि की स्तुति हुई है वह उसके सांस्कृतिक पक्ष का द्योतक है। चौहान- वंश की उत्पत्ति के साथ-साथ क्षत्रियों के अन्य छत्तीस वंशों की उत्पत्ति आदि की कथाएँ भी चंद ने बड़े विस्तार के साथ कही हैं किन्तु इन वर्णनों में चौहान-वंश ही की प्रधानता है और चौहान-वंश में भी विशेषकर पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों और आखेट आदि के वर्णनों का प्राधान्य है।

पृथ्वीराजरासो के निर्माण में चन्द के पुत्र जल्हन का भी हाथ है क्योंकि उसने ही इस ग्रन्थ की समाप्ति की थी जिसका उल्लेख रासो में इस प्रकार आता है—

'पुस्तक जल्हन हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज'

इसकी भाषा के कई स्तर होने के कारण विद्वानों का मत है कि

मूल ग्रन्थ तो छोटा-सा ही रहा होगा किन्तु कालान्तर में इसमें बहुत-कुछ जोड़ा गया, फिर भी इस ग्रन्थ में तत्कालीन भावनाओं और जातीय आदर्शों का अच्छा परिचय मिलता है।

भक्तिकाल निर्गुण एवं प्रेमकाव्य

भक्तिकाल के निर्गुण-पंथियों में कबीर आदि ने मुक्तक गीत ही लिखे। वे परमात्मा को अपने में ही खोजते थे और उनका ध्येय किसी व्यक्ति विशेष की उपासना या आराधना न था। वे न अवतारी पुरुषों को ही मानते थे और न किसी राजा के ही आश्रित थे जिसके गुण-गान के लिए वे अपने को भूल जाते। उनका निर्गुण शुद्ध निर्गुण था। वह प्रेम का विषय तो बन सकता था किन्तु घटना प्रधान लौकिक महाकाव्य का विषय बनने के अयोग्य था।

पद्मावत—प्रेम-मार्गी शाखा के प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी संसार से इतने विमुख न थे। वे लोक और परलोक दोनों ही की साधना चाहते थे। उन्होंने अपने 'पद्मावत' में मसनवी-परम्परा के अनुकूल शेरशाह की भी वंदना की है। उन्होंने लौकिक प्रेम-गाथाओं के रूपक द्वारा पारमार्थिक प्रेम की साधना की है। पद्मावती की प्रेम-कथा जो पृथ्वीराजरासो में वीर-रस के आश्रित गौण थी वह जायसी की 'पद्मावत' में मुख्यता प्राप्त कर लेती है। पद्मावत में कथा भी है और रूपक के द्वारा अलौकिक तत्वों की व्यञ्जना भी है। यद्यपि जायसी मुसलमान थे तथापि वे भारतीय संस्कृति से पूर्णतः परिचित थे। थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ उनके काव्य में भारतीय अन्तर्कथाओं और धार्मिक परम्पराओं का उल्लेख हुआ है। उसमें 'रासो' की अपेक्षा अन्विति अधिक है और आरम्भ से लेकर अन्त तक शैली और भाषा की एक-रसता है। 'पद्मावत' प्रबन्धकाव्य का अच्छा उदाहरण कहा जा सकता है। ऐसे स्थलों को छोड़कर जिनमें नाम-परिगणन की प्रवृत्ति है और एक ही विषय का वर्णन कुछ आवश्यकता से अधिक हो गया है उसमें कथा का निर्वाह अच्छा हुआ है। कोई वस्तु ऐसी नहीं लाई गई जिसका कथानक में उपयोग न हुआ हो, जैसे समुद्र से प्राप्त किये हुए रत्न अलाउद्दीन को सन्धि की पूर्ति में भेंट किये गये। इसमें कथानक के साथ रूपक भी चलता है और दोनों को ही समान महत्व है। इसी-लिए आचार्य शुक्लजी ने इसे समासोक्ति कहा है।

(८) भक्ति-काल—सगुण भक्ति-काव्य

रामचरितमानस—भक्ति-काल की सगुण शाखा में दो शाखाएँ प्रस्फुटित हुई थीं—

(१) कृष्णाश्रयी

(२) रामाश्रयी

कृष्णोपासक कवियों में अपने आराध्य का माधुर्य-पक्ष ही लिया था और इस कारण से उनका मन प्रगीतात्मक मुक्तकों के लिखने में अधिक रमा। ब्रजभाषा प्रगीत-काव्य के लिए उपयुक्त भी थी। यद्यपि भगवान कृष्ण के जीवन का लोकरक्षक पक्ष भी था तथापि उनका माधुर्यमय लोकपक्ष अधिक आकर्षक था। राम-काव्य के नायक के जीवन में पर्याप्त अनेकरूपता थी जो सहज में प्रबन्ध-काव्य का विषय बन सकती थी। तुलसीदासजी ने यद्यपि कोमल भावनाओं के लिए ब्रजभाषा की मुक्तक शैली को भी अपनाया था तथापि उनके आराध्य मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी की जन्मभूमि की भाषा होने के कारण उनकी रुचि अवधी की ओर अधिक थी। उनका वृहद्ग्रन्थ (Magnum Opus) अवधी में लिखा गया। तुलसीदास जी के सामने अवधी में प्रबन्ध-काव्य का एक उदाहरण भी था जिसमें कि दोहा-चौपाइयों की शैली प्रशस्त की जा चुकी थी। प्रबन्ध-काव्य अवधी भाषा की प्रकृति के अनुकूल अधिक है। ब्रज में मुक्तक अधिक सफल रहता है। आधुनिक युग में भी कृष्णायन काव्य अवधी में ही लिखा गया है। तुलसीदास जी ने भक्ति-भावना से प्रेरित होकर अपने महा-काव्य को खंडकाव्य की भाँति सजाया और सम्हाला। जो बात कि अंग्रेजी में ताजमहल के लिए कही गई है कि—"उन्होंने दानवों की भाँति वृहदाकार में उसका निर्माण किया और जौहरियों की भाँति एक-एक फूल-पत्ती की पच्चीकारी की"—(They built like giants and finished like jewellers)—वह रामचरितमानस के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। नन्ददास जी तो केवल 'जड़िया' ही थे किन्तु तुलसीदास 'गढ़िया' और 'जड़िया' दोनों ही थे। रामचरितमानस में आदर्श प्रबन्ध-काव्य-का-सा कथानक और भावना का संतुलन है तथा साथ ही स्वाभाविकता और कला का सामञ्जस्य है। राम-कथा के न कहने वाले होते हुए भी उसकी प्रबन्धात्मकता में अन्तर नहीं आने

पाया है। तुलसीदास जी ने काव्य-सौष्ठव को बढ़ाने के लिए वाल्मीकीय रामायण की कथा से कहीं-कहीं अन्तर कर दिया है (जैसे परशुराम जी का आगमन विवाह से पूर्व महाराज जनक की राजसभा में ही दिखाया गया है। वाल्मीकीय की भाँति विवाह के पश्चात् बरात लौटते समय नहीं। गोस्वामी जी को रामचन्द्र की महत्ता समस्त क्षत्रिय-समाज में दिखानी थी और वह धनुष यज्ञ के स्थल पर वर्तमान था। इसके अतिरिक्त जनक की सभा में परशुराम जी के क्रोध के उद्दीपन की सामग्री भी अधिक थी)। तुलसीदास जी ने 'प्रसन्न राघव' आदि नाटकों से भी सामग्री ली है (क्वचिदन्यतोऽपि) किन्तु सब सामग्री को एक प्रबन्ध में बांधकर उसको एकरस कर लिया है।

रामचरितमानस में रामचन्द्रिका का-सा छन्द-वैविध्य का प्राचुर्य तो नहीं है किन्तु तुलसी ने अपने को दोहा-चौपाइयों में ही सीमित नहीं किया है वरन् प्रसंगानुकूल छप्पय आदि अन्य छंदों का भी समावेश किया है।

रामचन्द्रिका—केशव की 'रामचन्द्रिका' यद्यपि प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिखी गई थी तथापि उसमें मुक्तक-की-सी स्फुटता विद्यमान है। कथा के तारतम्य की अपेक्षा अलङ्करण एवं पाण्डित्य-दर्शन की ओर कवि की रुचि अधिक थी। कथाओं में न तारतम्य है और न अनुपात। राम-वनवास की सारी बात एक छंद में चलती कर दी जाती है:—

"यह बात भरत्थ को मातु सुनी।
पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी॥
तेहि मंदिर मो नृप सों बिनयो।
वर देहु हुतो हमको जु दयो॥"
(कैकेयी) नृपता सुविसेस भरत्थ लहैं॥
बरषै बन चौदह राम रहैं॥

केशव ने मार्मिक स्थलों का भी ध्यान नहीं रक्खा। बनगमन समय वे रामचन्द्र जी द्वारा कौशल्या को पातिव्रत धर्म का उपदेश दिलाते जो सर्वथा अनुपयुक्त स्थल था। रामचन्द्र जी भगवान होते हुए भी कौशल्या के पुत्र थे। वे क्या अपनी माता को वैधव्य का आचार बताते? यदि इसी का वर्णन करना था तो वशिष्ठ जी के मुख से अधिक उपयुक्त होता।

'दों और अलङ्कारों के बाहुल्य ने 'रामचन्द्रिका' के प्रवाह को

कुण्ठित-सा कर दिया है। केशव का तो आदर्श वाक्य ही था कि—

"भूषन बिन न राजई कविता, बनिता, मित्त।"

फिर उनके ग्रन्थ में अलङ्कारों की प्रधानता क्यों न होती? किन्तु फिर भी अलङ्कारों के प्रयोग में उनके प्रयोग-करने-वाले की पात्रता का ध्यान रखना आवश्यक था। गाँव की स्त्रियाँ सीताजी के मुख की चन्द्रमा से समता करती हुई कहती हैं:—

वासों मृग अंक कहैं तो सों मृग नैनी सब,
वह सुधाधर तुहूँ सुधाधर मानिये।
वह द्विजराज तेरे द्विजराजि राजै,
वह कलानिधि तुहू कलाकलित बखानिये॥

तुलसी और उनके दृष्टिकोण में और भी अन्तर था। तुलसी ने अपने कवित्व-विवेक पर गर्व न करके सारा श्रेय अपने आराध्य रामचन्द्र जी को ही दिया है—

"एहि महँ रघुपति नाम उदारा।
अति पावन पुरान-स्रुति-सारा॥"

किन्तु केशव ने 'रामचन्द्रिका' में अपने ग्रन्थ के बहु छंदों का सगर्व उल्लेख किया है 'रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छंद'। जहाँ तुलसीदास जी प्राकृत जन-गुण-गान को एक पाप समझते थे वहाँ केशवदास जी राज्याश्रय में रहकर राज-सा करते थे। उनके लिए राम की अपेक्षा अपने सुख और व्यक्तित्व का प्राधान्य था। यह बात नहीं कि केशव में भक्ति नहीं थी तथापि तुलसी की भाँति वे अपने राम में अपने पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व को भुला न सके। वास्तव में रामचन्द्रिका अपने विषय के अनुसार भक्ति-काव्य है और शैली के अनुसार रीति-काव्य है।

रीति-काल

रीति-काल में कविता जनता की वस्तु न रहकर राज्याश्रय में पहुँच गई। वीर-गाथा-काल के कवियों की भाँति कवि लोग रण-शूर न थे और न उनमें वैसा अपने राज्य के प्रति वीरोल्लास था। वे तो गुलगुली-गिल्मों और सुराही-प्याले के भक्त थे। कोई राजा भी ऐसा न था जिसके लिए प्रबन्ध-काव्य लिखा जाता। कवि-गण शृंगारिक विलासिता में मस्त थे और सस्ती वाहवाही चाहते थे। (मतिराम, देव आदि महाकवियों के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं है)। भूषण उस समय के अपवाद होते हुए भी प्रबन्ध-काव्य न लिख सके यद्यपि शिवाजी में प्रबन्ध-काव्य के नायक

होने की क्षमता थी तथापि भूषण समय के प्रवाह में बह गये और उन्होंने मुक्तक लिखकर ही संतोष किया।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में हरिश्चन्द्र और उनके अनुयायियों ने मुक्तक को ही अपनाया। हरिश्चन्द्र जी कृष्ण-भक्ति के रंग में रँगे हुए थे, उन पर अष्टछाप के कवियों का पर्याप्त प्रभाव था।

वर्तमान काल (हरिश्चन्द्र और द्विवेदी-युग)

इसके अतिरिक्त उनका ध्यान देश-भक्ति, समाज-सुधार और नाटकों के उत्थान की ओर आकर्षित हो गया था। भारतेन्दु-युग में कोई प्रबन्ध-काव्य न लिखा जा सका।

द्विवेदी-युग में राष्ट्रीयता के उत्थान के कारण आदर्शवाद बढ़ा और प्राचीन आदर्शों की ओर ध्यान गया। गुप्त जी की 'भारत-भारती' ने सांस्कृतिक जागरण की भेरी बजाई। प्राचीन आदर्श राम और कृष्ण के लोकोत्तर पावन चरित्रों में मूर्त्तिमान थे। उनका स्थायी अङ्ग अंग्रेजी राज्य का बढ़ता हुआ बुद्धिवाद भी न धो सका। भक्ति-भाव को बुद्धिवाद के अनुकूल बनाकर गुप्तजी और हरिऔध जी ने राम तथा कृष्ण के चरित्र 'साकेत' और 'प्रिय प्रवास' में अंकित किये। गुप्त जी की अपेक्षा उपाध्याय जी के ऊपर बुद्धिवाद का प्रभाव कुछ अधिक है। हरिऔध जी के कृष्ण कर्त्तव्यपरायण लोकनायक ही हैं किन्तु गुप्तजी के राम साक्षात् ईश्वर हैं—

"राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुये नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे;
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।"

प्रिय-प्रवास—खड़ी बोली के प्रारम्भिक काल में मुक्तक काव्य का ही प्राधान्य था किन्तु उस समय भी मुक्तक को वह गौरव न मिल सका जो कि प्राय: प्रबन्ध-काव्य को मिला करता था। खड़ी बोली की इस कमी को पहली बार अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने पूरा किया। अतुकान्त संस्कृत-छंदों में लिखे हुए 'प्रिय-प्रवास' का महाकाव्य के रूप में स्वागत किया गया। इस ग्रन्थमें करुणा-विप्रलम्भ-शृंगार और वात्सल्य के वियोग-पक्ष का प्राधान्य है। भगवान श्रीकृष्ण जाति के लोकप्रिय नेता के रूप में आते हैं। प्राचीन हिन्दी कवियों ने श्रीकृष्ण के विलासी और लीलामय रूप को ही देखा था किन्तु उपाध्याय जी ने उनके कर्तव्य-

परायण और लोक-रक्षक रूप को सामने रक्खा और राधा के चरित्र को भी श्रीकृष्ण के अनुरूप लोक-सेवक रूप ही प्रदान किया। उनका वैयक्तिक प्रेम विश्वप्रेम में परिणत होता हुआ दिखाया गया है—

"पाई जाती विविध जितनी वस्तु हैं जो सबों में।
मैं प्यारे को अमित रँग औ, रूप में देखती हूँ॥
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा॥"

जिस ज्ञान से उपदेश को बेचारे ऊधो मथुरा से देने आये थे उसमें राधा पहले ही से रँगी हुई थीं। वे इतनी कर्त्तव्यशीला दिखाई गई हैं कि कृष्ण को कर्त्तव्य-विमुख करके अपने घर भी लौटना नहीं चाहतीं—

"प्यारे जीवें, जग-हित करें, गेह चाहे न आवें।"

उपाध्याय जी ने परम्परागत नवधा भक्ति को भी लोक-सेवा का ही रूप दे दिया है। इस प्रकार हम 'प्रिय-प्रवास' में राधा-कृष्ण की एक नई झाँकी देखते हैं।

'प्रिय-प्रवास' में गिरि-गोबर्धन-धारण की अलौकिक लीला को बुद्धि-वाद की तुष्टि के लिए एक लौकिक रूप दे दिया है। गिरिराज का अँगुली पर उठाना वास्तविक रूप में नहीं वरन् लाक्षणिक रूप में स्वीकार किया जाता है—

"लख अपार प्रसार, गिरीन्द्र में,
ब्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोक लगे कहने उसे,
रख लिया है उँगली पर श्याम ने॥"

'प्रिय-प्रवास' का भाव-पक्ष पर्याप्त रूप में पुष्ट है। वर्तमान युग की कर्त्तव्यपरायणता की माँग के साथ वैयक्तिक विरह-वेदना को जितना आश्रय मिल सकता है उसका पूर्णातिपूर्ण विस्तार है। वात्सल्य की भी पावन झाँकी उसमें दिखाई देती है। घटना-क्रम का अभाव तो नहीं है किन्तु भगवान् कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ स्मृति के रूप में ही वर्णित हुई हैं। 'प्रिय-प्रवास' के रङ्गमञ्च पर भगवान स्वयं नहीं आये वरन् गोप और गोपियों द्वारा ही विरह-वर्णन के मिष उनके लोकप्रिय चरित्रका उद्घाटन किया गया है। इसीलिए बहुत से लोग उसे महाकाव्य न कहकर एक विरह-काव्य ही कहना पसन्द करते हैं। पं० श्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'प्रिय-प्रवास' और 'साकेत' दोनों को ही

साहित्य की एक नई विधा 'एकार्थ काव्य' के अन्तर्गत रखा है। सर्गों और छंदों की दृष्टि से 'प्रिय-प्रवास' में महाकाव्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है। उसमें महाकाव्य के वर्ण्य विषय भी प्रायः सभी आ गये हैं। वर्ण्य विषय के अन्तर्गत प्राकृतिक चित्रण में वे आचार्य केशवदास से ही प्रभावित हुए हैं। उन्होंने देश-काल के विपरीत ब्रज में सभी अच्छे-अच्छे वृक्षों की तालिका-सी दे दी है:—

"जंबू, अंब, कदंब, निंब, फलसा, जंबीर, औ, आँवला।
लीची, दाड़िम, नारिकेल, इमिली औ' शिंशपा इंगुदी॥
नारंगी, अमरूद, बिल्व, बदरी, सागौन शालादि भी।
श्रेणी-बद्ध तमाल, ताल, कदली औ' शाल्मली थे खड़े॥"

लीची, नारिकेल, सागौन और शाल ये वृक्ष ब्रज में स्वाभाविक रूप से नहीं होते। हरिऔध जी इस नाम-परिगणन में उन करील की कुञ्जों को तो भूल ही गये जिनके ऊपर रसिक रसखान "कोटिन कलधौत के धाम" न्यौछावर करने को तैयार थे।

'प्रिय-प्रवास' में यद्यपि महाकाव्य के बहुत से लक्षणों का निर्वाह हो जाता है तथापि उसका मूल ध्येय विरह-निवेदन होने के कारण उसे महाकाव्य की पंक्ति में प्रश्न-चिन्ह के साथ ही रक्खा जायगा।

श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र जी के '*कृष्णायन*' ने इस युग में कृष्णचरित को प्रबन्ध-काव्य के रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने कृष्ण भगवान के ब्रज, मथुरा और द्वारिका के जीवन को एक कथा के तारतम्य में आबद्ध करके चरित-नायक के जीवन की अनेकरूपता के दर्शन कराये हैं। मिश्रजी ने प्रबन्ध-काव्य की प्रतिष्ठित भाषा अवधी को ही अपनाया है। पुस्तक भर में दोहा चौपाई और सोरठा छन्दों से काम लिया गया है। ये छन्द कथा के प्रवाह को आवश्यक गति और विराम दे देते हैं। इस ग्रन्थ में भी भावुकता की अपेक्षा कर्तव्य-परायणता की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। ब्रज और मथुरा के माधुर्यमय स्थलों में सूर की स्पष्ट छाप है। पहले तो बाल-वर्णन की जो सरसता ब्रज भाषा में आ सकती है वह अवधी में नहीं मिश्र जी की अवधी में भी संस्कृत-तत्सकता की ओर अधिक झुकाव है। पूरे कृष्ण चरित को एक स्थान में रख देने के लिए यह ग्रन्थ चिर-स्मरणीय रहेगा।

साकेत—राम-काव्य की परम्परा को गुप्तजी ने 'साकेत' में पुनर्जी-

वन प्रदान किया है। 'साकेत' में रामचरित्र के सहारे उर्मिला और लक्ष्मण को प्रधानता दी गई है। ये ही इसके नायक और नायिका है। लक्ष्मण से भी अधिक मुख्यता उर्मिला को मिली है। रवि बाबू और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन कवियों की उर्मिला-विषयक उपेक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किया था। इसी कमी को गुप्त जी ने पूरा किया। रामचरित्र से संबन्धित सारी कथा में सबसे अधिक त्याग उर्मिला का ही था, इस बात को गुप्त जी ने सीता जी के मुख से स्पष्ट करा दिया है। सीताजी को बनवास में भी राम का सहवास मिला था किन्तु बेचारी उर्मिला राजमहल के उस चिर-परिचित प्रेम-पूत वातावरण में लक्ष्मण के भ्रातृ-प्रेम और कर्तव्यपरायणता के कारण पति-प्रेम से वंचित रही। इसीलिए सीता जी कहती हैं—

"आज भाग्य है जो मेरा,
वह भी न हुआ हा! तेरा।"

इस प्रकार बेचारी उर्मिला पति की भी उपेक्षिता रही और कवियों की भी।

गुप्त जी ने लक्ष्मण और उर्मिला के चरित्र को उभारा अवश्य है किन्तु उसके कारण रामचरित्र को गौण नहीं बनाया है। यह गुप्तजी का मर्यादावाद परम सराहनीय है। प्राचीन मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए ही ग्रन्थ का नाम 'साकेत' रक्खा जिससे कि राम का महत्त्व बना रहे। इस नामकरण का एक दूसरा भी कारण है कि इसका घटना-क्रम साकेत नगरी में ही चला है। जो प्रत्यक्ष रूप से साकेत में नहीं घटित हुआ है उसको दूसरे रूप से वे साकेत-वासियों के सम्पर्क में ले आये हैं। विवाह के पूर्व जनकपुर की कथा को विरह-वर्णन में उर्मिला के मुख से कहला दिया है और वन की घटनाओं को कुछ तो हनूमान जी के मुख से कहला दिया है और कुछ वशिष्ठ जी द्वारा प्रदान की हुई दिव्य दृष्टि से साकेत वासियों को दिखा दिया गया है (यह बात अलौकिक अवश्य कही जायगी और अलौकिक के लिए इस युग में स्थान नहीं, फिर भी रेडियो और टेलीविजन के युग में ऐसी बातों को असम्भव कहना ठीक नहीं। अपने-अपने युग के साधन अलग होते हैं। आजकल यन्त्र का बल है तो उस समय योग का बल था।) चित्रकूट में जो घटनाएँ हुई हैं ये सब साकेत-समाज की उपस्थिति में घटी हैं।

गुप्त जी ने कथा की परम्परा को स्थिर रखते हुए भी कुछ नई उद्भावनाएँ की हैं जिनसे कि काव्य का सौष्ठव अधिक बढ़ जाता है। तुलसीदास जी ने तो चित्रकूटस्थ कैकयी के सम्बन्ध में इतना कह कर सन्तोष किया है कि:—

'कुटिल रानि पछितानि अघाई'।

किन्तु गुप्तजी ने उसके पश्चाताप को पूर्णरूपेण मुखरित कर दिया है:—

'युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।'

पतित को उठाना ही सच्ची वैष्णवी भावना है। मंथरा चित्रण में भी गुप्तजी ने बड़ी मनोवैज्ञानिकता से काम लिया है। तुलसी की मंथरा की भाँति वह भी उपेक्षा-भाव धारण करती है किन्तु साथ ही फूट का एक ऐसा सबल बीज बो देती है कि जिसका निवारण कैकयी का राम-विषयक स्नेह भी नहीं कर सका। मंथरा कहती है—

"भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह!"

गुप्त जी की दूसरी उद्भावनाओं में अयोध्या में रामचन्द्र जी को सहायता के लिए एक फौज तैयार कराना है। लक्ष्मण को शक्ति लगने की खबर सुनकर भरत और उर्मिला का वहीं बैठा रहना कुछ अस्वाभाविक-सा था। तुलसीदास ने 'मानस' में तो नहीं किन्तु 'गीतावली' में इस ओर संकेत किया है। गुप्त जी ने इस कमी को पूर्ण रूप से पूरा कर दिया है। अयोध्यावासियों का उत्साह और उनकी तन्मयता लगभग वैसी ही है जैसी कि कृष्ण के महारास में सम्मिलित होने के लिए सूर और नन्ददास की गोपियों की थी—

"यों ही शंख असंख्य हो गये, लगी न देरी,
घनन-घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी।
काँप उठा आकाश, चौंककर जगती जागी,
छिपी क्षितिज में कहीं, सभय निद्रा उठ भागी।
बोले बन में मोर, नगर में डोले नागर,
करने लगे तरङ्ग-भङ्ग सौ-सौ स्वर-सागर।
उठी क्षुब्ध-सी अहा! अयोध्या की नर-सत्ता,
सजग हुआ साकेत पुरी का पत्ता-पत्ता।

भय-विस्मय को शूर-दर्प ने दूर भगाया,
किसने सोता हुआ यहाँ का सर्प जगाया।
प्रिया-कण्ठ से छूट-सुभट-कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त-बधू जन-हस्त स्रस्त-से वस्त्रों पर थे।
प्रिय को निकट निहार उन्होंने साहस पाया,

अन्त में वशिष्ट जी ने योग-बल से युद्ध भूमि में राम की विजय दिखाकर इस आवश्यकता का निवारण कर दिया था।

साकेत में भरत का चरित्र पूर्ण निखार में आया है। उस पर गीतावली का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं लक्ष्मण का चरित्र आवश्कयता से अधिक उद्धत हो गया है। भरत के सम्बन्ध में वे राम के शासन को भी मानने को तैयार नहीं होते :—

"उनको इस शर का लक्ष चुनूंगा क्षण में,
प्रतिषेध आपका भी न सुनूंगा रण में।"

किन्तु उनकी इस उद्धत्तता में भी राम के प्रति भक्ति-भावना की पराकाष्ठा दिखाई देती है। 'आपका भी' इन शब्दों में राम के शासनाधिकार की स्वीकृति है।

रामचन्द्र जी का चरित्र कर्त्तव्यपरायण होते हुए भी शुष्क और नीरस नहीं है। चित्रकूट में गुप्त जी ने सीता के पारिवारिक जीवन के सहवास-सुख (Joy of fellowship) की अच्छी झाँकी दिखाई है। गुप्तजी और गोस्वामी जी के 'मानस' के राम में एक और भी अन्तर है। तुलसी के राम मनुष्य-रूप में भी ब्रह्म हैं और गुप्त जी के राम ब्रह्म होते हुए भी मनुष्य हैं। 'साकेत' में सीता से वार्तालाप करते हुए रामचन्द्र जी अपने ईश्वरीत्व की भावना को प्रकाश में लाते हैं :—

"अथवा आकर्षण पुण्यभूमि का ऐसा,
अवतरित हुआ मैं, आप उच्च फल जैसा।
जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे॥"

किन्तु गुप्तजी तुरन्त ही उनको देवत्व के उच्च शिखर से उतार कर मानवता की भाव-भूमि पर ले आते हैं और उनसे कहलाते हैं :—

"पर जो मेरा गुण कर्म स्वभाव धरेंगे।
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे॥"

'साकेत' में भारतीय संस्कृति और पारिवारिक जीवन की भावना

पूर्णरूपेण परिपुष्ट हुई है। जैसा महाकव्य के लक्षणों के प्रसंग में बतलाया गया है इसके नायक भी आर्यों का आदर्श बताने ही आये थे, सुर-कार्य-साधना के लिए नहीं।

'साकेत' का मूल उद्देश्य तो उर्मिला-विषयक उपेक्षा को ही दूर करना है किन्तु उसमें प्रसंगवश यत्र-तत्र गांधीवाद के सरल जीवन, हाथ की कताई-बुनाई और विनत विद्रोह आदि के सिद्धान्तों का भी समावेश होगया है। राजा को प्रजा द्वारा चुने जाने की बात आधुनिक प्रजातन्त्रवाद की प्रतिध्वनि है। उस समय के आदर्श राजा-प्रजा के प्रतिनिधि अवश्य होते थे किन्तु उनमें चुनाव के विपरीत वंशानुक्रम की परम्परा थी। ये विचार काले-दूषण (Anachronism) के अन्तर्गत अवश्य आयँगे। गुप्तजी के पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि वे समय के प्रभाव से नहीं बच सके और उनके हृदय की भावनाएँ देश काल के बन्धनों को तोड़कर झंकरित हो उठी हैं।

साकेत की प्रबंधात्मकता के संबन्ध में कुछ विद्वानों को सन्देह है। यह बात माननी पड़ेगी कि उर्मिला के अत्यधिक विरह-वर्णन के कारण साकेत की घटना-प्रवाह कुछ कुण्ठित-सा हो गया है। 'प्रिय-प्रवास' की भाँति 'साकेत' में भी बहुत-सा घटना-क्रम स्मृति के रूप से आया है किन्तु घटनाओं का प्रत्यक्ष वर्णन भी प्रिय-प्रवास' की अपेक्षा इसमें अधिक है। कथा के प्रवाह वर्णनों के सौष्ठव और साँस्कृतिक पक्ष की प्रबलता के कारण 'साकेत' प्रबन्ध-काव्य के आदर्श के अधिक निकट आती है।

वैयक्तिकता के प्राधान्य के कारण यह युग-मुक्तक गीतों का है। इनका प्रभाव 'साकेत' पर भी पड़ा। उसमें यत्र-तत्र जैसे—'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया, मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया' आदि बड़े सुन्दर गीत भी आये हैं किन्तु उर्मिला के वे विरहोद्‌गार प्रबंध के विशाल प्रासाद में नगीने से जड़े हुए हैं।

गुप्त जी पर दूसरा आक्षेप यह है कि प्रथम सर्ग में उर्मिला-लक्ष्मण का प्रेमालाप अश्लीलता के वर्ज्य तट को स्पर्श कर गया है। इस संबंध में इतना ही कहना आवश्यक है कि उर्मिला के त्याग और विरह-वेदना की विषमता दिखलाने के लिए तुलना में संयोग का सुख दिखाना वांछनीय था। यदि लक्ष्मण आरंभ से ही व्रती और उदासीन होते तो न उनके और न उर्मिला के त्याग का ही इतना महत्त्व होता।

तुलसीदास जी की-सा मर्यादा तो गुप्तजी राम के चित्रण में भी नहीं पालन कर सके किन्तु राम को मनुष्य रूप में दिखाकर उन्होंने उनके लोकोत्तर चरित्रों को हमारे लिए भी शक्य और सम्भव बना दिया है।

७. कामायनी—आधुनिक युग की बृहत्त्रयी में तीसरा महाकाव्य 'कामायनी' है। 'कामायनी' में भी जायसी के पद्मावत की-सी रूपक और कथानक के सम्मिश्रण की प्रवृत्ति है। वास्तव में वह कथात्मक ग्रन्थ की अपेक्षा विचारात्मक ग्रन्थ अधिक है, फिर भी उसमें कथा के साथ विचारों का सुन्दर समन्वय हुआ है। इसमें प्रसङ्गवश चिन्ता, श्रद्धा, बुद्धि, लज्जा, काम, ईर्ष्या आदि मनोवृत्तियों का सुन्दर चित्रण किया गया है। प्रसाद जी प्राचीनता के उपासक थे। वे प्राचीनता को उस सीमा तक ले गये हैं जहाँ कि कल्पना के भी पैर लड़खड़ाने लग जाते हैं। 'कामायनी' का कथानक आदिकाल धूमिल वैदिक उपाख्यानों से लिया गया है। महाप्रलय में देव-सृष्टि का निर्बाधित मधुमय हास-विलास का अन्त हो जाता है, केवल अकेले मनु बच रहते हैं। चिंता-कातर एकाकी होकर वे घबड़ा उठते हैं, उसी समय काम-गोत्रजा 'कामायनी' से उनका परिचय और फिर परिणय हो जाता है। मानवीय संस्कारों और संस्कृति का नये सिरे से सृष्टि होती है परन्तु महाराज मनु प्राचीन देव संस्कारों को भुला न सके, वे पशु-बलि करते हैं। इसी से 'श्रद्धा' और 'मनु' के मत-मुटाव की जड़ जम जाती है (प्रसाद जी ने करुणालय आदि अपने नाटकों में पशुबलि का घोर विरोध किया है)। 'श्रद्धा' गर्भवती हो जाती है और वह अपनी भावी सन्तान की चिन्ता करने लगती है। मनु के हृदय में इससे भी ईर्ष्या उत्पन्न होती है क्योंकि वे अविभाजित प्रेम चाहते थे। मनु श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं। सारस्वत देश में पहुँचकर उसकी रानी 'इड़ा' से जो देवताओं की बहन थी और 'बुद्धि' की प्रतीक थी, भेंट होती है। वहाँ मनु रहने लगते हैं और एक नयी यन्त्रमयी संस्कृति को जन्म देते हैं। जब वे सारस्वत देश की रानी 'इड़ा' को भी अपनी काम-वासना का विषय बनाने लगते हैं तो 'इड़ा' की प्रजा मनु के प्रति विद्रोह कर उठती है और मनु आहत हो जाते हैं।

'श्रद्धा' को स्वप्न में यह सब वृत्त ज्ञात हो जाता है और वह अपने पुत्र 'मानव' के साथ मनु की खोज में 'इड़ा' के देश में पहुँच जाती है। वहाँ से 'श्रद्धा' मनु को साथ लेकर तथा, मार्ग में मानव

को 'इड़ा' के हाथ सौंपकर, कैलाश की ओर चली जाती है। कैलाश-प्रदेश में ज्ञान, इच्छा और क्रिया के स्वर्ण, रजत और लौहमय तीन विन्दुओं को पृथक दिखाकर अपनी स्मिति-रेखा से उन्हें एक कर देती है तथा त्रिपुर-दाह के कथानक को रूपक में सार्थक करती हुई तीनों के समन्वय का उपदेश देती है। 'कामायनी' की यह समन्वय-भावना भारतीय संस्कृति का एक प्रधान अङ्ग है। इसमें शैव दर्शन की समरसता के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन हुआ है। 'कामायनी' भी गाँधीवाद के प्रभाव से खाली नहीं है, उसमें भी यान्त्रिक सभ्यता का विरोध हुआ है :—

'प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी !
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी,'

'कामायनी' के जो आलोचक कहते हैं कि प्रसाद जी ने 'श्रद्धा' को ऊँचा उठाकर बुद्धिवाद के विरुद्ध हृदयवाद का पक्ष लिया है उसमें इतना ही सत्य है कि मनु को श्रद्धा द्वारा अन्तिम रहस्य के दर्शन होते हैं। यह बात किसी अंश में सत्य भी है क्योंकि तत्त्व-दर्शन में जहाँ बुद्धि पीछे रह जाती है वहाँ श्रद्धा और प्रातिभ ज्ञान (Intution) द्वारा रहस्य का उद्घाटन हो जाता है किन्तु प्रसाद जी ने तर्क और बुद्धि की उपेक्षा नहीं की है। वे समन्वयवादी थे। 'श्रद्धा' ने 'मानव' को 'इड़ा' के हाथ इसलिए सौंपा था कि 'बुद्धि' और 'श्रद्धा' का समन्वय हो जाय। 'मानव' को 'इड़ा' के साथ रहने का आदेश देते हुए 'कामायनी कहती है:—

'हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा-भार;
वह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय।'

कामायनी में प्रकृति के और उग्र रूप दोनों के ही चित्रण मिलते हैं। सौम्य चित्रणों में छायावादी शिल्प-विधान का प्रभाव है और कहीं-कहीं रहस्यवाद की भी झलक मिल जाती है।

'महानील इस परम व्योम में
अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करने से संधान।

'कामायनी' के प्रति यह एक आक्षेप भी है कि उसमें मनु का चरित्र गिरा दिया है। यह युग नारी के प्राधान्य का अवश्य है किन्तु एक के चरित्र को उठाने के लिए दूसरे के चरित को गिरा देना न्याय-संगत नहीं जँचता। 'कामायनी' को देखकर यही कहा जा सकता है कि यह नायिका-प्रधान काव्य है। जिस प्रकार कानूनमें 'He includes she' रहता है उसी प्रकार साहित्य में भी नायक में नायिका भी शामिल समझना चाहिए। आध्यात्मिक अर्थ में यदि श्रद्धा को ईश्वर माना जाय तो मनु का मानव-दुर्बलताओं से पूर्ण चरित आश्चर्यजनक नहीं रहेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि रूपक के निर्वाह के लिए मनु के आदिम पुरुष और सभ्यता के प्रवर्तक होने के चिरप्रतिष्ठित गौरव का बलिदान किया गया है। जायसी में भी कहीं-कहीं रूपक के निर्वाह के लिए कथा में लौकिक सम्बन्धों का पूर्णतया पालन नहीं हो सका है। पद्मावत में रत्नसेन के, तोते द्वारा पद्मावती के रूप वर्णन-मात्र से, उस पर मुग्ध होकर विरह-विह्वल हो जाने की बात को शुक्ल जी ने अस्वाभाविक बतलाया है। उन्होंने यह भी कहा है कि यह सच्चा प्रेम नहीं वरन् मोह है। इस प्रकार शाब्दिक वर्णन-मात्र को सुनकर विरह-व्याकुल होना किसी अंश में अस्वाभाविक अवश्य है किन्तु इसमें रूपक का निर्वाह ठीक बैठ जाता है। तोता को गुरु माना, गुरु के उपदेश-मात्र से साधक को भगवान में आसक्ति हो जाती है और वह विरह से व्याकुल हो जाता है। नागमती रत्नसेन की विवाहिता पत्नी है फिर भी आध्यात्मिक पक्ष में उसको दुनिया का धन्धा कहा गया है। यहाँ पर जो बात अप्रस्तुत विधान में ठीक जाती है वह प्रस्तुत में अनुचित सी प्रतीत होती है।

साकेत-संत—जिस प्रकार गुप्त जी ने अपने 'साकेत' में लक्ष्मण और उर्मिला के चरित को प्रधानता दी है उसी प्रकार पण्डित बलदेव प्रसाद मिश्र ने अपने 'साकेत-संत' में भरत जी के चरित को महत्ता प्रदान की है। भरत जी तुलसी के मानस में यथोचितम महत्ता प्राप्त कर चुके थे। गोस्वामी जी ने उनको 'भाइप भगति' का आदर्श मानते हुए राजमद से अछूता बतलाया है :—

> 'भरतहिं होइ न राजमद, विधि-हरि-हर पद पाइ।
> कबहुँकि काँजी सीकरनि, छीर-सिन्धु बिनसाइ ॥'

फिर भी भरत जी का इतना महत्त्व है कि वे स्वतन्त्र काव्य का

विषय बन सकते हैं। प्राप्त किया हुआ राज्य ठुकरा कर उन्होंने भारतीय मर्यादा का सजीव उदाहरण उपस्थित किया था। मिश्रजी ने इन्हीं के पावन चरित को अपनाया है। इस पुस्तक की विशेषता यही है कि इसमें कवि अपने चरित-नायक के हमेशा साथ रहा है। इसी कारण इसमें मंथरा की कथा नहीं आई है। केवल इतना ही कह दिया गया कि चलते समय भरत के मामा युधाजित मंथरा को इशारा दे आये थे कि वह कैकेयी और भरत का हित सम्हाले रहे। इसका युधाजित ने पीछे से उल्लेख भी किया है:—

'है धन्य मंथरा ही वह,
यद्यपि दासों की दारा।
जो समझ गई सब बातें,
पाकर, बस एक इशारा॥'

इस ग्रन्थ में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भरतजी युधाजित के विशेष आग्रह पर ही केकय देश गये थे। 'जीत मामा की हुई विशेष'—इसमें दशरथजी दोषमुक्त हो जाते हैं और मंथरा को 'भरत से सुत पर भी सन्देह' कहने की भी गुञ्जाइश नहीं रह जाती है। मिश्रजी ने और भी कई नई उद्भावनाएँ की हैं। उन्होंने राम-मिलन के अर्थ भरत के बन से राजसी ठाठ-बाट से युक्त होकर जाने का भी कारण बता दिया है और लक्ष्मण की इस शंका के लिए स्थान नहीं रक्खा कि वे निर्द्वन्द्व शासनाधिकार प्राप्त करने के लिए राम पर आक्रमण करने आये हैं:—

'भूप के अभिषेक के सब साज लो,
तीर्थ के जल और पावन ताज लो।
छत्र चँवर गजादि वाहन संग हों,
चक्रवर्ती के सभी वे रंग हों॥
साथ सेना हो कि नृप को मान दे,
साथ हो मुनि मण्डली कि विधान दे।
साथ परिजन हों कि सेवा-भार लें,
साथ पुरजन हों कि प्रभु स्वीकार लें।'

इस पद्य-भाग में 'पावन' के साथ 'ताज' शब्द अवश्य खटकता है।

मिश्रजी ने भरत के आगमन की सूचना राम को कोलों द्वारा दिला दी है और लक्ष्मणजी के रोष के लिए गुञ्जाइश नहीं रक्खी है। राम और भरत को वृहत् सभा में एकत्रित करने से पूर्व उन्हें राम से एकान्त में मिला दिया है जिससे कि वे अपने सब उद्देश्य भरत को बतलादें।

इस ग्रन्थ में भारत की अखण्ड सांस्कृतिक एकता और उसके संरक्षण की पुकार है जो देश के विभाजन-सम्बन्धी समस्याओं की प्रतिध्वनि कही जा सकती हैः—

'दक्षिण तो मैं देखूँगा ही,
पर उत्तर पर आँच न आवे।
करो व्यवस्था भरत! कि मणि
की जगह विदेशी कांच न आवे।
कहा जनक ने 'पूर्व दिशा में,
स्थिर है अपनी आर्य-पताका।'
कैकेयी ने कहला भेजा,
मैं साधूँगी पश्चिम नाका॥'

ग्रन्थकार एकराष्ट्रता का आदर्श शत्रु की भौतिक पराजय और दासता के आधार पर नहीं चाहता है वरन् वह हृदय से हृदय की जीत का समर्थक है। शत्रु पर नैतिकता और सद्व्यवहार द्वारा विजय प्राप्त करना गांधीवादी हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त हैः—

'बनेंगे दक्षिण उत्तर एक,
उरों का जब हो उर से मेल।'

इसी भावना के अनुकूल कवि एक आदर्श समाज का चित्रण करता है। साम्राज्य अपने अंगों की संस्कृति को नष्ट करके जीवित नहीं रह सकता वरन् उसके संरक्षण में ही राज्य की सम्पन्नता हैः—

'सभी निज संस्कृति के अनुकूल,
एक हो रचें राष्ट्र - उत्थान।
इसलिये नहीं कि करें सशक्त,
निर्बलों को अपने में लीन—
इसलिये कि हों विश्व-हित-हेतु,
समुन्नित-पथ पर सब स्वाधीन॥'

भरत जी की महत्ता दिखाना इस पुस्तक का उद्देश्य है ही किन्तु साथ में माण्डवी भी उपेक्षित नहीं रही है। उसके तप और त्याग की बड़ी सुन्दर झाँकी दिखाई गई है, देखिए—

'विकसी प्रभा प्रभाकर की है,
पर न कमलिनी मोद मनाये!
था बसंत आँखों के आगे,

पर कीलित ही पिक का स्वर था।
अहह! माण्डवी को तो आहों
का भरना भी वर्जिततर था!!
जो है दूर उसकी आशा
रख कर मन समझाया जाये,
समझ सराहूँ मैं उस मन की
पास रहे पर पास न आये।'

'पास रहे पर पास न आये'—में माण्डवी की विरह-व्यथा उर्मिला की व्यथा से अधिक बढ़ जाती है।

यद्यपि यह ग्रन्थ विचार-प्रधान है और इस कारण इनमें भावुकता तथा कवित्व की अपेक्षाकृति कमी दिखाई देती है तथापि ऊपर-के-से स्थल इसे भावुकता-शून्य होने के दोष से बचाये रखते हैं।

वर्तमान बुद्धिवादी युग के महाकाव्यों में विचारात्मकता को अधिक आश्रय मिला है। कथानक विचार-वेली का आश्रय-स्थान-मात्र बन जाता है। दिनकर जी 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में प्राचीन कुरुक्षेत्र कथानक के सहारे युद्ध की अनिवार्यता पर विचार करते हुए पुराने चोले में एक नई आत्मा का प्रवेश कराते हैं। इस काव्य में अहिंसा का महत्त्व अवश्य स्वीकार किया गया है किन्तु साथ ही यह बताया गया है कि वह तभी सफल बन सकती है जब संसार उसके योग्य बन जाय (तब तो शायद अहिंसा के प्रयोग की भी आवश्यकता न रहेगी) किन्तु जब तक संसार में मद-मात्सर्य और हिंसावृत्ति है तब तक युद्ध का अस्तित्व सार्थक रहेगा।

'युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर
जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिष्ट-संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।'

लेखक का विश्वास है कि समविभाजन के साम्यवादी आधार पर ही शान्ति की स्थापना हो सकती है।

'शान्ति नहीं तब तक जब तक
सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो
नहीं किसी को कम हो।'

वर्तमान युग में और भी महाकाव्य लिखे गये हैं। रघुवंश के अनुकरण में लिखा हुआ श्री हरदयाल सिंह का दैत्यवंश ब्रजभाषा में लिखा गया है। उसमें भी कई राजाओं के चरित हैं। यद्यपि दैत्यों में भी प्रह्लाद और बलि जैसे उदारचरित वाले राजा हुए हैं तथापि दैत्यवंश को महाकाव्य का विषय बनाना इस युग की स्वातन्त्र्य प्रवृत्ति का द्योतक है।

इस युग के महाकाव्य पर अधिकांश में गांधीवादी प्रभाव है। वैदेही-वनवास में भी गांधी जी का शान्तिवादी स्वर प्रखरित हो रहा है। यह सब वर्तमान युद्धों की विनाशम प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया है। इनमें सरल जीवन की भी पुकार है। आजकल के महाकाव्यों के नायक ही लोक प्रतिष्ठा प्राप्त महापुरुष ही है किन्तु उनका प्रति-मानवी रूप विलीन होगया है। इन पर वर्तमान बुद्धिवाद का अधिक प्रभाव है। प्रकथन (Norration) के साथ इन महाकाव्यों में प्रगीत तत्व भी है। यह युग का प्रभाव है।

खण्डकाव्य

खण्डकाव्य में प्रबन्धकाव्य-का-सा तारतम्य तो रहता है किंतु महाकाव्य की उपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित होता है। उसमें जीवन की वह अनेक रूपता नहीं रहती जो कि महाकाव्य में होती है। उसमें कहानी और एकाङ्की की भाँति एक ही प्रधान घटना के लिए सामग्री जुटाई जाती है। साहित्य-दर्पणकार खंडकाव्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं :—

'खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च'

अर्थात् खण्डकाव्य के एक देश या अंश का आजकल की भाषा में एक प्रधान घटना का अनुसरण करता है, जैसे—मेघदूत।

हिन्दी में 'सुदामा-चरित', 'जयद्रथ-वध', 'पंचवटी', 'अनघ खंडकाव्य' के अच्छे उदाहरण हैं। अँग्रेजी में टेनीसन की 'एनक आर्डेन' को इसी प्रकार की कविता कहेंगे। अँग्रेजी में खण्डकाव्य के लिए कोई विशेष नाम नहीं है। वह प्रकथनात्मक काव्य (Narrative poetry) के अन्तर्गत आता है। महाकाव्य के छोटे-छोटे कथानक को एपीसोड (Episode) कहते हैं, जैसे अंग्रेजों में 'सुहराव-रुस्तम' की कथा जो फ़ारसी शाहनामे से ली गई है।

हिन्दी में प्राचीनकाल में और आधुनिक काल में भी बहुत से खण्डकाव्य लिखे गये हैं। गोस्वामी तुलसीदास के 'जानकी-मंगल' 'पार्वती-मंगल,'नहछू' जटमल की'गोराबादल की कथा', नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित', गुप्त जी का 'अनघ', 'जयद्रथ-बध', 'नहुष','काबा और कर्बला रत्नाकर जी का 'गंगावतरण', 'उद्धव-शतक', नन्ददास की 'रासपञ्चाध्यायी 'भ्रमर-गीत' तथा हरिश्चन्द्र, जैसे ऐतिहासिक और पौराणिक आख्यानों पर लिखे हुए खण्ड-काव्य हैं। इन में इतिहास पुराण और जनश्रुति की आधार-भूमि पर रंगीन चित्र रचे गये हैं। राम नरेश त्रिपाठी के 'पथिक', 'मिलन', 'स्वप्न', सियारामशरण जी गुप्त का 'उन्मुक्त' कवि-कल्पना प्रसूत आख्यान हैं। इन में से कुछ, जैसे तुलसीदास जी के 'जानकी-मंगल', 'पार्वती-मंगल' और 'रामलला नहछू' आदि गेय भी हैं।

विशेष

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच की एक विधा एकार्थ काव्य के नाम से मानी है और प्रिय-प्रवास, साकेत, कामायनी और वैदेही-वनवास को इसके अन्तर्गत रखा है। उनका कथन है कि महा-काव्य में कथा-प्रवाह' विविध भंगिमाओं के साथ मोड़ लेता आगे बढ़ता है किन्तु एकार्थ काव्य में कथा-प्रवाह के मोड़ कम होते हैं। कम और ज्यादह ये सापेक्ष शब्द हैं। कामायनी के कथा-प्रवाह में काफी मोड़ और कथा-विस्तार हैं। कामायनी और साकेत में महाकाव्य के चारों तत्त्व सानुबन्ध कथा, वस्तु वर्णन, भाव-व्यञ्जना और संवाद पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। हाँ ! साकेत में भाव-व्यञ्जना का कुछ आधिक्य अवश्य है किन्तु दोष सब में होते हैं। भावों की उदात्तता, वर्णनों की विशालता और रस-सञ्चार में साकेत, कामायनी, वैदेही-वनवास अपना विशेष स्थान रखते हैं और उनको महा-काव्य का पद न देना इस युग के साथ अन्याय है।

श्रव्यकाव्य (पद्य)

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य तारतम्य के बन्धन से मुक्त होने के कारण (मुक्तेन मुक्तकम्) मुक्तक कहलाता है और उसका प्रत्येक पद स्वत:पूर्ण होता है। मुक्तकों में भी क्रमन्यास हो सकता है, जैसा कि गोस्वामी जी की गीतावली में या सूर-सागर के पदों में है किन्तु उनके पद एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, वे स्वत:पूर्ण हैं। मुक्तकों का विभाजन हमने पाठ्य और गेय रूप में किया है किन्तु इन दोनों के बीच की रेखा बड़ी सूक्ष्म और अस्थिर है। पाठ्य सामग्री भी गेय हो जाती है किन्तु कुछ पद या छन्द ऐसे होते हैं जो विशेष रूप से गेय होते हैं। गेय और पाठ्य, यह बात तो ऊपरी आकार से सम्बन्ध रखती है किन्तु अब यह भेद कुछ-कुछ विषयी प्रधानता और विषय-प्रधानता में परिणत हो गया है। गेय में निजी भावातिरेक की मात्रा कुछ अधिक रहती है और पाठ्य में कवि बात को एक निरपेक्ष द्रष्टा या वकील के रूप में कहता है। पाठ्य मुक्तक प्राय' सूक्तियों के रूप में आते हैं। ऐसे मुक्तक प्राय: नीति-विषयक, शृंगार-विषयक, वीरता-विषयक होते है। नीति के मुक्तकों में सबसे अधिक विषय-प्रधानता रहती है। गोस्वामी जी की दोहावली, कबीर, रहीम, वृन्द आदि के दोहे भक्ति और नीति के पाठ्य मुक्तकों के अच्छे उदाहरण हैं। गिरधर की कुण्डलियाँ और दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ भी इसी कोटि में जायँगी। 'हालसप्तशती', 'बिहारी-सतसई', 'दुलारे-दोहावली' शृंगारपरक मुक्तकों के अच्छे उदाहरण हैं (यद्यपि इनमें और विषय भी हैं)। वियोगीहरि की 'वीर-ससई' में वीर रस के दोहे हैं।

इनके अतिरिक्त बहुत सी कविताएँ जो स्फुट रूप से निकलती है मुक्तक की ही कोटि में आती है।

साहित्य-दर्पणकार ने दो-दो, तीन-तीन, चार-चार और पांच-पांच मुक्तकों के समूहों को क्रमशः युग्मक, संदानितक, कलापक और कुलक नाम दिया है।

प्रगीतकाव्य

इस प्रगीतकाव्य, गीतकाव्य या गीतिकाव्य को हम गेय मुक्तक कहेंगे। अँग्रेजी में इसे लिरिक (Lyric) कहते हैं। लिरिक शब्द का सम्बन्ध वीणा की भाँति के (Lyric)नामक वाद्य यन्त्र से व्याख्या है। इसीलिए कुछ लोगों ने 'लिरिक' का अनुवाद 'वैणिक' किया है। वैणिक शब्द पुराना है किन्तु इसका प्रगीत-काव्य से कोई सम्बन्ध न था। वैणिक एक प्रकार के चित्रों की संज्ञा थी।

वैणिक या लिरिक शब्द का मूल अर्थ तो वीणा से सम्बन्ध रखने वाला है किन्तु प्रायः गेय पदों में भावातिरेक और निजीपन अधिक रहता था, इसलिए निजी भावातिरेक का प्राधान्य इस विद्या का मूल तत्व हो गया है संगीत तो प्रगीत-काव्य के नाम से लगा हुआ है। शरीर रूप से यह उसका बाहरी आकार तथा भावातिरेक का स्वभाविक माध्यम है। भावातिरेक के लिए बहाव चाहिए, वह साधारण पद्य में रुक सा जाता है किन्तु गीत-लहरी में तरंगित होकर बह उठता है। संगीत यदि उसका शरीर है तो निजी भावातिरेक उसकी आत्मा है। यह भावातिरेक सुख-दुःख दोनों का ही हो सकता है। सुख और दुःख की गीतमय अभिव्यक्ति जीवन को एक प्रकार का संतुलन प्रदान करती है। भावावेग के अवरुद्ध जल को बाँधने के लिए मानव-शरीर बड़ा दुर्बल है। हमारे साधारण आवेग भी अश्रु, कम्प, हास, रोमाञ्च, भ्रू-भंग आदि द्वारा मस्तिष्क की चहारदीवारी में बंद न रहकर अपनी झलक दिखा जाते हैं, फिर तीव्र आवेगों का तो कहना ही क्या? वे भाषा के माध्यम में प्रवाहित होने लगते हैं। गीत द्वारा हर्ष के विस्तार और आत्मा के उल्लास के लिए पंख-से मिल जाते हैं और भावों को एक विशेष प्रवहमानता प्राप्त हो जाती है। दुःख के गीत अपनी अभिव्यक्ति में प्रतिध्वनित हो सहानुभूति का काम देते हैं। गीतकाव्य में भी कवि अपने व्यक्तित्व से ऊँचा उठता है किन्तु उसमें कवि का निजी व्यक्तित्व उसके साधारणीकृत कवि के व्यक्तित्व को स्पर्श किये रहता है और उसको बल प्रदान करता है।

प्रगीत-काव्य में कवि जो कुछ कहता है अपने निजी दृष्टिकोण से कहता है। उसमें निजीपन के साथ रागात्मकता रहती है। यह

रागात्मकता आत्म-निवेदन के रूप में प्रकट होती है। रागात्मकता में तीव्रता बनाये रखने के लिए उसका अपेक्षाकृत छोटा होना आवश्यक है। आकार की इस संक्षिप्तता के साथ भाव की एकता और अन्विति लगी रहती है। छोटेपन की सार्थकता भाव की अन्विति में है। गीत-काव्य में विविधता रहती है किन्तु वह प्रायः एक ही केन्द्रीय भाव की पुष्टि के लिए होती है। वह केन्द्रीय भाव प्रायः टेक या स्थायी में रहता है और वह बार-बार दुहराया जाता है। इस प्रकार प्रभाव घनीभूत होता रहता है और भाव की अन्विति भी होती जाती है। *संक्षेप में प्रगीतकाव्य के तत्व इस प्रकार हैं—संगीतात्मकता, और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमलकान्त पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्मनिवेदन के रूप में प्रगट होती है), संक्षिप्तता और भाव की एकता। यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्तःप्रेरित* (Spontaneous) *होता है और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।*

प्रगीतकाव्य के कई रूप हो सकते है (सवैये आदि भी गेय हैं) किन्तु गीत इसका मुख्य रूप है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने जिनका स्थान आजकल के गीतकाव्य लिखने वालों में बहुत ऊँचा है, गीत की परिभाषा इस प्रकार दी है—

साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके। अनुभूति की तीव्र बनाये रखने तथा उसको दूसरों तक पहुँचाने के लिए भाव की अभिव्यक्ति पर थोड़ा संयम भी आवश्यक हो जाता है। जल बँधी हुई नाली में ही गति के साथ बह सकता है। यह नियन्त्रण और संयम बाहर से नहीं वरन् स्वयं ही प्राप्त हो जाता है।

गीत या प्रगीतकाव्य के लिए यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जब उसमें रागात्मक आत्मनिवेदन एक आवश्यक तत्व है तब गीतावली के या सूर-सागर के कथा-सम्बन्धी पदों का क्या स्थान है? क्या वे प्रगीत-काव्य की संज्ञा से बाहर हो जाते हैं?

गीत और इतिवृत्त

जहाँ पर भक्त अपने निजी उल्लास के साथ अपने इष्टदेव की लीला का वर्णन करता है वहाँ उसमें रागात्मक आत्म-निवेदन आ ही जाता है। सूर और तुलसी के पदों में यह रागात्मक निजीपन पूर्ण रूप में पाया जाता है। सूर तो पद के अन्त में 'सूर के प्रभु' या

'सूर के ठाकुर' कहकर निजी सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'मिट्टी के भरे पात्र में जैसे रजकण ही अपने भीतर पानी के लिए जगह बना देते हैं वैसे ही यथार्थ के लिए भाव में ऐसी स्वाभाविक स्थिति चाहिए जो भाव ही से मिल सके। इससे अधिक इतिवृत्त गीत में नहीं समा पाता।' इसीलिए गीतकार को बहुत-सी बातें छोड़ देनी पड़ती हैं। रौद्र, भयानक, वीभत्स रस गीत-काव्य के कोमल हार्द (Spirit) के कारण त्याज्य हो जाते हैं। इसी कारण तुलसीदास जी की गीतावली में युद्ध का वर्णन नहीं है।

लोक-गीत और साहित्यिक गीत

गीत लोक-गीत भी होते हैं और साहित्यिक भी। लोक-गीतों के निर्माता प्रायः अपना नाम अव्यक्त रखते हैं और कुछ में वह व्यक्त भी रहता है। (बुन्देलखण्डी कवि ईसुरी की फागों में उसके नाम की छाप मिलती है)। वे लोक-भावना में अपने भाव मिला देते हैं। लोक-गीतों में होता तो निजीपन ही है किन्तु उनमें साधारणीकरण और सामान्यता कुछ अधिक रहती है, तभी वे वैयक्तिक रस की अपेक्षा जन-रस उत्पन्न कर सकते हैं। उन गीतों में प्रत्येक गायक और श्रोता का तादात्म्य हो जाता है। इनका सम्बन्ध प्रायः अवसर विशेष, (होली विवाह, जन्मोत्सव आदि) से रहता है। साहित्यिक गीतों में निर्माता का निजीपन अधिक रहता है। लोक-गीतों में भी साहित्यिक गीतों की सी कल्पना रहती है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने एक लोक-गीत अपने संग्रह में दिया है। उसका भाव यह है कि एक हरिणी जिसके पति को राजा दशरथ ने आखेट में मार डाला था माता कौशल्या के पास जाती है। वे पीढ़ा पर बैठी थीं और वह उनसे उसकी खाल माँगती हुई कहती है कि मांस तो रसोई में रँध रहा है, मुझे खाल देदो, मैं उसे पेड़ पर टाँग कर देखा करूँगी और समझूँगी कि मानों हिरन जीता है। माता कौशल्या कहती है कि इससे मेरे राम के लिए खंजरी बनेगी। जब-जब खंजड़ी बजती थी तब-तब हरिणी कान उठाकर उसका शब्द सुनती थी और उसी ढाक के नीचे खड़ी होकर हिरन के लिए रोती थी:—

'मचिये बैठी कौशल्या रानी हरिनी अरज करइ।
रानी! मसवा त सिझहिं रोसइयाँ खलरिया हमें देतिउ॥
पेड़वा से टँगतिउँ खलरिया त हेरिफेरि देखितिउँ।

रानी देखि-देखि मन समझाइत जनुक हरिना जीतइ ॥
जाहु हरिनी घर अपने खलरिया नाहीं देबइ ।
हरिनी ! खलरीक खँझड़ी मिढ़ऊबइ त राम मोर खेलिबँइ ॥
जब जब बाजइ खँजड़िया सबद सुनि अनकइ ।
हरिनी ठाड़ि ढँकुलिया के नीचे हरिन का बिसूरइ ॥'

. इस गीत के अज्ञात कवि की कल्पना में करुण रस पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

एक विरहिणी नायिका की जिसका पति रात को प्रवास से लौटने वाला था, उत्साहमयी मनोदशा का चित्रण नीचे की पंक्तियों में देखिए:—

'आजु ऊऔ मोरे चन्दा जुन्हैया आंगन लीपै,
झिलमिल होंहि तरइयाँ तौ मोतिन चौक धरै।'

लोक-गीत भी जातीय साहित्य से सामग्री ग्रहण करते रहते हैं। रामायण और महाभारत से सम्बन्धित अनेकों लोक-गीत हैं। लोक साहित्य और शिक्षित लोगों के साहित्य में आदान-प्रदान होता रहता है। जायसी के पद्मावति की कथा का पूर्वार्द्ध लोक साहित्य से ही आया है। वीरगाथा काव्य का मुक्तक साहित्य लोक साहित्य से मिलता-जुलता है।

साहित्यिक गीत कई प्रकार के होते हैं। इनमें हम दो मुख्य भेद देखते हैं। कुछ तो शुद्ध संवेदनात्मक होते हैं, जैसे—कबीर तथा मीरा के गीत अथवा तुलसी के विनय-पत्रिका के पद और कुछ कथाश्रित होते हैं, जैसे—सूर के लीला-सम्बन्धी पद। उनमें भी कवि आत्म-निवेदन करता है किन्तु किसी दूसरे पात्र द्वारा। शुद्ध संवेदनात्मक गीतों में कवि स्वयं ही अपना निवेदन करता है। उसके निवेदन में और लोग भी भाग लें तो दूसरी बात है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि तुलसी अपने विनय के पदों में भी लोक का प्रतिनिधित्व करते हैं। साहित्यिक गीतों का उदय लोक-गीतों से ही हुआ है। मेरी समझ में तो महाकाव्य भी लोक-गीतों के विकसित और संगठित रूप हैं। बहुत से साहित्यिक गीत भी लावनी आदि लोक-गीतों के अनुकरण में बने हैं।

गीतकाव्य के अनेक रूप होते हैं। क्योंकि मानव हृदयोल्लास

सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। उसका भावोल्लास नाना रूपों में प्रकट होता है। साहित्य की विधाओं में पूर्णता आना तो कठिन है ही, किन्तु उनके अन्योन्य पार्थक्य को सीमाएँ निर्धारित करना अत्यन्त दुष्कर है। फिर भी अँगरेजी साहित्य में जो विधाएँ स्वीकृत हैं उनकी कम-से-कम नाम-सम्बन्धी जानकारी कर लेना आवश्यक है।

गीतकाव्य के अङ्गरेजी रूप और उनके अनुकरण

अंगरेजी गीत-काव्य में प्राय. निम्नलिखित प्रकार प्रचलित हैं। (१) सॉनेट (Sonnet) अर्थात चतुर्दशपदी, (२) ओड (Ode) अर्थात् संबोधन-गीत (३) ऐलिजी (Elegy) अर्थात् शोक-गीत (४) सेटाइर (Satire) अर्थात् व्यङ्ग्य-गीत (५) रिफ्लेटेक्टिव (Reflective) अर्थात् विचारात्मक (६) उपदेशात्मक (Diadact) इन विधाओं में 'सॉनेट' में आकार की प्रधानता थी। शेष में विषय की प्रधानता है। हिन्दी में इन विधाओं के अनुरूप बहुत से गीत वर्तमान हैं। सॉनेट तो हमारे यहाँ नहीं थे किन्तु कुछ लोगों ने, जैसे—प्रभाकर माचवे ने इनके अनुकरण में चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं। इनमें चौदह पंक्तियाँ होती हैं। 'ओड' या संबोधन-गीत आजकल की हिन्दी में काफी लिखे गये हैं। प्रसाद जी के किरण, बसन्त, दीप, निराला जी के खंडहर के प्रति, भिक्षुक, शेफालिका, पंत के आँसू, छाया, बापू के प्रति, अंधकार के प्रति आदि-आदि शीर्षक कविताएँ 'संबोधन-गीतों के अच्छे उदाहरण हैं। उर्दू में तो 'मर्सियों' की बहुताइत है किन्तु हिन्दी में शोक-गीतों की कुछ कमी है। अंग्रेजी में 'ग्रे' की ऐलिजी (Grays Elegy) बहुत प्रसिद्ध है। इसका 'ग्रामीण-विलाप' के नाम से गुप्तजी द्वारा अनुवाद हुआ है। निराला जी द्वारा लिखित 'सरोज स्मृति' जो कि उन्होंने अपनी प्रिय पुत्री के निधन पर लिखी थी शोक गीत का अच्छा उदाहरण उपस्थित करती है। मिश्रबंधुओं ने 'हा! काशीप्रसाद' शीर्षक एक कविता लिखी थी। व्यङ्ग्य-गीत उपालम्भों के रूप में सूर में बहुतायत से मिलते हैं। भारतेन्दु-काल में भी कुछ ऐसे गीत लिखे गये। भारतेन्दुजी का 'देखी तुम्हरी काशी' व्यङ्ग्य-गीत ही कहा जायगा। प्रसाद, पंत आदि के कुछ गीत जैसे गुंजन के) विचारात्मक की कोटि में आते हैं। उपदेशात्मक गीतों की हिन्दी-साहित्य में कमी नहीं। कबीर, सूर, तुलसी में इनका बाहुल्य है। श्री प्रभाकर

माचवे द्वारा लिखित एक सॉनेट उदाहरण-स्वरूप यहाँ दिया जाता है :—

सॉनेट

'मैंने जितना नारी, तुमको याद किया है, प्यार किया है,
तुमने भी क्या कभी भूल से सोचा था कैसा है यह मनु ?
मैंने क्या अपराध किया जो तुमने यों इसरार किया है,
जाने कैसे विद्युत्कर्षण से परसित है तन-मन अणु-अणु ?
तुम मेरे मानस की संगिनि, चपल विहंगिनि, नीड़ की शाखा ?
तुम मेरे मन की राका के एकमात्र नक्षत्र—विशाखा,
तुम हो मृगा कि आर्द्रा हो ? नहीं, रोहिणी, तुम अनुराधा.
तुम छाया-पथ, ज्योतिशिखा तुम, तुम उल्का आलोक-शलाका।
संशय के सघनान्धकार में विद्युत्माला अयि अचुम्बिते ?
तुम हरिणी, मालिनी, शिखरिणी, बसन्ततिलका, द्रुतविलम्बिते।
तुम छन्दों की आदि प्रेरणा, प्रथम श्लोक की पृथुल वेदना,
तुम स्रगधरा या कि मन्दाक्रान्ता, ओ आर्या, गीत सम्मिते।
मैं गतिहारा 'यति-सा ग्रह शून्य' प्रभाकर मैं वैनायक,
तुम रागिनी और मैं गायक. तुम हो प्रत्यञ्जा, मैं सायक ?'

इसकी अन्तिम पंक्तियों में प्राचीन अलङ्कार प्रधान-शैली (यहाँ मुद्रालंकार की प्रधानता है) का कुछ आभास आगया है।

श्री सुमित्रा नन्दन पंत के एक सम्बोधनगीत का कुछ अंश नीचे दिया जाता है:—

अंधकार के प्रति

'अब न अगोचर रहो सुजान।
निशानाथ के प्रियवर सहचर।
अन्धकार स्वप्नों के यान।
किसके पद की छाया हो तुम ?
किसका करते हो अभिमान ?
तुम अदृश्य हो, दृग अगम्य हो,
किसे छिपाये हो छविमान।'

गीतकाव्य का इतिहास स्वयं वेदों से ही प्रारम्भ होता है। साम-वेद गायन ही है। गीत शब्द को कुछ लोगों ने स्त्रियों के गीतों में ही संकुचित कर दिया है। वैसे तो स्त्रियों के गीत भी मन के उत्साह के

द्योतक होने के कारण गौरव की वस्तु हैं किन्तु गेय मात्र प्रगीत साहित्य नहीं हैं। वेदों में गीत बतलाना उनके गौरव को घटाना नहीं है। गीत शब्द का पूरा-पूरा महत्त्व श्रीमद्भगवद्गीता में देखा जा सकता है। गीता का भी तो अर्थ यही है कि जो गाया गया हो। स्वयं वेदों के गायकों ने उन्हें गीत कहा है—'गीर्मि वरुण सीमहि'—अर्थात् हे मेरे वरणीय मैं तुम्हें अपने गीतों से बाँधता हूँ।

गीतकाव्य का इतिहास

वैदिक साहित्य के पश्चात् बौद्ध साहित्य की थेर गाथाओं का स्थान आता है। उनमें वैराग्य के प्रति हार्दिक राग और उत्साह के दर्शन होते हैं। एक उदाहरण श्रीमती महादेवी वर्मा के गीतकाव्य शीर्षक (यह शब्द दोनों तरह से लिखा जाता है गीत-काव्य और गीति-काव्य। संस्कृत में गीत शब्द नपुन्सक लिङ्ग है और गीति स्त्री लिङ्ग) लेख से दिया जाता है—

सुनीला सुसिखा सुपेखुणा सचित्तपत्तच्छदना विहङ्गमा,
सुमञ्जुघोसत्थ निताभिगज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति बनम्हि झायिनं।

अर्थात् जब तुम बन में ध्यानस्थ बैठे होगे तब गहरी नीली ग्रीवा वाले सुन्दर-सुन्दर शिखा शोभी तथा शोभायमान चित्रित पंखों से युक्त आकाशचारी पक्षी अपने सुमधुर कलरव द्वारा, घोष-भरे मेघ का अभिनन्दन करते हुए तुम्हें आनन्द देंगे।

वास्तव में गाथा शब्द का भी अर्थ गीत है। वैदिक साहित्य में ऋक और गाथा में अन्तर किया गया है, वह यह कि ऋक में ईश्वर का स्तवन होता है और गाथा में मनुष्यों, राजाओं आदि का। अँग्रेजी 'वैलेडस' की भाँति इन में लोक-प्रसिद्धि प्राप्त राजा आदि के यश-विस्तारक कार्यों का वर्णन होता था।

वाल्मीकीय रामायण को गेय और पाठ्य दोनों ही कहा है किन्तु उसमें इतिवृत्त अधिक है और हृदय का रस कहीं-कहीं ही बहता दिखाई पड़ता है। मेघ-दूत आदि को (यद्यपि वे भी खण्ड-काव्य में ही आते हैं) कुछ अधिक सत्यता के साथ गेय काव्य में रख सकते हैं किन्तु उसमें मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्धत्व अधिक है। उसका निजीपन भावना के सम्बन्ध से उसे प्रगीत के निकट ले आता है।

जयदेव—संस्कृत में गीत-काव्य का असली रूप हमको जयदेव के गीत-गोविन्द में मिलता है। उसके गीत राग-रागनियों में बँधे हुए हैं।

जयदेव ने विलास-कला-कौतूहल की सरस चासनी में हरि-स्मरण की औषधि देना चाहा है किन्तु आधुनिक युग के अभक्त रसिकों के लिए उसमें औषधि की अपेक्षा उनको मधुर कोमल-कान्त-पदावली का सरस राग ही अधिक मनोरम है। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

'वसन्तराग, यतितालाभ्यां गीयते।—
ललित लवङ्ग-लतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकर-निकर-करम्बित कोकिल-कूजितकुञ्ज-कुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरम वसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥'

विद्यापति और *चण्डीदास* के पदों में जयदेव की ही प्रतिध्वनि सुनाई देती है। आपादमस्तक भक्ति-रस में आमग्न चैतन्य महाप्रभु के लिए तो विद्यापति में भक्ति-रस ही था किन्तु साधारण लोग उनमें भक्ति की अपेक्षा शृङ्गार की गन्ध अधिक पाते हैं—'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखि तिन तैसी।' विद्यापति में न तो रीति-काल की सी कृत्रिमता है और न सूर की सी इष्टदेव के लीला-वर्णन की भावना। राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं को जीव-ब्रह्म का रूपक भी कहा कुछ खींचतान होगी। उनकी भक्ति-भावना यहीं तक है कि उन्होंने राधाकृष्ण को अपने काव्य का आलम्बन बनाया है और उनको हरि तथा माधव कह कर सम्बोधित किया है। उनका हृदय शृङ्गार की सरसता से आप्लावित था और उनकी भक्ति-भावना शृंगार के माधुर्य में दब गई है। जो कुछ भी हो विद्यापति के पदों में पद-लालित्य, सरस राग, हृदय का रस और उक्ति का वैचित्र्य सभी कुछ है। प्रेम की कभी न पूर्ण होने वाली साध के विषय में विद्यापति कहते हैं:—

'सखि कि पूछसि अनुभव मोय।
सोहो पिरिति अनुराग वखानइत तिल-तिल नूतन होय॥
जनम अबधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।
सोहो मधुर बोल स्रवनहिं सुनल स्रुति पथ परस न गेल॥
कत मधु जामिनिय रभस गमओल न बूझल कइसन केल।
लाख-लाख युग हिय-हिय राखल तइओ हिय जुड़न न गेल॥'

यह तो प्रेम का मानसिक पक्ष है किन्तु विद्यापति में यह प्रबल

नहीं है जितना कि भौतिक पक्ष। जहाँ जायसी और सूर में प्रेम की पीड़ा अधिक हैं वहाँ विद्यापति में भौतिक सौन्दर्य के प्रति हृदयोल्लास और मिलन की अधीरता है।

विद्यापति ने कुछ भक्ति-सम्बन्धी गीत भी लिखे हैं जिनसे प्रकट होता है कि उनके हृदय में भक्ति का अंकुर अवश्य था किन्तु वह उनकी अत्यधिक शृंगारिकता के कारण दब गया था। देखिए:—

'तातल सैकत बारि-बिन्दु सम सुत-मित रमनि समाजे।
तोहे बिसरि मन ताहे समरपल अब मझु हब कोन काजे॥
माधव हम परिनाम निसारा।
तुहुं जग तारन दीन दयामय अतय तोहरि बिसवासा॥'

गंगाजी के स्तवन में निजीपन, हार्दिकता और भाव-सुकुमारता दर्शनीय है:—

'बड़ सुख-सार पाओल तुअ तीरे
छाड़इत निकट नयन वह नीरे
कर जोरि विनमओं विमल तरंगे
पुन दरसन होइह पुनमति गंगे।
एक अपराध खेमव मोर जननी
परसल माय पाए तुअ पानी।'

इसमें ब्रजभाषा का सा माधुर्य है। 'स' का ही बाहुल्य है। स्वरों के आधिक्य ने इसे कोमलता प्रदान की है। 'ष' भी 'ख' हो गया है।

कबीर—हिन्दी में गीत-काव्य के प्रथम दर्शन संत कवियों की वाणी में होते हैं। कबीर आदि ने निर्गुण को अपनी प्रेम-साधना का विषय बनाने के लिए अपने भगवान को शृंगारिक नायक का रूप दिया और स्वयं स्त्री रूप से 'राम की बहुरिया' बनकर अपने उपास्य के प्रति विरह-निवेदन किया है। इन गीतों में शृंगारिकता आवरण मात्र है और वह आवरण भी उनकी 'झीनी-बीनी चदरिया' की भाँति पारदर्शी है; फिर भी गीत के आवरण ने निर्गुण में भी थोड़ा आकर्षण भर दिया है:—

'बालम आओ हमरे गेह रे। तुम बिन दुखिया देह रे॥
सब कोई कहै तुमारी नारी मोको यह संदेह रे।
एकमेव ह्वै सेज न सोवे तब लग कैसे नेह रे॥
अन्न न भावे नींद न आवे गृह बन धरे न धीर रे।'

'अविनासी दुलहा कब मिलिहौ, भक्तन के रछपाल।
जल उपजी जल ही सों नेहा, रटत पियास पियास॥
मैं ठाढी बिरहिन मग जोऊँ प्रियतम तुमरी आस॥
छोड़े गेह नेह लगि तुम सों भइ चरनन लवलीन।'

कबीर ने इस प्रकार के विरह-निवेदन के अतिरिक्त उपदेशात्मक वैराग्य के गीत भी लिखे हैं:—

'यह जग अन्धा, मैं केहि समझावों।
इक दुइ होय उन्हें समझावों सबही भुलाना पेट ने धंधा।'

ऐसे गीतों में लोक-हृदय के साथ सहज में सामञ्जस्य हो जाता है।

सूर—सगुण भक्तों के पदों और गीतों में रागात्मक तत्व की कुछ अधिक वास्तविकता के साथ स्थापना हुई है। ब्रज में स्वयं कोई गीत-परम्परा अवश्य रही होगी उसके उदाहरण में तानसेन के गुरू बैजू बावरे के एक गीत का आचार्य शुक्ल जी ने अपने सूरदास नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया है, वह इस प्रकार है:—

'मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रस तानन सों सुध-बुध सब बिसराई॥
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि आनन।
जीव-जन्तु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे हरे सबके प्रानन॥'
बैजू बनवारी वंसी अधरि धरि बृन्दावन-चन्द बस कीये सुनत ही कानन।"

इस स्थानीय परम्परा के अतिरक्त चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवाहित की हुई जयदेव और विद्यापति की गीत-लहरी का प्रभाव भी सूर आदि अष्टछाप के कवियों पर अवश्य पड़ा। सूर के पदों में जयदेव के गीत-गोविन्द के पहले पद 'मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवःश्यामास्तमालद्रुमैः' का छायानुवाद भी मिलता है:—

'गगन गरज घहराइ जुरी घटा कारी
पौन झकझोर चपला चमकी चहुँ ओर,
सुवन तक चितै नन्द डरत भारी!!'

किन्तु यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि ब्रजभाषा में सूर आदि के पदों में इस शैली का परमोच्च विकास दिखाई पड़ता है। तुलसी ने विनय-पत्रिका और गीतावली में ब्रजभाषा के माध्यम को ग्रहण कर इस शैली को अपनाया। सूर, तुलसी के विनय के पदों में तो निजीपन की स्पष्ट झलक है किन्तु उनके लीला-सम्बन्धी पदों में भी गायकों का

हृदय बोलता हुआ सुनाई पड़ता है ! तुलसी कौशल्या के विरह-वर्णन में भी अपने दास-भाव को नहीं छिपा सके हैं:—

'जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार-बार उर नैननि लावति प्रभु जी की ललित पन्हैयाँ ॥'

कवि विभिन्न पात्रों से तादात्म्य कर नाना रूपों में हृदय के अनुराग को उँड़ेल देता है। सूर कभी सखा बनकर श्रीकृष्ण की बाल-लीला में आनन्द लेते हैं तो कभी यशोदा के हृदय में बैठकर वात्सल्य सुख का अनुभव करते हैं। सूर महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे, उनकी निम्नोल्लिखित भावनाओं से सूर ने तादात्म्य किया है :—

'यच्च सुखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद्दुखं स्यान्मम क्वचित ॥'

सूर भी अपने पात्रों के साथ गाये और रोये हैं। यशोदा के सुख में वे सुखी हुए हैं और गोपियों के दुःख में उन्होंने स्वयं वियोग-दुःख का अनुभव किया है। सूरदास जी नीचे की पंक्तियों में यशोदा के सुख का आनन्दानुभव करते हैं:—

'हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक-तनक चरनन सों नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत।
बाँह उचाइ कजरी-धौरी गैयनि टेर बुलावत ॥'

× × ×

'कबहूँ चितै प्रतिबिम्ब खंभ में लौनी लिये खवावत।
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरखि अनंद बढ़ावत ॥
सूर श्याम के बालचरीत नित ही नित देखत मन भावत।'

इसमें माता के साथ सूर भी सिहा उठे हैं। नीचे की पंक्तिय सूर ने गोपियों के साथ रोने का आनन्द लिया है:—

क—'सखी इन नैनन ते घन हारे।
बिनु ही रितु बरसत निसि बासर सदा सजल दोउ तारे ॥'

ख—'बिनु गुपाल बैरिन भइँ कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भइँ विषम ज्वाल की पुंजैं ॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलैं, अलि गुंजै ॥

× × × ×

सूरदास प्रभु को मग जोवत, अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं ॥'

कृष्ण-काव्य में माधुर्य-पक्ष के कारण गीत-काव्य का प्राधान्य रहा।

रासनृत्य-सम्बन्धी पदों में भाषा स्वयं थिरकती हुई दिखाई पड़ती है। अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त और सम्प्रदायों के भक्तों ने सुन्दर पद लिखे ! शब्द-माधुर्य के लिए हित हरिवंश जी के पद बड़े सुन्दर हैं:—

"आजु बन नीको रास बनायौ ।
पुलिन पवित्र सुभग जमुना-तट मोहन बेनु बजायौ ॥
कल कङ्कन किंकन नूपुर-धुनि, सुनि खग-मृग सचु पायौ ।
जुवतनि-मंडल मध्य श्याम घन सारंग राग जमायौ ।
ताल मृदंग, उपंग, मुरज, ढप मिलि रस-सिंधु बढ़ायौ ॥'

मीरा—जहाँ सूर आदि गोपियों से तादात्म्य कर उनके साथ ये और गाये हैं वहाँ मीरा ने गिरधर गोपाल को स्वयं ही पति मानकर उनके प्रति आत्म-निवेदन किया है। उसमें निजीपन की पराकाष्ठा आ गई है। उसकी तन्मयता और उल्लास अतुलनीय है:—

क—'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ॥
छाँड़ि दई कुल की कानि कहा करिहैं कोई।
संतन ढिंग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई ॥'

ख—'मैं तो साँवरे के रंग राँची ।
साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू, लोक-लाज तजि नाची ॥'

मीरा का विरह-निवेदन देखिए:—

ग—'हेरी मैं तो दरद दीवाणी मीरा दरद न जाणै कोइ ।
घाइल की गति घाइल जाणै की जिन लाई होइ ।
जौहर की गति जौहरी जाणैं की जिन जौहर होई ।
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस विध होई ।'

आजकल वैयक्तिकता के प्राधान्य के कारण गीत-काव्य का चलन बढ़ गया है। यह युग प्रबन्ध-काव्य का नहीं है। आधुनिक लोगों में वह भावना नहीं रही है कि अपने चरित-नायक के व्यक्तित्व में अपना व्यक्तित्व मिला सकें। न वर्तमान युग ने राम कृष्ण जैसे लोकोत्तर आकर्षण के व्यक्ति ही उत्पन्न किये हैं। अभी महात्मा गांधी भी अत्यधिक निकट हैं।

वर्तमान युग सामान्य परिचय

सम्भव है कि समय उनके उदार-चरितों को अवतारी पुरुषों की-सी स्वर्णिम आभा प्रदान करदे किन्तु इस युग का बुद्धिवाद और स्वातंत्र्य-वाद वीर-पूजा के कुछ विरुद्ध है (अभी हाल में श्री अग्रदूत जी का

'महामानव' नाम का एक छोटा सा महाकाव्य निकला है) इसलिए आजकल के युग की आत्मा प्रबन्ध-काव्य के विरुद्ध-सी दिखाई पड़ती है। पुराने विषयों में नयी समस्याओं का समावेश कर प्रिय-प्रवास, साकेत, कामायनी जैसे महाकाव्य लिखे गये हैं किन्तु उनमें भी प्रगीतत्व पर्याप्त मात्रा में है और चरित-नायक इतिहास-प्रसिद्ध हैं।

हरिश्चन्द्र युग

हरिश्चन्द्र—वर्तमान युग का श्रीगणेश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। भारतेन्दु जी के गीत-काव्य में दो धाराएँ स्पष्ट हैं। एक तो विद्यापति, चाण्डीदास, सूर, तुलसी, मीरा द्वारा प्रतिष्ठित परम्परा की प्राचीन शैली की जिसके अंग-प्रत्यंग में उनके निजी आत्म-निवेदन की मधुरिमा झलक रही है। ऐसे पद स्फुट भी हैं और कुछ चन्द्रावली नाटिका में मिलते हैं, देखिए :—

'पिय तोहि कैसे हिये राखों छिपाय।
सुन्दर रूप लखत सब कोऊ यहै कसक जिय आय॥
नैनन में पुतरी करि करि राखों पलकन ओट दुराय॥
हियरे में मनहूँ के अन्तर कैसे लेउं लुभाय।
× × × ×
हरीचन्द जीवन धन मेरे छिपत न क्यों इत धाय॥'

भारतेन्दु जी का भक्ति सम्बन्धी एक गीत लीजिये :—

'जा तन मन में रमि रहे तहाँ ग्यान क्यों आवे॥'
× × × ×

दूसरी शैली के वे राष्ट्रीय गीत हैं जिनमें उनके हृदय की करुणा का स्रोत उमड़ आया है। इनमें करुणा के उच्च स्वर में माधुर्य दब-सा गया है। इनमें कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता का पुट कुछ अधिक है:—

'आवहु रोवहु सब मिलि भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा देखी न जाई॥"

श्रीधर पाठक—भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के संधिकाल के प्रमुख गायक पं० श्रीधर पाठक हैं। उनके भारत-स्तवन-सम्बन्धी गीत बड़े मधुर हैं। इस काल के गीत-काव्य-लेखकों को दृष्टिकोण बाहरी अधिक रहा। भारतेन्दु में भक्ति-युग के संस्कार बहुत प्रबल थे, वे धीरे-धीरे

कम हो चले। उनके द्वारा बोया राष्ट्रीयता का बीज पल्लवित हो चला था। पण्डित श्रीधर पाठक द्वारा किये हुए भारत-स्तवन-सम्बन्धी दो गीतों के यहाँ उदाहरण दिये जाते हैं। नीचे के गीत में उन्होंने गोस्वामी जी द्वारा किये राम-स्तवन का अनुकरण किया है :—

'सुख-धाम, अति-अभिराम, गुननिधि नौमि नित प्रिय भारतम्
सुठि सकल जग संसेव्य सुभ थल सकल जग सेवारतम्
सुचि सुजन सुफल सुसस्य संकुल सकल भुवि-अभिवन्दितम्
नित नवल स्फुरति सुदृश्य सुठि छबि अबलि अवनि अनंदितम्'

—नौमि भारतम्

एक राष्ट्रीय गीत का और एक अंश लीजिए :—

'जय जय शुभ हिमाचल शृंगा
कलरव निरत कलोलिन गंगा
भानुताप चमत्कृत अंगा
तेज पुंज तप वेश
जय जय प्यारा भारत देश'

द्विवेदी युग

मैथिलीशरण गुप्त—द्विवेदी-युग के काव्य-में राष्ट्रीयता का कुछ विशेष विकास हुआ और वह चरित्र-निर्माण तथा इतिवृत्तात्मकता की ओर अधिक अग्रसर हुआ। उस समय के गीत-काव्य में प्राचीन गौरव-गाथा-गान हुआ, साथ ही सामाजिक व्यङ्ग्यात्मक गीत और कुछ ईश्वर-भक्ति-प्रधान-गीत लिखे गये किन्तु उनमें रसिकता और तन्मयता की अपेक्षाकृत कमी रही। अधिकांश में आर्य-समाज की बौद्धिक एवं सुधारक प्रवृत्ति से अधिक प्रभावित रहे। पण्डित नाथूराम शङ्कर शर्मा ऐसे गीतों में भी कुछ रसिकता का पुट दे सके थे। राष्ट्रीयता ने जो प्राचीन गौरव की भावना को प्रोत्साहन दिया था उसके कारण भी उस समय के गीतों में भक्ति और भावुकता का पुट आ गया। गुप्त जी की 'भारत-भारती' इसका सबसे अच्छा नमूना है:—

'भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य-लीला-स्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगा-जल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषि-भूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है।'

गुप्त जी ने यद्यपि द्विवेदी-युग में लिखना शुरू किया था तथापि वे आज भी समय के साथ कदम मिलाये हुए चल रहे हैं। उनकी झङ्कार में छायावादी गीतों के दर्शन होते हैं। गुप्त जी के 'साकेत' और 'यशोधरा' नाम की प्रबन्धात्मक रचनाओं में भी गीत मिलते हैं। 'साकेत' में दोनों प्रकार के गीत पाये जाते हैं। सीता की संतोषमयी प्रसन्नता के भी गीत और उर्मिला के हृदय की वियोग-वेदना से प्रसून विरह-गीत। यशोधरा के गीत नारी-गौरव से पूर्ण हैं। चारों प्रकार के गीतों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

रहस्यात्मक शुद्धमुक्तक गीत का एक नमूना लीजिए :—

क—'तेरे घर के द्वार बहुत हैं किस से होकर आऊँ मैं।
सब द्वारों पर भीड़ खड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मै॥' —झङ्कार

ख—'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया।
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया॥'

ग—'शिशिर न फिर गिरि वन में।
जितना माँगे पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में,
कितना कम्पन तुझे चाहिये ले मेरे इस तन में।' —साकेत

घ—'सखि वे मुझसे कहके जाते,
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?—यशोधरा

प्रसाद-पंत-निराला युग

गीत-काव्य के अत्याधुनिक युग के अंगरेजी "लिरिक" के सब गुण मिलते हैं। ये कविताएँ आकार में छोटी हैं और एक-एक हृदयोच्छ्वास के रूप में कोमलता एवं मधुरता से मण्डित, निजीपन सामान्य परिचय से परिपूर्ण तथा नवीन लाक्षणिकता, सौन्दर्य-सुषमा और नवीन भावनाओं से ओत-प्रोत हमारे सामने आती हैं इस युग को किसी अंश में में स्वातन्त्र्य युग भी कह सकते हैं। इसमें छन्द के बन्धन टूट गये और सायर, सिंह और सपूतों की भाँति हमारे कवियों ने भी पीटी हुई लकीरों से हट कर चलना सीखा उन्होंने अपना नया मार्ग प्रशस्त किया। यह मार्ग सुमन-सौरभमय है।

द्विवेदी-युग में उपदेशात्मकता एवं इतिवृत्तत्मकता की प्रधानता रही। उसमें आर्य-समाजी प्रभाव का कुछ अक्खड़पन भी था और साथ ही खड़ी बोली का खड़ापन ही अधिक सामने आया। शृङ्गार

भी वर्ज्य सा रहा। यह रीति-कालीन अत्यधिक शृङ्गारिकता की प्रतिक्रिया थी। छायावाद में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया हुई। राष्ट्रीयता हृदय की कोमल भावनाओंको न दबा सकी और शृङ्गारिक भावनाएँ एक उन्नति रूप में प्रकाश में आई।

छायावाद और रहस्यवाद

शृङ्गार का मानसिक पक्ष प्रबल हुआ। और उसकी सारभूता कोमलता ने साहित्यिक वातावरण को व्याप्त कर दिया। वह कोमलता हमारे कवियों को बाहर की अपेक्षा भीतर अधिक मिली। मानवी-व्यापारों में संघर्ष, कटुता और विफलता दिखाई दी। सरकार साम्राज्यवाद की रूढ़ियों में ग्रस्त थी और समाज धार्मिक रूढ़ियों का शिकार बनी हुई थी, बेचारे नव-युवकों को दोनों ओर से निराशा का सामना करना पड़ा। उनके केवल दो शरण-स्थल थे—प्राकृतिक सौंदर्य और चराचर में व्याप्त परम सत्ता जो साम्प्रदायिकता को संकुचित रूढ़ियों से परे थी। सरकार और समाज से तिरस्कृत होने के कारण उनकी वैयक्तिकता उभार में आई और स्वातन्त्र्य भावना जाग्रत हुई। उनके भावोद्गार गीत-लहरी में बह उठे और छायावाद और रहस्यवाद के गीतों की सृष्टि हुई। जीवन की बाहरी शुष्कता के अन्तस्तल में बसने वाली सौंदर्य-सुषमा को बाहर लाकर उसको एक सरस मधुरावेष्टनमयी कोमल-कान्त पदावली में अभिव्यक्त करने की ओर हमारे नव-युवक कवि अवसर हुए।

छायावादी तथा रहस्यवादी दोनों प्रकार के गीतों में स्थूल दृश्य की उपेक्षा है। बहिर्मुखी की अपेक्षा वे अन्तर्मुखी अधिक होते हैं। इन गीतों में वाह्य प्रकृति का चित्रण भी आन्तरिक रूप से ही होता है। प्रकृति का एक विशेष मानवीकरण कर उसकी मानवी भावों से अनुप्राणित देखा जाता है। इसमें वस्तु को कटी-छटी सीमाओं में न देखकर उसका वायवीकरण (Etherealization) कर दिया जाता है। झरना पानी का प्रवाह मात्र नहीं रहता है वरन् गहरी बात कहता सुनाई पड़ता है और किरण भौतिक आलोक-रेखा न रह कर विकल विश्व-वेदना की दूती बन जाती है। यह प्रकृति और मानव का एकीकरण भारतीय एकात्मवाद की भावना पर आश्रित है। प्रकृति पुरुष का विराट शरीर है तथा पुरुष प्रकृति की आत्मा। मनुष्य का शरीर प्रकृति का ही अंश है और उसकी आत्मा का व्यापक विश्वात्मा से

सम्बन्ध है। कविवर पंत की 'परिवर्तन' नाम की कविता में यह भावना काफी स्पष्ट है:—

'एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास।'

इसी नाते भारतीय कवि मनुष्य और प्रकृति में आदान-प्रदान मानता आया है। पहले महायुद्ध के बाद भी भौतिकवादी सभ्यता के दिवालियापन ने शिक्षित समुदाय का नेत्रोन्मीलन कर दिया था। लोग आध्यात्म की ओर झुक चले थे। छायावाद की वही अन्तर्मुखी प्रवृत्ति रहस्यवाद में और गहरी तथा मुखरित हो जाती है। प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर जड़-चेतन के एकीकरण की प्रवृत्ति छायावाद की एक विशेषता है और उसके मूर्त की अमूर्त से, तुलना करने वाले अलङ्कार-विधान में, जैसे 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल' लहरों के लिए 'इच्छाओं सी असमान' तथा मानवीकरणप्रधान लाक्षणिक प्रयोगों में परिलक्षित होती है। जब यह प्रवृत्ति कुछ अधिक वास्तविकता धारण कर अनुभूतिमय निजी सम्बन्ध की ओर अग्रसर होती है तभी छायावाद रहस्य में परिणित हो जाता है। यह रहस्यवाद की प्रवृत्ति इस युग की ही देन नहीं है वरन् कबीर, जायसी आदि में इसका बाहुल्य था। रहस्यवाद शब्द में कुछ शृङ्गारिक रूपक और कुछ नश्वर और अनश्वर के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति-विषयक अस्पष्टता और अनिर्वचनीयता की ओर संकेत रहता है।

रहस्यवाद के प्रकार रहस्यवाद कई प्रकार का होता है, उनमें नीचे के प्रकार मुख्य हैं।

(क) ज्ञान और दार्शनिकता-प्रधान रहस्यवाद जैसे कबीर, दादू, प्रसाद, निराला आदि का (कबीर, दादू आदि में अनुभूति की मात्रा कुछ अधिक थी) दर्शन में कोरा तर्क रहता है और दार्शनिक रहस्यवाद में तर्क कम किन्तु आश्चर्यमयी जिज्ञासा और ऐक्य की अभिलाषामयी भावुकता अधिक रहती है।

(ख) दाम्पत्य प्रेम और सौन्दर्य-सम्बन्धी रहस्यवाद. जैसा कबीर और मीरा का। कबीर का आलङ्कारिक था और मीरा का वास्तविक और निजी किन्तु कबीर में अनुभूति का अभाव न था।

(ग) *साधनात्मक रहस्यवाद*। इसमें योग और कर्म-काण्ड की साधना का प्राधान्य रहता है, जैसे गोरख, कबीर आदि का और कुछ प्राचीन तान्त्रिकों, महायानी बौद्धों और शाक्तों का।

(घ) *भक्ति और उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद*। जैसे सूर-तुलसी का, इस प्रकार के रहस्यवाद में अद्वैत की अपेक्षा सान्निद्ध्य-सुख को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यद्यपि शुक्लजी ने तुलसी में रहस्यवाद नहीं माना है और उनमें व्यक्त ईश्वर की भक्ति की स्पष्टता अधिक बतलाई गई है फिर भी व्यक्त ईश्वर या अवतार भी पूरा ज्ञेय नहीं होता है और उसके सम्बन्ध-सुख की अनिर्वचनीयता रहती है। कृष्ण भक्तों में तो यह रहस्य-भावना सखी भावना और दाम्पत्य-भावना का रूप धारण कर लेती है।

(ङ) *प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद*। इसमें प्रकृति द्वारा परमात्मा की अनुभूति की जाती है। इस प्रकार के रहस्यवाद और छायावाद में बड़ा सूक्ष्म अन्तर रह जाता है, उसको यहाँ व्यक्त कर देना आवश्यक है।

प्रकृति के सम्बन्ध में छायावाद और प्राकृतिक रहस्यवाद दोनों का ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण है किन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। छाया-वाद में व्यक्ति की भावना अधिक रहती है। वह उसको व्यक्ति का रूप देना चाहता है किन्तु प्राकृतिक रहस्यवाद प्रकृति को समष्टि रूप में लेकर उसके दर्पण द्वारा अपने प्रियतम की छाया देखता है। प्राकृतिक रहस्यवाद प्रकृति के अवगुण्ठन में छिपी हुई सत्ता को झाँक कर देखना चाहता है। उसमें एक विशेष विराट-भावना रहती है और छायावाद में सौन्दर्य की भावना का प्राधान्य रहता है। दोनों में एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि रहती है। छायावाद में अन्तर्दृष्टि के रहते हुए भी आरोप की भावना रहती है। प्रकृति स्वयं ही व्यक्ति बनाई जाती है और उसमें मानवी भाव देखे से जाते हैं। प्राकृतिक रहस्यवाद में उसके द्वारा व्यक्त किये हुए परम पुरुष के दर्शन की चेष्टा रहती है। छायावाद में कल्पना का प्राधान्य होता है और प्राकृतिक रहस्यवाद में भावना और अनु-भूति का आधिक्य रहता है।

विभिन्न मत

आचार्य शुक्ल जी ने रहस्यवाद को छायावाद का विषयगत पक्ष माना है। शुद्ध छायावाद में शैलीगत विशेषताओं पर अधिक बल रहा और उस शैली में लिखे हुए रहस्य-वाद के बाहर के विषय भी आ जाते हैं। शुक्लजी छायावाद का

सम्बन्ध अंग्रेजी शब्द 'Phantasmata' अर्थात् छायाभास से मानते हैं। प्रसाद जी ने इसका सम्बन्ध मोती में रहने वाली तरलता से जिसे संस्कृत की पारिभाषिक शब्दावली में 'छाया' कहते हैं और साधारण भाषामें 'आब' कहते हैं, जोड़ा है। वे लिखते हैं:—

'मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अङ्ग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा लोगों ने निरूपित किया था। अन्त में वे इसका सम्बन्ध वक्रोक्ति और ध्वनि से स्थापित कर उसको प्राचीन परम्परा के अन्तर्गत ले आते हैं।'

प्रसाद जी के साथ यह मानते हुए भी कि यह प्रवृत्ति भारत के लिए नयी नहीं हमको यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि इसका सूत्रपात स्वतन्त्र रूप से गुप्त जी और मुकुटधर पाण्डेय की कविताओं से हो गया था तथापि इसको विशेष सम्बल अँग्रेजी और बंगला से मिला किन्तु उसने उस सम्बल और सामग्री को भारतीय रूप दे दिया है।

रहस्यवाद को महादेवी जी ने भी छायावाद की दूसरी मंजिल मानी है। छायावाद में कवि सौन्दर्य का केवल रसास्वादक के रूप में रहता है। रहस्यवाद में आत्म-निवेदन की भावना भी आ जाती है। इसका परम्परा बहुत प्राचीन है। उपनिषदों में जीव और परमात्मा के सम्बन्ध में दाम्पत्य भाव का आरोप हुआ है। छायावाद और रहस्यवाद की चाहे जो कुछ उत्पत्ति हो उनमें भावना का प्राधान्य होने के कारण वे गीत-काव्य के उपयुक्त विषय हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा रहस्यवाद के गीतों का इस प्रकार विश्लेषण करती हैं:—

"आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे है वह इन सबकी विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया-मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बांधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।'

छायावाद और रहस्यवाद में संघर्षमय संसार से हट कर किसी सुरभित सौन्दर्य-लोक में बैठकर देखने की सुख-स्वप्न पलायनवादी प्रवृत्ति है, जैसे:—

एक आक्षेप

'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों से गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे'

छायावाद में यह प्रवृत्ति अवश्य है किन्तु यह एक आवश्यक विश्राम के रूप में आती है। जिन कवियों में यह सौन्दर्यानुशीलन चिर विश्राम नहीं बन जाता है वहाँ यह जीवन के संघर्ष के लिए तैयारी का काम देता है। छायावाद की सौन्दर्यानुभूति जीवन को सरसता प्रदान कर जीवनयोग्य बनाती है। इसके अतिरिक्त छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही मानव और प्रकृति का एक आध्यात्मिक आधार बतलाकर एकात्मवाद की पुष्टि करते हैं। एकात्मवाद मानव जीवन के विभिन्न स्तरों में एक ही सत्ता की व्यापकता दिखा कर परोपकार के लिए एक दृढ़ आधार-भूमि उपस्थित कर देता है। केवल भौतिक-वाद की भूमि में साम्यवाद और परोपकार की भावनाएँ नहीं पनप सकतीं। यही छायावाद का लोक पक्ष है किन्तु यह दुन्दुभी-नाद के साथ घोषित नहीं किया गया है वरन् व्यञ्जित रक्खा गया है। निरालाजी की 'विधवा' (मेरा मतलब निरालाजी लिखित विधवा-शीर्षक कविता से है) और उनके 'भिक्षुक' में पर्याप्त करुणा है। ऐसी कविताएँ इस बात का ज्वलन्त प्रमाण हैं कि छायावाद में दलितों की उपेक्षा नहीं की गई है। छायावाद की अभिव्यक्ति का अपना ढँग है। वह उपदेशात्मक नहीं है वरन् व्यञ्जनात्मक है। निरालाजी स्वयं लिखते हैं 'सूक्तियाँ-उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं; प्रायः नहीं, केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ।' छायावाद की कविता से जो चित्त को विश्राम मिलता है उसका भी मूल्य कम नहीं है।

छायावाद जीवन-संग्राम में प्रवृत्ति के प्रति उदासीन नहीं है। स्वयं प्रसादजी में जीवन-संग्राम में प्रवेश करने का उद्बोधन मिलता है। देखिए:—

'अब जागो जीवन के प्रभात!
रजनी की लाज समेटो तो
अरुणाँचल में चल रही बात
जागो अब जीवन के प्रभात!'

कामायनी में भी श्रद्धा मनु को प्रवृत्ति की ही ओर ले जाती है और नैराश्य और अकर्मण्यता की निन्दा करती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि छायावाद ने बुद्धिवाद की अपेक्षा भावुकता को अधिक स्थान दिया है। वह भावुकता कर्म को भी गति देती है। छायावाद ने वासना के कर्दम से विनिर्मुक्त सौन्दर्य का शुद्ध निर्मल मानसमय रूप दिया और उसी के साथ हमारा ध्यान विश्व में व्याप्त एक चेतनात्मक सत्ता की ओर आकर्षित किया। इसके अतिरिक्त भाषा को नये अलङ्कार और नई शैली देकर उसका परिमार्जन किया और खड़ी बोली की रूक्षता और शुष्कता दूर कर अपने गीतों द्वारा साहित्य, संगीत और कला का सुन्दर समन्वय किया।

वर्गीकरण

छायावाद रहस्यवाद के कोमल स्निग्ध वातावरण में अनेकों गीतों की सृष्टि हुई है। उनकी मूल विषयगत प्रवृत्तियों के आधार पर उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:—

१—*प्रकृति-सम्बन्धी गीत*—छायावाद ने प्रकृति को नये दृष्टिकोण से देखा है। उसमें मानवी शृङ्गार और हर्ष, विषाद, प्रेम, करुणा आदि मानवी भावों एवं उनसे प्रेरित, अश्रु, पुलक, हास, नर्तन आदि अनुभावों का आरोप किया है। इनमें कुछ प्राकृतिक रहस्यवाद के भी गीत सम्मिलित हैं।

२—*जीवन-मीमांसा सम्बन्धी गीत*—छायावाद-रहस्यवाद में भावुकता का आधिक्य होते हुए भी बुद्धि-तत्व का अभाव नहीं है। इसमें जीवन के आदर्शों तथा आशा-निराशा एवं सुख-दुःख की मीमांसा के गीत गाये गये हैं।

३—*आध्यात्मिक विरह-मिलन के गीत*—इस प्रकार के गीत रहस्यवाद की विशेष सम्पत्ति हैं। आज-कल के लोगों ने भी परात्पर सत्ता के साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित कर अथवा उसकी कल्पना कर उसके साथ मिलन के सुख और विरह की वेदना के गीत गाये हैं। इनमें विरह-गीत अधिक हैं।

४—*गांधीवाद से प्रभावित राष्ट्रीय गीत*—छायावाद में राष्ट्रीयता का अभाव नहीं है किन्तु उसकी राष्ट्रीयता एक कोमल प्रकार की है। उसमें आदर्शों और उदात्त भावनाओं का प्राचुर्य है। उसमें करुणा

है किन्तु संघर्ष और विद्रोह नहीं। उस पर गाँधीवाद का अधिक प्रभाव है।

५—*लौकिक प्रेम-गीत*—छायावाद ने प्रेम और शृङ्गार का बहिष्कार नहीं किया है वरन उसका परिमार्जन किया है। वे लोग उसके मानसिक पक्ष को अधिक उभार में लाये हैं। उसके सौन्दर्य वर्णन में स्थूलता नहीं वरन् एक वायवी दिव्यता है और प्रेम आक्रमण के रूप में न रहकर आत्म-निवेदन का रूप धारण कर लेता है। छायावादी प्रेम-गीतों के अन्तस्तल में चाहे शारीरिकता हो किन्तु उस पर एक भव्यता और दिव्यता का आवरण रहता है।

प्रकृति-चित्रण—अब हम छायावाद और रहस्यवाद के अन्तर्गत एक-एक प्रवृत्ति के कुछ प्रमुख कवियों से उदाहरण देकर इस प्रसङ्ग को समाप्त करेंगे।

कविवर प्रसादजी द्वारा अङ्कित प्रातःश्री का एक मनोहर चित्र उपस्थित है। इसमें उषा-नागरी और लतिका का मानवीकरण करके उन्हें जल भरती हुई नायिकाओं के रूप में दिखाया गया है:—

'बीती विभावरी जागरी !
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा
किसलय का अञ्चल डोल रहा
लो यह लतिका भर लाई
मधु-मुकुल नबल रस गागरी'

प्रसादजी की 'लहर' शीर्षक कविता में छायावादी प्रवृत्तियों का अच्छा अध्ययन किया जा सकता है, देखिये:—

'उठ-उठरी लघु-लघु लोल लहर !
करुणा की नव अंगराई सी
मलयानिल की परिछाई सी
इस सूने तट पर छिटक छहर
शीतल, कोमल चिर कम्पन सी,
दुर्ललित हठीले बचपन सी,
तू लौट कहाँ जाती है री—
यह खेल-खेल ले ठहर-ठहर !

उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पद चिन्ह बना जाती,
सिकता में रेखाएँ उभार—
भर जाती अपनी तरल सिहर
तू भूल न री पंकज बन में,
जीवन के इस सूनेपन में
ओ प्यार-पुलक से मरी ढुलक
आ चूम पुलिन के विरस अधर।'

इसमें जीवन के सूनेपन और विरसता की करुणापूर्ण कसक छिपी हुई है जिसको वह करुणा की अंगराई जैसी मधुमयस्मृतियों की सूक्ष्म मानसिक लहरों से सरस बनाना चाहता है। इसमें जड़-चेतन का एक अपूर्व मिश्रण है और इसकी भाषा लाक्षणिकता से पूर्ण है। मूर्त्त लहर का उपमान बनाया है करुणा को और उसकी अंगराई का लाक्षणिकता द्वारा एक सूक्ष्म पर मूर्त्त चित्र बना दिया गया है। 'नव' शब्द से उसके उसी समय जाग्रत होने और अस्तित्व में आने का भाव है। मलयानिल की परछाईं में स्थूल लहर को अत्यन्त सूक्ष्म बना दिया गया है। मलयानिल वैसे ही सूक्ष्म है, उसकी परछाईं और भी सूक्ष्म हुई। इसमें छायावादी वायवीकरण शाब्दिक अर्थ में भी चरितार्थ होता है। 'दुर्ललित हठीले बचपन सी' में भाषा की चित्रोपमता दिखाई देती है। मचलते हुए बालक का चित्र सामने आ जाता है। लहर की तरलता सिकता में भी संक्रमित हो जाती है। 'पंकज-बन' सम्पन्नता, समृद्धि और हास-विलास का प्रतीक है जो कवि से दूर हो गया है। 'पुलिन का विरस अधर' कवि की वर्तमान दशा का परिचायक है। लहर प्रेम की लहर हो सकती है जो स्वयं प्यार और पुलक से भरी हुई है और कवि में भी पुलक का सञ्चार कर देगी।

अब कविवर निराला जी की संध्या-सुन्दरी का शान्त स्तब्ध और स्वर्णिम आभामय चित्र देखिए:—

'दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे !
तिमिराञ्चल में चंचलता का नहीं कहीं आभास

मधुर मधुर है दोनों उसके अधर—
किन्तु जरा गम्भीर—नहीं है उनमे हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुंघराले काले-काले बालों से
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।'

इस कविता में छायावाद की अस्पष्ट, धूमिल अन्तरिक्ष में घुल जाने वाली रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं। इसका संगीत भी ऐसा ही है मानों धीरे-धीरे उतार हो रहा हो। निरालाजी ने अपनी कला की व्याख्या में लिखा है कि उन्होंने व्रजभाषा की स, म, ब, ल वाली प्रकृति को अपनाया है। संस्कृत की श, ण, व, की प्रवृत्ति को कालिदास तो अच्छी तरह निभा सके हैं। पन्तजी ने भी उसको अपनाने का प्रयत्न किया है किन्तु वे स्वयं व्रजभाषा की 'स' 'ब'–प्रधान कोमलता के पक्ष में ही है। उन्होंने जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का उदाहरण देते हुए दिखलाया है कि वे सकार को ही मुख्यता देकर कोमलता और सरसता ला सके हैं, देखिए:—

'धीर-समीरे यमुनातीरे बसति बने बनमाली'

किन्तु निरालाजी भी 'स' का निर्वाह सब जगह नहीं कर सके हैं।

निरालाजी के प्रकृति सम्बन्धी गीतों में रूपक छिपा रहता है। प्राकृतिक दृश्यों में नायिका का रूप उतर आता है।:—

'सखी बसन्त आया।
भरा हर्ष बन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।'

× × × ×

'आवृत सरसी-उर सरसिज उठ,
केशर के केश कली के छूटे,
स्वर्ण शस्य-अञ्चल
पृथ्वी का लहराया।'

इस गीत में यद्यपि 'श' और 'ब' आये हैं तथापि अनुप्रास के कारण कुछ मधुरता आ गई है। इसमें लतिका और सरसी दोनों में नारी सौन्दर्य की व्यञ्जना है। विद्यापति में भी वसन्त का सुन्दर मानवीकरण मिलता है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त तो प्रकृति के ही कवि हैं। उन्होंने स्फुट

रूप से तथा ज्योत्स्ना में भी अनेक प्रकृति-सम्बन्धी गीत लिखे हैं। इन गीतों में प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति एक निजी उल्लास परिलक्षित होता है। वे प्रकृति से ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उससे आदान-प्रदान करते हुए दिखाई देते हैं:—

'विजन बन में तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान,
मुझे लौटा दो विहग-कुमारि सजल मेरा सोने-सा गान।'

प्राकृतिक दृश्यों द्वारा वे निराकार-साकार की दार्शनिक गुत्थियों को भी सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, देखिए:—

'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल-विहंगिन! पाया तू ने यह गाना?
निराकार तम मानो सहसा ज्योति-पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत जाल में धर कर नाम रूप नाना।
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि, जगी सुरभि, डोले मधुबाला।
स्पन्दन, कम्पन औ' नव जीवन सीखा जग ने अपनाना।'

इसमें प्रातःकाल के होते ही जितने क्रिया-कलाप का सञ्चार होने लगता है उसका एक साथ प्रस्फुटन-सा हो जाता है और मन में एक नये जीवन और उल्लास की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। इस गीत की प्रथम दो पंक्तियों में चिड़ियों की सहज वृत्तियों के प्रति एक रहस्य-मय कौतूहल भी है। इस कौतूहल की शान्ति जगत के आध्यत्मिक आधार से होती है।

पन्तजी ने अपने 'ज्योत्स्ना' नाम के नाटक में भी सुन्दर गीत लिखे हैं। नीचे एक लहरों का गीत दिया जाता है जिसमें लहरों की आत्म-कथा बहुत-कुछ मनुष्य के जीवन-मरण और पुनर्जन्म से समता रखती है। ऐसा साम्य विश्व में एकसूत्रता का भाव उत्पन्न करता है:—

'अपने ही सुख से चिर-चञ्चल
हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल!
चिर जन्म-मरण को हँस-हँस कर
हम आलिङ्गन करतीं पल-पल
फिर-फिर असीम से उठ-उठ कर
फिर-फिर असीम से हो ओझल।'

महादेवीजी ने प्रकृति का मानवीकरण कर सुन्दर छायावादी गीत लिखे हैं। उनका 'आ बसन्त रजनी' वाला गीत बहुत प्रसिद्धि पा चुका है।

'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी !
तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शीश-फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन अवगुंठन,
मुक्ताहल अविराम बिछा दे चितवन से अपनी !
पुलकती आ वसन्त-रजनी ।'

श्रीमती महादेवी वर्मा का विराट-भावना से प्रेरित एक प्रकृति सम्बन्धी गीत यहाँ उद्धृत किया जाता है। इसमें परमात्मा को प्रकृति-नटी के रूप में देखा गया है और प्राकृतिक विभूतियों से उसका शृङ्गार किया गया है। इसमें छायावाद की अपेक्षा रहस्यवाद अधिक है:—

'लय गीत मदिर गति ताल अमर
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर !
आलोक तिमिर सित-असित चीर
सागर गर्जन रुन-झुन मँजीर
उड़ता झंझा में अलक-जाल,
मेघों में मुखरित किंकिण स्वर ।
रवि-शशि तेरे अवतंस लोल,
सीमन्त जटित तारक अमोल ।
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्र-धनुष,
हिमकण बन झरते स्वेद-निकर ।
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर ।'

प्रसाद और महादेवी जैसे रहस्यवादी कवियों के लिए प्रकृति के कण-कण में दैवी सत्ता की झलक मिलती है और वह सजीव हो उठती है। प्रकृति में आध्यात्मिक सत्ता का आभास पाने पर ही उसमें मानवी भावों का आरोप सम्भव होता है। महादेवीजी इस आध्यात्मिक आधार के सम्बन्ध में अपने 'सान्ध्य गीत' की भूमिका में लिखती हैं:—

'प्रकृति के लघु तृण और महान् वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलायें, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युतरेखा, मानव की लघुता-विशालता,······और मोहज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर हैं। जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कविने ऐसे तारतम्य को खोजने का

प्रयास किया जिसका एक छोर असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।'

जीवन-मीमांसा-सम्बन्धी गीत—हमारे रहस्यवादी कवियों में यह जीवन-मीमांसा एकात्मवाद की दृढ़ भित्ति पर अवलम्बित है। इसमें सुख-दुःख दोनों ही परमात्मा को देन के रूप में प्रसन्नता से अपनाये जाते हैं। देखिए महादेवी जी क्या कहती हैं:—

'सखी मैं हूँ अमर सुहाग भरी!
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी!
किसको त्यागूँ किसको माँगूँ
हैं एक मुझे मधुमय, विषमय;
× × ×
प्रिय के संदेशों के वाहक,
मैं सुख-दुख भेंटूंगी भुजभर,
मेरी लघु पलकों में छलको,
इस कण-कण में ममता बिखरी!'

रवि बाबू ने भी भगवान के आभूषणों की अपेक्षा उनके खड्ग को और भी मनोहर कहा है, देखिए:—

'सुन्दर बटे तव अङ्गदखानि
ताराय ताराय खचित,
स्वर्णे रत्ने शोभन लोभन जानि
वर्णे वर्णे रचित।
खड्ग तोमार आरो मनोहर लागे
बाँका विद्युते आँका से'

पंतजी जितने भावुक हैं उतने ही वे दार्शनिक भी हैं। जैसाकि निम्नोद्धृत छन्दों से स्पष्ट हो जायगा। उन्होंने (१) में सुख-दुःख का संतुलन चाहा है। (२) में वे जीवन से विराम नहीं चाहते हैं और (३) उन्होंने बन्धन में ही मुक्ति के दर्शन किये हैं। उनकी भावनाएँ क्रमशः नीचे के छंदों में दी जाती है:—

(१) 'जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति-सुख से
मानव-जग में बँट जावें

दुख सुख से औ सुख-दुख से'

(२) 'जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल रे नाविक।
जीवन के अन्तस्तल में,
नित बूड़ बूड़ रे भाविक॥
अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य चिरन्तन।
सुख-दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।

× × ×

सुन्दर से अति सुन्दरतर,
सुन्दरतर के सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन'

(३) 'तप रे मधुर मधुर मन!
विश्व वेदना में तप प्रतिपाल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकुलष, उज्ज्वल औ कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन।
तेरी मधुर-मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध-हीन तू गन्ध-युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप मन।
मूर्तिमान बन, निर्धन!
जल रे जल निष्ठुर-मन!'

वैसे तो यह प्रवृत्ति का युग है किन्तु आधुनिक साहित्य में रवि बाबू ने बन्धन में मुक्ति वाली भावना को अग्रसर किया था। यह बात श्रीमद्भगवद्गीता के निष्काम कर्म द्वारा ही सम्पादित हो सकती है। रविबाबू की उक्ति देखिए:—

'वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय!
असंख्य वन्धनमाझे महानन्दमय
लभिब मुक्तिर स्वाद।'

आध्यात्मिक विरह-मिलन के गीत—प्राचीन रहस्यवादियों की

भाँति आधुनिक रहस्यवादियों ने भी विरह-मिलन के गीत लिखे हैं, उनमें मिलन की अपेक्षा विरह के अधिक है। यह कहना तो कठिन है कि यह विरह कहाँ तक अनुभूतिमय है किन्तु इसमें विरह-दशा की कल्पनाएँ अवश्य हैं। इन कल्पनाओं के लिए कम-से-कम इतनी अनुभूति अवश्य मानी जायगी जितनी कि मुलम्मा करने के लिए सोने या चांदी की आवश्यकता होती है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जिनमें वह अपने को भौतिक बन्धनों से ऊँचा उठा पाता है। उन्हीं क्षणों की अनुभूति कल्पना से विस्तृत और तीव्रतर बनाली जाती है। यह सम्भव है कि इन विरह गीतों के तल में लौकिक विरह ही हो किन्तु वह उन्नत हो गया है। उसका कलुष-कर्दम बहुत-कुछ बैठ गया है और निर्मल जल ऊपर आ गया है। ये गीत हमको प्रसाद और महादेवी में अधिक मिलते हैं। महादेवीजी ने विरह को ही अपना आराध्य बना लिया है :—

'आकुलता ही आज
हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य
द्वैत क्या कैसी बाधा ?'

विरह के कारण महादेवीजी स्वयं आराध्यमय हो जाती हैं क्योंकि विरह में संयोग की अपेक्षा तन्मयता कुछ अधिक होती है—'हो गई मैं आराध्यमय विरह की आराधना से' विरह ही उनका वियोग और सुहाग दोनों हैं। विरह में ही वे मिलन मानती हैं। उनकी विरह की अधीरता देखिए :—

'फिर विकल हैं प्राण मेरे !
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस पार और क्या है !
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्वास घेरे ?'

आजकल के रहस्यवादियों ने अपने 'प्रियतम के दर्शन अधिकतर प्रकृति के अवगुण्ठन में ही होकर किये हैं, कम-से-कम उनमें उस अवगुण्ठन को उठाकर दर्शन करने की साध है। रहस्यवादी कवि तारकों में प्रियतम के नेत्रों का आभास पाता है—'सो रहा है विश्व पर प्रिय तारकों में जगाता है' यह सब भगवान के विराट रूप का ही

कवित्वमय चिन्तन है।

प्राकृतिक दृश्यों की ओट में प्रियतम के साथ आँख-मिचौनी के खेल में परमात्मा की व्यापकता में विश्वास तथा इस युग के लोगों का उससे साक्षात्कार न होने की आत्म-स्वीकृति है :—

'अलि कैसे उनको पाऊँ

वे आँसू बनकर मेरे इस कारण ढुल-ढुल जाते,
इन पलकों के बन्धन में बाँध-बाँध पछताऊँ
मेघों में विद्युत सी छवि उनकी मिट जाती
आँखों की चित्रपटी में जिससे मैं आँक न पाऊँ'

× × × ×

वे स्मृति बनकर मानस में खटका करते हैं निशिदिन,
उनकी निष्ठुरता को जिससे मैं भूल न जाऊँ।

इस गीत में यद्यपि कल्पना अधिक है तथापि वह भावना-प्रेरित है और उसमें मिलन के अभाव की एक मीठी कसक है। यह कसक कवियित्री के जीवन का अङ्ग सा बन गई है। उसका वे परित्याग नहीं करना चाहती है :—

'अब न लौटाने कहो अभिशाप की वह पीर
बन चुकी हृदय में स्पन्दन और नयन में नीर'

प्रसादजी ने एक गीत में मिलन की सी प्रसन्नता का भी वर्णन किया है किन्तु वह अधिकांश में कल्पना ही है, देखिए :—

'मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये
यह अलस जीवन सफल अब हो गया
कौन कहता है जगत है दुःखमय
यह सरस संसार सुख का सिंधु है।'

राष्ट्रीय-गीत—छायावाद के राष्ट्रीय गीतों में एक विशेष कोमलता और शालीनता है। उनमें देश के प्रति गौरव की भावना जाग्रत की गई है और जगत की अपूर्णताओं, क्रूरताओं, कठोरताओं एवं कर्कशताओं को मङ्गलमय भगवान् की मङ्गल-विधायनी शक्तियों के सहारे स्निग्ध और सुडौल बनाने की कामना प्रकट की गई है।

'चन्द्रगुप्त' 'नाटक' में यूनानी सेनापति सेल्यूकस की पुत्री 'कोर्नीलिया' द्वारा गाया गया सुप्रसिद्ध गीत छायावाद की राष्ट्रीय प्रवृत्ति का एक सुन्दर उदाहरण है। इसमें अपने देश की शान्ति और विश्राम-

दायिनी शक्ति का स्तवन है और देश के प्रति अनुराग ही नहीं उत्पन्न होता वरन् चित्त को प्रसन्नता मिलती है, देखिए:—

'अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर—नाच रही तरु-शिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर—मङ्गल कुङ्कुम सारा।
लघु सुर-धनु से पंख पसारे— शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग, जिस ओर मुँह किये—समझ नीड़ निज प्यारा
बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणा जल,
लहरें टकराती अनन्त की—पाकर कर जहाँ किनारा।'

प्रसादजी का एक अभियान गीत बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। इसमें एक विशेष जातीय गर्व, ओज और शालीनता है और स्वतन्त्रता स्वयं शैल-शिखिर से पुकारती हुई सुनाई पड़ती है :—

'हिमाद्रि तुङ्ग अङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोचलो
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो।'

पंडित सोहनलाल द्विवेदी तथा अन्य कवियों ने भी ऐसे अभियान गीत लिखे हैं। द्विवेदीजी तो विशेष रूप से गाँधीवाद के कवि हैं।

संसार को मङ्गलमय बनाने की उत्कट अभिलाषा की प्रतिध्वनि पन्तजी के 'गुञ्जन' से उद्धृत निम्नोलिखित प्रार्थना में सुनाई पड़ती है:—

'जग के उर्वर आगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यक्त चिर नूतन!
बरसो सुख-सुखमा बन,
बरसो जग जीवन के घन
दिशि दिशि में औ पल-पल में
बरसो जीवन के सावन।'

निरालाजी ने राष्ट्रीय प्रभाती के रूप में एक उद्बोधन-गीत गाया

है जिसमें छायावाद की पूर्ण कोमलता और चित्रमयता दृष्टिगोचर होती है। ऐसी ही उक्तियाँ काव्य के लिए 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' की बात सार्थक करती हैं। देखिए:—

'जागो फिर एक बार
उगे अरुणाचल में रवि,
आई भारती रति कवि कंठ में
पल पल में परिवर्तित होते रहते प्रकृति पट"
"जागो फिर एक बार
प्यारे जगाते हुये हारे सब तारे तुम्हें
अरुण पंख तरुण किरण
खड़ी खोल रही द्वार
जागो फिर एक बार।'

छायावाद के राष्ट्रीय गीतों में व्यञ्जना का प्राधान्य रहता है और कवित्व की ओर अधिक ध्यान रक्खा जाता है। ऐसे गीतों में देश की वर्तमान दशा पर करुण क्रन्दन रहता है किन्तु वह उग्र नहीं होने पाता। असलियत को प्रतीकों द्वारा व्यञ्जित किया जाता है, देखिए:—

'आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरती सूनी सांस
वही मधु ऋतु की गुञ्जित डाल
झुकी थी यौवन के भार,
अकिञ्चनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार!
× × × ×
गूँजते हैं सब के दिन-चार
सभी फिर हाहाकार।'

—पंत, परिवर्तन से

यद्यपि इसमें परिवर्तन की दार्शनिक समस्या है और जगत की नश्वरता की ओर भी इशारा है तथापि इसके जो चित्र हैं वे देश की गिरी हुई दशा के द्योतक हैं। प्रगतिवादी गीतों में कुछ विशेष उग्रता रहती है उनमें यथार्थवाद की पूरी कर्कशता उतर आती है।

लौकिक प्रेम गीत—छायावादी लौकिक प्रेम-गीतों में अधिकांश

में एक विफल प्रेम की टीस और कसक रहती है तथा कुछ में वासना का भी विलास रहता है। इस मामले में छायावादी और प्रगतिवादी एक ही मिट्टी के बने हुए हैं। प्रगतिवादी लोगों में रूढ़ियों के विरोध की उग्रता के साथ यथार्थवाद की मात्रा पर्याप्त रूप में रहती है। वेदना और कसक के उदाहरण स्वरूप प्रसादजी का एक नाटकीय गीत नीचे दिया जाता है। इस प्रकार के त्यागपूर्ण आत्मसमर्पण की भावना में वासना का कर्दम नीचे बैठ जाता है। प्रसादजी के नाटकीय गीत यद्यपि एक विशेष संदर्भ में बन्धे हुए हैं और इस कारण वैयक्तिक भी हैं तथापि वे ऐसे हैं कि उनकी ताल-लय पर प्रत्येक प्रेमी हृदय प्रतिस्पन्दित होने लगता है। गीतों में वैयक्तिकता बाधक नहीं साधक ही होती है और एक विशेष तीव्रता प्रदान करती है।

स्कन्दगुप्त की देवसेना का जीवन ही गीतमय है। अन्त में उसकी निराशा और करुणा भी गीत में ही प्रकाश पाती है। निराशा की पराकाष्ठा में ही देवसेना को शान्ति मिलती है:—

'आह! वेदना मिली विदाई!
मैंने भ्रमवश जीवन-संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।'

× × ×

'चढ़कर अपने जीवन-रथ पर,
प्रलय चल रहता अपने रथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर, उससे हारी-होड़ लगाई
लौटा लो अपनी यह थाती
मेरी करुणा हा-हा खाती
विश्व! न सँभलेगी यह मुझसे, इसने मन की लाज गँवाई॥'

जिस थाती को उसने निजी बनाकर अपनाया था, संसार के वात्याचक्र में न सम्हल सकने के कारण वह उसे विश्व को सौंपकर सुख और शान्ति का अनुभव करती है।

प्रणय-भाव से प्रेरित पंतजी द्वारा अङ्कित भावी पत्नी का एक काल्पनिक चित्र यहाँ दिया जाता है। इसमें वासना की अपेक्षा कल्पना की सौन्दर्योपासना और कोमलता अधिक है:—

'प्रिये, प्राणों की प्राण!
न जाने किस गृह में अनजान

छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान !
नवल कलिकाओं की-सी वाण,
बाल-रति सी अनुपम, असमान—
न जाने कौन, कहाँ अनजान,
प्रिये प्राणों की प्राण !'

× × ×

'चूम लघु पद चंचलता, प्राण !
फूटते होंगे नव जल-स्रोत,
मुकुल बनती होगी मुसकान
प्रिये, प्राणों की प्राण !'

इस सौन्दर्य-चित्र में ऐन्द्रिकता की अपेक्षा सौन्दर्य से प्रभावित हृदय का उल्लास अधिक है। यह सौन्दर्य भी बड़ा गतिशील है। इतना कि दूसरे को भी गतिशील बना दे—'चूम लघु पद चंचलता प्राण ! फूटते होंगे नव जल-स्रोत'—इसमें जायसी-का-सा प्रकृति और मानव का आदान-प्रदान है। प्रकृति को मानव का अनुगामी बनाकर प्रतीप अलङ्कार की ध्वनि उत्पन्न की गई है:—

नीचे के गीत में वासना की अधीरता व्यञ्जित होती है।

'आज रहने दो यह गृह काज;
प्राण ! रहने दो यह गृह काज।
आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास
प्रिये लालस-सालस वातास,
जगा रोओं में सौ अभिलाष।'

इसमें रस-शास्त्र के अनुकूल प्रकृति के स्वाभाविक उद्दीपन की भावना वातास के सौरभ-श्लथ उच्छ्वास में प्रकट हो रही है। नवीन कवियों ने प्राचीन रस-पद्धतियों, रूढ़ियों और परम्पराओं का तिरस्कार नहीं किया है। नरेन्द्र के नीचे के गीत में स्मृति-भाव भी है और वह स्मरण अलङ्कार के सहारे ही आगे बढ़ा है—

'मेरा घर हो नदी किनारे
रह रह याद तुम्हारी आए
देख मचलती तरल लहरियाँ
कभी उछलती चटुल मछलियाँ

खुले हृदय में नयन तुम्हारे
मेरा घर हो नदी किनारे'

प्रगतिवाद—छायावाद-रहस्यवाद के अपेक्षाकृत ह्रास के पश्चात् प्रगतिवाद का युग आया। यह छायावाद की सूक्ष्मता वायवीपन और पलायनवाद की प्रतिक्रिया थी। इस वाद ने कविता को जीवन के सम्पर्क में लाने की मांग पेश करके (यह मांग बड़े जोरदार शब्दों में आचार्य शुक्लजी द्वारा पहले ही हो चुकी थी) शोषित-पीड़ित मानवता का पक्ष लिया। किसान-मजदूरों की हिमायत इसका मुख्य ध्येय हुआ और पूँजीपतियों को पानी पी-पी कर कोसना (साथ ही अपेक्षाकृत दबी जबान में सामन्तशाही को भी चुनौती देना) इसका धर्म बना तथा वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति के नारे लगाये जाने लगे। किसान-मजदूरों का हित-साधन और प्रतिक्रियावादियों अर्थात् शोषकों एवं सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना ही कविता की कसौटी बनी। रूस, लाल झण्डे, लाल सेना और मार्क्सवाद की बात-बात में दुहाई दी जाने लगी। यही है संक्षेप में प्रगतिवाद। इसमें जन-हित की भावना प्रधान है किन्तु इसकी पद्धति संघर्षमय है।

छायावाद और प्रगतिवाद दोनों ही दो भिन्न-भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों के परिचायक हैं। छायावाद कोमल और अन्तर्मुखी वृत्ति का और प्रगतिवाद कठोर और वहिर्मुखी वृत्ति का। प्रगतिवाद में भी राष्ट्रीय भावना है किन्तु उसमें शोषित के प्रति करुणा के साथ-साथ शोषक के प्रति उग्र घृणापूर्ण विद्रोह भी है। छायावाद में गांधीवाद से प्रभावित कष्ट-सहिष्णुता की एकान्त साधना है और यदि सामूहिक विद्रोह भी है तो वह बड़ा विनत और शालीन है। प्रगतिवाद में मार्क्सवाद की क्रान्ति की सामूहिक भावना है। छायावाद आदर्शवाद की ओर अधिक झुका है तो उसका प्रतिद्वन्दी यथार्थवाद की (जो कभी-कभी नग्न रूप धारण कर लेता है) ओर जा रहा है। प्रेम-गीत दोनों ने गाये। प्रगतिवाद की राष्ट्रीयता आर्य-समाज की परिशुद्धतावादी राष्ट्रीयता न थी। मानवी हृदय की स्वाभाविक पुकार को उनकी राष्ट्रीयता दबा न सकी किन्तु छायावादी और प्रगतिवादी प्रेम-वर्णन में अन्तर है। छायावादी प्रेम-गीतों में एक विशेष सूक्ष्मता, सांकेतिकता, साधना और आत्म-समर्पण की भावना है। प्रगतिवादी प्रेम-गीत अधिक स्थूल, अपेक्षाकृत निरावरण और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति

विद्रोह की भावना से मिश्रित रहते हैं। उनमें स्वयं मिट जाने की अपेक्षा मिटा देने की भावना अधिक है। यही हाल राष्ट्रीय भावना का है। छायावादी राष्ट्रीय गीतों में एक विशेष कोमलता और वायवी स्वप्निल वातावरण रहता है। उनमें जागरण भेरी-रव अवश्य है किन्तु वह प्रभाती सा मन्द और मधुर है (निराला जी आदि में कहीं-कहीं उग्रता भी आगई है) उसमें आग लगाने की भावना की अपेक्षा बलिदान की साधना अधिक है।

यद्यपि प्रगतिवाद यथार्थवाद का आश्रय लेकर बढ़ा है तथापि उसमें भावुकता का अभाव नहीं है और वह गीत-काव्य की सृष्टि करने में समर्थ हुआ है। उसके गीतों की यह विशेषता है कि वे लोक-गीतों के निकट आ सके हैं और उनका जनता में प्रचार हो सकता है (कहीं-कहीं यह भावना कि इनमें जो स्तवन और विचार-धारा है वह भारतीय होने की अपेक्षा रूस की अधिक है, बाधक होती है) जहाँ ये लोग वर्ग-संघर्ष की कटुता के कारण शालीनता खो बैठे हैं वहाँ कला का भी अभाव नहीं है। पन्तजी जैसे छायावादी कवियों ने प्रगतिवाद को कलामय बना दिया है और वह भी छायावाद की कला को अपनाता जाता है। खेद की केवल यही बात है कि जो अनुभूति की कमी और रूढ़िवाद का प्रसार छायावाद-रहस्यवाद की कविताओं में दोष रूप से माना जाता था उन्हीं दोषों को प्रगतिवाद में भी आश्रय मिल रहा है। हमको उसके दोषों की अपेक्षा उसकी उत्तमता से मतलब है। हमें गुठलियाँ नहीं रस चाहिए।

संक्षेप में प्रगतिवादी गीतों के मूल विषय इस प्रकार हैं—(१) किसान मजदूरों के प्रति सहानुभूति तथा पूँजीपतियों और अन्य शोषक वर्ग के प्रति विद्रोह (२) रूस, मास्को और लाल सेना का यशगान (३) उन्मुक्त प्रेम (४) गांधीवाद के प्रति विद्रोह और मार्क्सवाद का समर्थन (यह गीतों में कम है, गद्य लेखों और उपन्यासों में अधिक) (५) हिन्दू-मुसलिम ऐक्य।

किसान-मजदूर—प्रगतिवादी कवियों में पंतजी अपनी पिछली कविताओं में, निराला जी (तोड़ती पत्थर, कुकरमुत्ता आदि कविताओं में) नरेन्द्र, अञ्चल, सुमन, दिनकर, उदयशङ्कर भट्ट, राँगेय राघव आदि प्रमुख हैं।

पंडित उदयशङ्कर भट्ट ने एक मजदूर का बड़ा दर्दभरा चित्र अङ्कित

किया है। गर्मी बसन्त और बरसात के दृश्य सब उसके शरीर में ही मिल जाते हैं। इसकी अन्तिम पंक्तियों में जो तुलना है वह बड़ी करुणा-पूर्ण है, देखिए :—

'मेरी बरसातें आँसू रे, मेरा बसन्त पीला शरीर
गरमी झरनों सा स्वेद, मेरे साथी दुख दर्द पीर
दिन उनको मुझको रात मिली, श्रम मुझे उन्हें आराम मिला
बलि दे देने को प्राण मिले, हन्टर को सूखा चाम मिला।'

श्री अञ्चल जी किसानों की व्यथा का चित्रण करते हुए लिखते हैं:—

'इन खलिहानों में गूँज रही किन अपमानों की लाचारी,
हिलती हड्डी के ढाँचों ने पिटती देखी घर की नारी
जब लोट-लोट सी पड़ती है ये गेहूं धानों की बालें,
है याद इन्हें आती जब खिचती थी तेरी खालें,
युग-युग के अत्याचारों को आकृतियाँ जीवन के तल में
घिर-घिर कर पुञ्जीभूत हुई ज्यों रजनी की छाया छल में।'

बङ्गाल का अकाल भी प्रगतिवादियों का बड़ा रुचिकर विषय रहा है। इसमें पीड़ितों के प्रति करुणा की भावना तो है ही किन्तु साथ ही इसमें शोषक पूँजीपतियों और चोर बाजार के व्यापारियों के प्रति एक घोर घृणा की भी व्यञ्जना रहती है। अकाल कविताओं में जो विशेष बल है उसका एक मूल कारण तो मैं न कहूँगा किन्तु सहायक कारण अवश्य पूँजीपति के प्रति अवचेतनवासिनी घृणा का अंश है। सुमन जी ने तथा केदारनाथ जी अग्रवाल ने बङ्गाल के अकाल के बड़े मर्मभेदी गीत लिखे हैं। बङ्गाल के अकाल के सम्बन्ध में, श्री केदारनाथ अग्र-वाल द्वारा अङ्कित एक करुण चित्र देखिए:—

'बाप बेटा बेचता है
भूख से बेहाल होकर
धर्म धीरज प्राण खोकर
हो रही अनरीत बर्बर
राष्ट्र सारा देखता है,
बाप बेटा बेचता है।

मा अचेतन हो रही है
मूर्च्छना में रो रही है
दम्भ के निर्भय चरण पर

प्रेम माथा टेकता है,
बाप बेटा बेचता है।'

रूस और लाल सेना—इस विषय में प्रगतिवादियों का मन अधिक रमा है और उसमें उनके हृदय का उल्लास भी दिखाई देता है। इन गीतों में गीत-काव्योचित प्रवाह भी है किन्तु उस प्रकार के गीतों के साथ जनता का हृदय प्रतिस्पन्दित होते नहीं सुनाई पड़ता है। सब लोग रूस को ही दुनिया की आजादी का प्रतीक नहीं मान सकते हैं। हमारे हृदय में जो भारत माता के प्रति भावोल्लस उठ सकता है वह रूस के प्रति नहीं। जर्मनी की फौज से ही नहीं वरन् हमारे हृदय मे भी मास्को अब भी दूर है क्योंकि हमारी समझ में यूरोप वाले मानवता के आदर्शों से कोसों दूर हैं। वे विजितों के साथ उदारता क्या न्याय भी नहीं कर सके हैं। खैर यह राजनीति का विषयान्तर है। अब रूस और लाल सेना के स्तवन सम्बन्धी सुमन जी का एक गतिमय गीत लीजिए:—

'युगों की सड़ी रूढ़ियों को कुचलती,
जहर की लहर सी मचलती,
अन्धेरी निशा मे मशालों सी जलती,
चली जा रही है बढ़ी लाल सेना।
समाजी विषमता की नीवे मिटाती,
गरीबों की दुनिया में जीवन जगाती,
अमीरों की सोने की लंका जलाती,
चली जा रही है बढ़ी लाल सेना।'

हम रूस की बहादुरी और देश-प्रेम की सराहना कर सकते हैं किन्तु हम प्रगतिवादियों के साथ सुर-में-सुर मिलाकर यह नहीं कह सकते कि 'लाल रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इन्सानों का' रूस में भी दोष हो सकते हैं, उसमें भी साम्राज्य-लिप्सा और एटम बम्ब की विध्वंसकारिणी अमानव भावना आ सकती है।

प्रेम-गीत—प्रगतिवाद सिद्धान्ततः रूढ़ियों के विरुद्ध है और उसमें उन्मुक्त प्रेम को अधिक आश्रय मिलता है। नवीन, नरेन्द्र तथा अञ्चल के प्रेम-गीतों में भौतिक पक्ष की प्रधानता है और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह प्रतिध्वनित होता सुनाई पड़ता है। हम विस्तारभय से ऐसे गीतों को न देकर उदाहरण स्वरूप केवल एक गीत देंगे जिसमें वासना की गन्ध

अवश्य है किन्तु उसकी भौतिकता मानसिक धरातल पर पहुँची हुई प्रतीत होती है। देखिए :—

'ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देख ले आँखे
अभी कुछ देर मेरे कान में गूँजे तुम्हारा स्वर,
बहे प्रति रोम से मे सरस उल्लास का निर्झर
बुझा दिल का दिया शायद किरण सा खिल उठे जलकर
ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देख ले आँखे'

हिन्दू-मुसलिम ऐक्य—प्रगतिवाद ने प्रत्यक्ष जीवन के सम्पर्क में आकर राजनीति में भाग लिया है और वह यथाशक्ति हिन्दू-मुसलिम ऐक्य की ओर प्रयत्नशील रहा है। स्वयं धर्म से उदासीन होने के कारण ये लोग दोनों को समताभाव से देखने की अधिक क्षमता रखते हैं। धार्मिक रूढ़ियों के विरोधी होने के कारण रूढ़िग्रस्त हिन्दू धर्म का इन्होंने कुछ अधिक विरोध किया है, यद्यपि मुसलिम धर्म में भी रूढ़िवाद कम नहीं है। इस समताभाव के लिए सब जगह धार्मिक विद्रोह ही उत्तरदायी नहीं है वरन् इसके अन्तस्तल में कहीं-कहीं उच्च मावता के भी दर्शन होते हैं। नरेन्द्र जी की निम्नोलिखित कविता में मानवता की ही भावना प्रधान है। देखिये :—

'मैं हिन्दू हूँ, तुम मुसलमान,
पर क्या दोनों इन्सान नहीं!
मैं तुम्हें समझता रहा म्लेच्छ,
तुम मुझे वणिक औ दहकानी!
सदियों हम दोनों साथ रहे
यह बात न अब तक पहचानी
दोनों ही धरती के जाये
हम अनचाहे मेहमान नहीं।
मैं हिन्दू हूँ, तुम मुसलमान,
पर क्या दोनों इन्सान नहीं!
हैं अलग-अलग हम दोनों के
व्यवहार मान, जीवन-दर्शन;
सांस्कृतिक स्रोत दोनों के दो
करते दो भावों का सिंचन;
पर दो होकर भी मिल न सके,

तो दोनों का कल्याण नहीं !
मैं हिन्दू हूँ, तुम मुसलमान,
पर क्या दोनों इन्सान नहीं ?'

छायावादी गीतों की अपेक्षा प्रगतिवादी गीतों में अधिक सरलता और स्पष्टता है किन्तु वे लोग भी लक्षणा-व्यञ्जना के प्रयोगों से अछूते नहीं हैं। उनके अलङ्कार-विधान भी बनते जाते हैं। अन्धकार का उपमान कोयले की खान में काम करने वाली मजदूरनी बनाया जाता है। उनके विषय भी कुछ नये हैं जिनके प्रति हमारे हृदय का साधारणीकरण होने में देर लगेगी। प्रगतिवाद ने भी किसी अंश में छायावाद की कला को अपनाया है। वे भी करील, पलाश जैसे प्रतीकों को व्यवहार करते हैं। कुछ छायावादी लोगों के प्रगतिवाद में आ जाने से ये दोनों वाद भी एक दूसरे के निकट आगये है।

विशेष—(१) गीत-काव्य के अतिरिक्त और भी बहुत सी मुक्तक कविताएँ लिखी गई हैं किन्तु उनमें प्रायः वे ही प्रवृत्तियाँ हैं जो गीत-काव्य में हैं। उनमें गेयत्व और भावातिरेक अपेक्षाकृत कम है। गीत-काव्य में तो विशेष रूप से और वैसी कविताओं में भी मात्रिक छन्दों का ही प्राधान्य रहा है। संस्कृत के गीत-काव्य गीत-गोविन्द में भी मात्रिक छन्दों का ही बाहुल्य है। अब तो कविता को छन्दों के बन्धनों से भी मुक्ति मिल गई है। मात्राओं की भी नाप-तोल नहीं होती है। प्रत्येक पंक्ति में अपनी गति और लय होती है। फिर भी मात्राओं की नाप-तोल और तुक का मान नितान्त रूप से उठा नहीं है।

(२) प्रसाद जी ने श्रव्य-काव्य को पाठ्य-काव्य कहा है। वास्तव में छापेखाने के आविष्कार से श्रव्य-काव्य अब पाठ्य ही हो गये हैं किन्तु हम प्राचीन शब्दावली को बदलना नहीं चाहते हैं। बहुत से शब्द ऐसे हैं जिनकी अब सार्थकता नहीं है किन्तु व्यवहार में आते हैं। पत्र ही ऐसा शब्द है। अब पत्र भोज-पत्र पर नहीं लिखे जाते हैं।

श्रव्य-काव्य (गद्य)

कथा-साहित्य उपन्यास

कथा-कहानी सुनने की प्रवृत्ति मनुष्य में चिरकाल से चली आ रही है। सभी लोगों ने राजा और रानी की कहानी अपने बाल्यकाल में सुनी होगी। यह विदित है कि उस काल की कहानियों का मुख्य उद्देश्य 'फिर' अथवा उसके पश्चात् 'क्या हुआ' की जिज्ञासा की पूर्त्ति रही।

स्वाभाविक प्रवृत्ति

यह जिज्ञासा अमर है और सदा अतृप्त रहती है। अधिकांश पाठकों ने एक राजा की कहानी सुनी होगी जो कभी न खतम होने वाली कहानी सुनना चाहता था। इस इच्छा की पूर्त्ति में सैकड़ों असफल कहानी सुनाने वाले कैदखाने में डाल दिये गये। आखिर एक ने एसी कहानी सुनाई जिसमें 'फिर' के उत्तर में बहुत काल तक 'फिर-फिर' वही उत्तर मिलता गया, 'फिर एक चिड़िया आई और एक दाना लेकर फुर्र उड़ गई, फिर एक चिड़िया आई और एक दाना लेकर फुर्र उड़ गई।' राजा वही उत्तर सुनते-सुनते उकता गया और उसको अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी। इस कहानी में सारे कथा-साहित्य का तत्व आ गया—वह यह कि कथा सुनने में सुनने वाला एक स्वाभाविक कौतूहलवश 'आगे क्या हुआ' जानने के लिये उत्सुक रहता है किन्तु जब तक उत्तर में कुछ नवीनता न हो उसका जी ऊब जाता है और उसके कौतूहल की हत्या हो जाती है।

आजकल शिक्षित समाज ने ऐसी कहानी तो कोई नहीं बनाई जो कभी न खतम हो—'अलिफ-लैला' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' जैसे लम्बे कथानकों का भी अन्त हो जाता है—किन्तु इस प्रकार के साहित्य को इतना विस्तार दे दिया है कि अनन्तकाल तक पढ़ते चले जाओ और उसका पार न मिले। उपन्यास, आख्यायिका, कथा-कहानी सभी इस अनन्त कौतूहल की शान्ति के साधन हैं। आजकल के उपन्यास पुरानी कहानी के सन्तान-स्वरूप अवश्य हैं किन्तु सन्तान अपनी माता से कई बातों में भिन्न है, साथ-ही-साथ सन्तान में कौतूहल के वंशपरम्परागत गुण

प्राचीन और नवीन

मौजूद हैं। वर्तमान उपन्यास और कहानी पुरानी कहानी से अधिक संगठित होती है। इसमें कार्य-कारण शृङ्खला स्पष्ट रहती है। आजकल के उपन्यास में कौतूहल के साथ बुद्धि-तत्व और भाव-तत्व की भी पुष्टि होती है। आधुनिक उपन्यासों में जीवन का क्षेत्र पहले से अधिक व्यापक हो गया है और वह जानवरों तथा देवी-देवताओं में से हट कर अधिकतर मनुष्य के क्षेत्र में केन्द्रस्थ हो गया है।

व्युत्पत्ति

अंग्रेजी शब्द 'नॉविल' (Novel) में जिसका अर्थ नवीन है ऊपर की कहानी का तत्व भरा हुआ है। मराठी भाषा में अंग्रेजी शब्द के आधार पर 'नवल कथा' शब्द गढ़ लिया गया है। मराठी में उपन्यास को 'कादम्बरी' भी कहते हैं। यह एक व्यक्ति-वाचक नाम जातिवाचक बनाने का अच्छा उदाहरण है। उपन्यास शब्द प्राचीन है, कम-से-कम उस अर्थ में जिसमें उसका आज-कल व्यवहार होता है। संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों में 'उपन्यास' शब्द है। यह नाटक की संधियों का एक उपभेद है, (प्रतिमुख संधि का) इसकी दो प्रकार से व्याख्या की गई है। उपन्यासः प्रसादनम् अर्थात् प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। दूसरी व्याख्या इस प्रकार है 'उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः' अर्थात् किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। सम्भव है कि उपन्यासों में प्रसन्नता देने की शक्ति तथा युक्तियुक्त रूप में अर्थ का उपस्थित करने की प्रवृत्ति के कारण इस तरह की कथात्मक रचनाओं का नाम उपन्यास पड़ा हो। किन्तु वास्तव में नाटक साहित्य के उपन्यास शब्द और आजकल के उपन्यास में नाम का ही साम्य है। उपन्यास का शब्दार्थ है सामने रखना। अस्तु, जो कुछ भी उपन्यास शब्द का इतिहास हो, इस प्रकार का साहित्य आज-कल बहुत लोकप्रिय हो रहा है। यदि पुस्तकालयों द्वारा लोकप्रिय पुस्तकों की गणना की जावे तो उपन्यासों और कहा-नियों का स्थान ही सबसे ऊंचा निकलेगा।

कथा और आख्यायिका

प्राचीन काल में कथात्मक साहित्य की कमी न थी किन्तु गद्य में बहुत कम कथाएँ लिखी जाती थीं। उपन्यास के ढंग पर बड़ी कहानियों के तो कादम्बरी, दशकुमारचरित, वासवदत्ता आदि गिनती के ही ग्रन्थ मिलेंगे। छोटी कहानियों के बौद्ध जातक, बृहत्कथा, हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, द्वात्रिंशत पुत्त-लिका आदि कई ग्रन्थ हैं। कथा और आख्यायिका नाम पुराने हैं।

दण्डी ने कथा और आख्यायिका का भेद बतलाकर फिर उसका निराकरण कर दिया है। दण्डी ने कहा है कि—आख्यायिका वह है जो केवल नायक द्वारा कही जाय और कथा नायक के अतिरिक्त और दूसरे किसी के द्वारा भी कही जा सकती है। फिर वे यह कहते हैं कि कहने वाले के आधार पर कोई भेद करना ठीक नहीं। 'अन्योवक्ता स्वयंवेति कीदृग्वा भेदकारणम्'।

उपन्यास और नाटक

उपन्यास में कल्पना का पूरा संयम और व्यायाम रहता है। उपन्यासकार विश्वामित्र की सी भाँति सृष्टि बनाता है किन्तु ब्रह्मा की सृष्टि के नियमों से भी बँधा रहता है। उपन्यास में सुख, दुःख, प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष, आशा, अभिलाषा, महत्वाकांक्षाओं, चरित्र के उत्थान और पतन आदि जीवन के सभी दृश्यों का समावेश रहता है। उपन्यास में नाटक की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता है किन्तु नाटक के मूर्त्त साधनों के अभाव में उपन्यासकार उस कमी को शब्द-चित्रों द्वारा पूरा करता है। नाटक में पात्र कुछ शब्दों द्वारा व्यञ्जित करते हैं और कुछ भाव-भङ्गी द्वारा। दर्शक को कल्पना पर अधिक जोर नहीं देना पड़ता। देशकाल और परिस्थिति भी सीन-सीनरी द्वारा व्यक्त हो जाती है। नाटककार के इन सुभीतों के न होते हुए भी उपन्यासकार को जीवन का सजीव चित्र अङ्कित करना पड़ता है। उपन्यास एक प्रकार का जेबी-थियेटर बन जाता है। उसके लिये घर से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। घर के भीतरी भाग में और बन-उपवन सभी स्थानों में उसका आनन्द लिया जा सकता है। किन्तु उस आनन्द-दान के लिए उपन्यासकार को शब्द-चित्रों का सहारा लेना पड़ता है। उपन्यासकार को नाटककार की भाँति समय और आकार का भी प्रतिबन्ध नहीं है। उपन्यास का पाठक अपने कक्ष में या कक्ष से बाहर भी चाहे जितनी देर तक उसे पढ़ता रह सकता है। नाटक का द्रष्टा नियत समय तक ही नाटक-भवन में रह सकता है किन्तु इसी के साथ नाटक में उपन्यास की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। उपन्यास और नाटक में एक विशेष अंतर यह भी है कि उपन्यासकार अपनी कृति में समय-समय पर प्रकट होता रहता है और वह स्वयं पात्रों के चरित्र अथवा उनके कार्यों के आन्तरिक रहस्यों पर प्रकाश डालता रहता है। नाटककार ईश्वर की भाँति अपनी सृष्टि में अव्यक्त ही रहता है, वह प्रत्यक्ष रूप से स्वयं कुछ नहीं

कहता, जो कुछ उसे कहना होता है वह पात्रों द्वारा ही कहला देता है।

उपन्यास जीवन का चित्र है, प्रतिविम्ब नहीं। जीवन का प्रतिबिम्ब कभी पूरा नहीं हो सकता है। मानव-जीवन इतना पेचीदा है कि उसका प्रतिविम्ब सामने रखना प्रायः असंभव है। उसके प्रतिविम्ब उतारने के लिए जीवन-काल के बराबर ही लम्बा चित्रपट चाहिए। चलचित्रों में भी जो जीवन का चित्र खींचा जाता है उसमें चुनाव रहता है। उपन्यासकार के शब्द-चित्रों में भी चुनाव की आवश्यकता है किंतु उसके कारण तारतम्य नहीं टूटने पाता, इसी में उपन्यासकार का कौशल है। उपन्यासकार जीवन के निकट से निकट आता है किन्तु उसे भी जीवन में बहुत-कुछ छोड़ना पड़ता है किन्तु जहाँ छोड़ता है वहाँ वह अपनी तरफ से जोड़ता भी है। जितना हम उपन्यास के पात्रों को समझते हैं उतना जीवन के पात्रों को नहीं समझ पाते। जीवन के पात्र हमारे लिए अभेद्य रहस्य ही बने रहते हैं। जीवन में मानव-विचारों के जानने के लिए कोई मस्तिष्क वेधी, सूक्ष्म विचारों को प्रकाश में लाने वाली 'एक्स-किरण' नहीं है। उपन्यासकार अपनी दिव्य-दृष्टि से पात्रों के मनोविकारों और विचारों को प्रकाश में ले आता है। वास्तविक जीवन के महाराणा प्रताप या तेजसिंह के विषय में हमको इतिहास भी उतना नहीं बतलाता जितना कि उपन्यासकार अपनी कल्पना के बल से चित्रण कर देता है। मानव-समाज के चित्रण में इतिहास और उपन्यास की समानता है। इतिहास और उपन्यास दोनों ही भूत का वर्णन करते हैं किन्तु इन दोनों के दृष्टिकोण में भेद है।

प्रतिबिम्ब नहीं वरन चित्र है

हमारा बहुत-सा वास्तविक जीवन अव्यक्त रहता है। उपन्यासकार व्यक्त का बहुत-सा हिस्सा छोड़कर अव्यक्त को व्यक्त करता है। इतिहासकार व्यक्त का भी उतना ही हिस्सा लेता है, जितना कि राष्ट्र व जाति के उत्थान पतन से सम्बन्ध रखता है। इतिहासकार के लिए बाह्य घटनाएँ मुख्य हैं। आन्तरिक भावनाओं का भी वह कभी-कभी वर्णन करता है; किन्तु उतना ही जितना कि बाह्य घटनाओं से अनुमेय हो सके। उपन्यासकार पात्रों के मन का विश्लेषण ही नहीं करता, वरन् वह एक विश्वास-पात्र की भाँति पात्रों के मन का आन्तरिक रहस्य भी बतलाता है। इतिहासकार के लिए राष्ट्र मुख्य है, व्यक्ति गौण। उप-

उपन्यास और इतिहास

न्यासकार के लिए व्यक्ति ही सब-कुछ है। वह भी राजसिंह, दुर्गादास महाराणा प्रताप, संयोगिता, छत्रसाल आदि का वर्णन करता है, किन्तु वह उनके व्यक्तित्व की ओर अधिक ध्यान देता है। समाज और राष्ट्र को वह पृष्ठभूमि के रूप में ही अङ्कित करता है। इतिहासकार केवल यह लिखकर संतुष्ट हो जावेगा कि अमरसिंह, महाराणा प्रताप के साथ खाने में न बैठने से अपमानित हुआ था; किन्तु वह उस अपमान के भाव का स्वरूप नहीं खींचेगा। उपन्यासकार उसके भावों के उत्थान-पतन का पूरा चित्र खींच देगा। उसके लिए यह बात इतना महत्त्व नहीं रखती कि शिवाजी इस किले में बन्द हुए अथवा उस किले में (यह इतिहासकार का विषय है) जितना कि किले में बन्द होने पर उनके भाव और विचार। इस किले अथवा उस किले में बन्द होने से शिवाजी के व्यक्तित्व में हम अधिक अन्तर नहीं पाते। उपन्यासकार अपने पात्रों को मनुष्य के दृष्टिकोण से देखता है, इतिहासकार राष्ट्र के सम्बन्ध से देखता है, इसलिए उसका क्षेत्र इतना व्यापक नहीं होता है। उपन्यासकार के लिए गंगू तेली और राजा भोज बराबर हो जाते हैं (यदि गंगू तेली के हृदय का कोई भाव मानव-हृदय के लिए कोई विशेष महत्त्व रखता हो)।

इतिहासकार केवल खोज करता है, परिस्थिति और घटना का वर्णन करता है, उसका निर्माण नहीं करता। उपन्यासकार वैज्ञानिक की भाँति नई परिस्थितियों का निर्माण कर सामाजिक प्रयोग भी करता है। यह बात इतिहासकार के क्षेत्र से बाहर है, इसलिए कहा जाता है कि इतिहास में मौलिकता के लिए स्थान नहीं। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अपने 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक निबन्ध में कहा है कि "उपन्यास में इतिहास मिल जाने से एक विशेष रस सञ्चारित हो जाता है, उपन्यासकार एक-मात्र उसी ऐतिहासिक रस के लालची होते हैं, उसके सत्य की उन्हें कोई विशेष परवाह नहीं होती।......काव्य में जो भूलें हमें ज्ञात होंगी, इतिहास में हम उनका संशोधन कर लेंगे। किन्तु जो व्यक्ति काव्य ही पढ़ेगा और इतिहास को पढ़ने का अवसर नहीं पायेगा, वह हतभाग्य है और जो व्यक्ति केवल इतिहास को ही पढ़ेगा और काव्य के पढ़ने के लिए अवसर नहीं पायेगा, सम्भवतः उसका भाग्य और भी मन्द है।"

एक अँग्रेजी लेखक ने कहा है, "उपन्यास में नामों और तिथियों

के अतिरिक्त और सब बातें सच्ची होती हैं, इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और कोई बात सच्ची नहीं होती है" यह बात अत्युक्ति अवश्य है; किन्तु इससे उपन्यास और इतिहास की प्रवृत्ति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उपन्यास में हृदय के सत्य की अपेक्षा नाम और तिथियों को कम महत्त्व दिया जाता है। इतिहास की दृष्टि में भावों की अपेक्षा नाम और तिथियों को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है। इतिहास में एक तिथि निश्चित करने के लिए पन्ने-के-पन्ने रँगे जाते हैं; किन्तु उपन्यास में ऐसा नहीं होता। उसके दृष्टिकोण में शाश्वतता और व्यापक मानवता का अधिक मान है, इसीसे उसमें तिथियों का कम महत्त्व रह जाता है।

उपन्यास में व्यक्ति की अधिक प्रधानता के कारण वह जीवनी के अधिक निकट आता है; किन्तु जीवनीकार इतिहासकार की भाँति सत्य से अधिक बँधा रहता है, उपन्यासकार सत्य का आदर करता हुआ भी अपने आदर्शों की पूर्ति तथा कथा को अधिक रोचक या प्रभावशाली बनाने के लिए कल्पना से काम ले सकता है। वह घटना के सत्य से नहीं बँधता, वरन् संगति और सम्भावना से नियन्त्रित रहता है। इसलिए उपन्यास, जीवनी और काव्य के बीच की वस्तु है। कहीं-कहीं उसमें जीवन-सम्बन्धी मीमांसा का दार्शनिक तत्व भी आ जाता है। उसमें जीवनी का सा व्यक्तित्व का महत्त्व और सत्य का भी आग्रह रहता है किन्तु उसका सत्य का मान-दण्ड काव्य के मान-दण्ड से मिलता है। उसमें सत्य को सुन्दर और रोचक रूप में देखने की प्रवृत्ति रहती है। उपन्यास की चार सीमाएँ निर्दिष्ट की जा सकती हैं। एक ओर वह इतिहास या जीवनी की-सी-वास्तविकता का अनुकरण करता है (व्यक्तित्व के साथ) दूसरी ओर उसमें काव्य का-सा कल्पना का पुट, भावों का परिपोषण और शैली का सौन्दर्य रहता है। इसके साथ यदि एक ओर उसमें दार्शनिक की-सी जीवन-मीमांसा और तथ्योद्घाटन की प्रवृत्ति रहती है तो दूसरी ओर उसमें समाचार-पत्रों की-सी कौतूहल वृत्ति और वाचालता भी रहती है।

उपन्यास की सीमाएँ

डाक्टर श्यामसुन्दरदास की दी हुई उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार है:—*उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।* मुंशी प्रेमचन्दजी उपन्यास को मानव-चरित का चित्र कहते हैं।

परिभाषा

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।

New English dictionary की उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार है:—

'A fictions prose tale or narrative of considerable length, in which characters and actions professing to represent those of real life are portrayed in a plot'.

अर्थात् एक लम्बे आकार की काल्पनिक कथा या प्रकथन है जिस के द्वारा एक कार्य-कारण शृङ्खला में बँधे हुए कथानक में वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों और कार्यों का चित्रण किया गया हो। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि *उपन्यास कार्य-कारण शृङ्खला में बँधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदिगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक वा काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।*

उपन्यास के तत्व

उपन्यास के तत्व थोड़े-बहुत मतभेद के साथ इस प्रकार पाये जाते हैं—(१) उपन्यास-वृत्त वा कथावस्तु, (२) पात्र और चरित्र-चित्रण, (३) वार्तालाप वा कथोपकथन, (४) वातावरण, (५) विचार और उद्देश्य, (६) रस और भाव, (७) शैली।

भिन्न-भिन्न उपन्यासकार अपनी रुचि और आवश्यकताओं के अनुकूल भिन्न-भिन्न अङ्गों वा तत्वों पर अधिक बल देते हैं। वास्तव में ये तत्व एक दूसरे से मिले रहते हैं और इनका एक दूसरे से अलग करना इतना ही कठिन है जितना कि किसी सुन्दर फूल से उसका रङ्ग। आजकल के लोग कथावस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर अधिक जोर देते हैं। संस्कृत-साहित्य में नाटक के तत्व का तो अच्छा विवेचन किया गया है किन्तु कथात्मक साहित्य के अधिक न होने से इस विषय पर उन्होंने कम लिखा है। दण्डी के काव्यादर्श आदि ग्रन्थों में कथा और आख्यायिका के भेद पर थोड़ा-बहुत विचार किया गया है। उपन्यास के तत्वों के सम्बन्ध में जो विचार हिन्दी ग्रन्थों में दिया गया है वह अधिकांश अँग्रेजी ग्रन्थों के आधार पर है किन्तु आदर्शों के भेद और

रुचि-वैचित्र्य के कारण इन तत्वों के विवेचन में थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है। अब एक-एक तत्व का अलग-अलग विवेचन किया जावेगा।

कथा-वस्तु

यद्यपि आजकल इस तत्व को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है तथापि यह उपन्यास का मूल है क्योंकि आखिर उपन्यास की गणना कथात्मक साहित्य में ही की जाती है। यह ही उपन्यास की भित्ति है जिस पर मनचाहे रंगों में चित्र अङ्कित किये जा सकते हैं। चित्रों की सुन्दरता में भित्ति का विशेष प्रभाव पड़ता है। उपन्यासकार का बहुत कुछ कौशल उसके कथानक के चुनाव में है। यद्यपि वर्णन-कौशल द्वारा साधारण कथानक में भी सुन्दरता लाई जा सकती है तथापि रचना की उत्तमता अधिकांश में सामग्री की उत्तमता पर निर्भर रहती है। जो सुन्दर मूर्ति संगमरमर की गढ़ी जा सकती है वह खुरदरे कड़े पत्थर की नहीं। तुलसीदासजी की सफलता उनके चरित्र-नायक के चुनाव तथा वर्णन-कौशल में ही है। कथानक का विषय कहीं जीवन से मिलता है और कहीं इतिहास-पुराण आदि ग्रन्थों से। जीवन से लिये हुए कथानक में लेखक सहज ही में सजीवता ला सकता है। इतिहास के पात्रों में सजीवता लाने के लिये अधिक कल्पना की आवश्यकता होती है।

अच्छे कथानक के गुण

कथानक का विषय चुनकर उसका उचित विन्यास उपन्यासकार का दूसरा कार्य है। वह देखता है कि कितना लिखे और कितना न लिखे। जो रक्खा जावे उसमें किस प्रकार से क्रम और कार्य-कारण की शृङ्खला स्थापित की जावे तथा उसे पाठकों की रुचि के अनुकूल बनाया जावे। क्रम और कार्य-कारण शृङ्खला ही उपन्यास-वृत्त का मूल है। यही बात उपन्यास को 'नानी की कहानी' से पृथक् करती है। उपन्यास के पढ़ने वालों में केवल कौतूहल की ही वृत्ति नहीं होती, वरन् स्मृति और बुद्धि भी होती है। वे पूर्वापर सम्बन्ध लगाते हैं और उसकी युक्ति-मत्ता तथा सम्भावना भी देखते हैं। पाठकगण अपने भावों और विचारों की पुष्टि के लिए मानसिक खाद्य चाहते हैं, इसके अतिरिक्त वे कथानक की रोचकता की भी अपेक्षा करते हैं। अच्छे कथानक के गुण नीचे दिये जाते हैं।

(1) मौलिकता—अच्छे कथानक में मौलिकता, कौशल, संभवता, सुसंगठितता तथा रोचकता आवश्यक है। मौलिकता का प्रश्न बड़ा जटिल है। वैसे तो जितने उपन्यास हैं, उन सबके कथानक पन्द्रह-बीस मूल समस्याओं में घटाये जा सकते हैं। अधिकतर उपन्यासों में एक प्रेमी किसी को प्रेम करता है, फिर बाधाएँ उपस्थित होती हैं, कहीं पर वे बाधाएँ निरस्त करदी जाती हैं और कहीं पर इतनी बढ़ जाती हैं कि दोनों ओर नैराश्य फैल जाती है। कभी मृत्यु तक हो जाता है और कभी संन्यास, समाज-सेवा आदि का सहारा लेकर नैराश्य को भुला दिया जाता है। कहीं पर त्याग की भावना अधिक दिखाई जाती है, तो कहीं पर स्वार्थ-साधन में चातुर्य की विशेषता। कुछ उपन्यासों में डाका हत्या, चोरी आदि की खोज और कुछ में साहस के कार्य दिखलाये जाते हैं। यद्यपि आज-कल उपन्यास के विषय का क्षेत्र बहुत-कुछ विस्तृत होता जाता है और उसमें विचार तथा विश्लेषण का पर्याप्त मात्रा में समावेश हो गया है तथापि अधिकांश उपन्यासों में उपर्युक्त बातों से कोई-न-कोई बात अवश्य रहती है किन्तु इन्हीं बातों को दिखलाने के भिन्न प्रकार हैं। इन्हीं प्रकारों की भिन्नता में लेखक की मौलिकता होती है। एक ही भाव कई प्रकार से दरसाया जा सकता है, जैसे त्याग कहीं तो धन-सम्पत्ति का, कहीं सिद्धान्तों का और कहीं महत्त्वाकांक्षाओं का। उसी प्रकार प्रेमियों का प्रथम दर्शन कई प्रकार से बतलाया जाता है। कोई तो नायक-नायिका का प्रथम मिलन बालक-बालिकाओं की क्रीड़ा में, जैसे गुड़ियों का घर बनाते हुए या रेत का भाड़ बनाते हुए दिखाते हैं (जैसे शरद बाबू के 'देवदास' में), कोई लेखक नायक-नायिका को ट्रामकार में मिलाते हैं, कोई तीर्थ-यात्रा में (यथा बा० जयशङ्कर प्रसाद के 'कङ्काल' में) या दुर्घटना में (जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'नौका डूबी' में), तो कोई स्कूल या कालिज, सभा-सोसाइटी, व्याख्यान या सेवा-समिति में मिलाते हैं। ये सब प्रकार प्रत्येक देश की सभ्यता और संस्कृति के अनुकूल होते हैं। हमारे यहाँ समाज की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता में भी बालक-बालिकाओं में स्वतन्त्र प्रेम और एक दूसरे के प्रेमाकर्षण की इतनी लीला नहीं दिखाई जा सकती है जितनी कि पश्चिमी देशों के उपन्यासों में। हमारे देश की सामाजिक समस्याएँ योरोप की सामाजिक समस्याओं से भिन्न हैं। भारतवर्ष में जो सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा है वह योरोप में नहीं है। इन्हीं सामाजिक परि-

स्थितियों के अनुकूल लेखक वर्णन का नया ढंग रख सकता है। नई समस्याओं के उपस्थित होने पर नये विषय मिल जाते हैं। आजकल जैसे अछूतों का विषय नये लेखकों के लिए बड़ा उपजाऊ क्षेत्र बन गया है। वेश्याओं का उद्धार (जैसे प्रेमचन्द के 'सेवासदन' में), पूँजीपति और मजदूर (यथा मैक्सिम गोर्की के 'मदर' नामक उपन्यास में), राजा-प्रजा के सम्बन्ध (जैसे विक्टर ह्यूगो के 'ला मिज़रेबल्स' में), देश-विदेश की साहसपूर्ण यात्राएं (जैसे स्टीवेन्सन के 'ट्रेज़र आइलैन्ड' में) आदि विषय हिन्दी उपन्यासकारों की प्रतिभा को आकर्षित कर रहे हैं बहुत से वैज्ञानिक और राजनीतिक विषय भी अपनाये जा सकते हैं। योरोप में प्रेतवाद को लेकर भी बहुत से उपन्यास लिखे गये हैं—मेरी कोरेली के उपन्यास 'दी माइटी एटम' में एक घोर नास्तिक का चित्र खींचा गया है, स्टीवेन्सन के 'डा० जेकैल एण्डहाइड' में दुहरे व्यक्तित्व (Double personality) का उदाहरण उपस्थित किया गया गया है। श्री प्रतापनारायण श्री वास्तव के 'विदा' नाम के उपन्यास में एक विशेष आघात द्वारा पूर्व जन्म की स्मृति जाग्रत कराई गई है। विषय की नवीनता हो तो बहुत अच्छी बात है किन्तु वर्णन का ढंग अवश्य नवीन होना चाहिए। समीक्षक इसी मौलिकता को देखता है। प्रेम का विषय बहुत विस्तृत अवश्य है और वह जीवन की एक मुख्य समस्या भी है किन्तु उसको छोड़कर भी संसार की बहुत-सी और भी समस्याएँ हैं। प्रेम में इतनी बात की विशेषता अवश्य है कि उसका सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से है और उसमें हाथी के पैर की भांति जीवन की सब समस्याओं का समावेश होता है। जिस प्रकार मृत्यु जीवन का अन्त कर देती है उसी प्रकार विवाह जीवन की तैयारी है। सफल प्रेम में गृहस्थाश्रम की सफलता है। आजकल प्रेम का शाश्वत त्रिकोण (क ने ख को प्रेम किया और ख ने ग को तथा ग ने क को) ही उपन्यास का विषय नहीं रहा है। आजकल का जीवन बड़ा जटिल है उसकी समस्याएँ भी अनेक हैं, इसलिए मौलिकता के लिए बहुत गुंजाइश हो गई है। फ्रायड के प्रभाव से मनोविश्लेषण का बोल-बाला हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में भी हो चुका है। इसके कारण उपन्यासकार के लिए एक नई तिलस्मी कोठरी का द्वार खुल गया है। हिन्दी उपन्यासों में गांधीवाद और मार्क्सवाद के सापेक्षित महत्त्व का भी विवेचन उपस्थित किया जाने लगा है।

न दिखाये जावें तब तक वे अपनी प्रकृति के विरुद्ध काम नहीं करते। इसीलिए उपन्यासकार को लोक और शास्त्र का व्यवहारिक ज्ञान आवश्यक है। अपने यहाँ देश-विरुद्ध और काल-विरुद्ध दूषण बतलाये गये हैं, वे कथा-साहित्य पर भी लागू हो सकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में कालदूषण (anachronism) का बड़ा ध्यान रखना पड़ता है। सम्भावना के साथ औचित्य का भी पूरा ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। जाड़ों में तनजेब का कुर्ता और गर्मी में ओवरकोट (यदि वह ठंडे प्रदेश में न हो) पात्र की विक्षिप्तता और उससे बढ़कर लेखक की विक्षिप्तता का परिचय देगा।

उपन्यास में सत्य की कसौटी सम्भवता ही है। उपन्यास एक कलाकृति है। उसमें सत्य का सुन्दर रूप से प्रदर्शन किया जाता है। इस कारण उपन्यास घटनात्मक सत्य से नहीं बँधता किन्तु वह कोई ऐसी बात भी नहीं कहता जो सम्भव और घटनीय न हो। 'असम्भाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि दृश्यते' उपन्यास की काल्पनिक घटनाएँ भी वास्तविक घटनाओं की प्रतिच्छाया होती है। यही बात उपन्यास को दन्त कथाओं से पृथक करती है। परी लोक की कथाओं (Fairy tales) में सम्भावना का प्रश्न नहीं उठता है। उनमें कल्पना ही वास्तविकता होती है किन्तु उपन्यास में कल्पना वास्तविकता का अनुसरण करती है।

(१) *संगठितता*—उपन्यास एक कला-कृति है। यद्यपि जीवन का प्रवाह किसी कटे-छटे ढाँचे के अनुकूल नहीं है तथापि उपन्यास के कथानक में संगठन, क्रम और संगति का होना आवश्यक है। आजकल अँग्रेजी भाषा में कुछ उपन्यास ऐसे लिखे गये हैं कि जिनमें जीवन का ब्यौरा पूरा-पूरा दिया गया है और वे पूरे जीवन की सिनेमा-रील से बन जाते हैं किन्तु वे नियम नहीं कहे जा सकते वरन् अपवाद ही माने जायँगे। अधिक ब्यौरा देने के कारण आजकल के उपन्यास में समय का विस्तार संकुचित कर दिया जाता है अर्थात् उसका सम्बन्ध वर्षों की घटनाओं से नहीं वरन् एक या दो दिन का ही होता है (जेम्स जॉयस का 'उलीसस' नामक उपन्यास इसका उदाहरण है।)

संगठन से अभिप्राय यह है कि न तो कोई आवश्यक बात छूटे और न कोई अनावश्यक बात आये। इसके साथ यह भी वाञ्छनीय है कि घटनाएं कार्य-कारण-शृङ्खला में बँधकर क्रमागत रूप में दिखाई

दें। कार्य-कारण शृङ्खला में बँधना ही घटना-चक्र को कथावस्तु का रूप देता है। बहुत से कथानकों में दो कथाएं साथ-साथ चलती हैं अथवा अनेक घटनाओं का गुम्फन किया जाता है। कलाकार का कौशल इस बात में है कि वे सब घटनाएँ एक दूसरे के साथ कार्य-कारण शृङ्खला में बँधी हुई साथ-साथ चलें और टूटी हुई माला के दानों की भाँति विच्छिन्न न दिखाई पड़ें। इस गुण की भी आजकल उपेक्षा होने लगी है। बहुत से कथानकों में एकसूत्रता केवल इसी बात की रहती है कि वे एक ही पात्र से सम्बन्धित हैं ('अज्ञेय' जी का 'शेखर-एक जीवनी' नामक उपन्यास इसका उदाहरण है।)

संगठन के साथ ही क्रम और संगति का भी प्रश्न लगा हुआ है। हम घटनाओं को काल-क्रम अथवा स्थान क्रम में ही ले सकते हैं। क्रम, वर्णन के सौष्ठव तथा कथानक के समझने के लिए और संगति, कथा वस्तु की एकता और पात्रों के व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए आवश्यकता है किन्तु इन गुणों की सीमा के भीतर ही रहना चाहिऐ। सगठन क्रम और संगति का आधिक्य कथावस्तु की कृत्रिमता का आभास देने लगता है। कथावस्तु में जीवन की सी स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता वाञ्छनीय है किन्तु इसको उच्छृङ्खलता की सीमा तक न ले जाना चाहिए। यहाँ पर भी मध्यम मार्ग का अनुसरण करना श्रेयस्कर है।

5) *रोचकता*—रोचकता जीवन के लिए चाहे आवश्यक न हो किन्तु उपन्यास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जीवन में ऊब पैदा करने वाली वस्तुओं से कभी-कभी भाग नहीं ले सकते हैं और न हमेशा जी उबाने वाला बात-चीत को टाल सकते हैं किन्तु उपन्यास को हम बन्द करके रख सकते हैं। यदि उसकी अरोचकता की कुख्यात फैल चाय तो उसकी बिक्री भी बन्द हो सकती है। रोचकता के लिए कौतूहल और नवीनता आवश्यक है। एक बार कौतूहल यदि शान्त हो गया तो उसका दुबारा जाग्रत करना कठिन हो जाता है। पुनरुक्ति तो आजकल लोग रामनाम की भी पसन्द नहीं करते हैं फिर कथानक की बात ही क्या है। क्षण-क्षण में नवीनता प्राप्त करते रहना सौन्दर्य का व्यापक गुण है। नॉविल शब्द का ही अर्थ है नवीन। उपन्यास में रोचकता बनाये रखने के लिए उपन्यासकार को चाहिए कि वह घटनाओं को एक-दूसरे से सम्बन्धित रखता हुआ भी आकस्मिक और अप्रत्याशित को कथानक में स्थान दे। वह अप्रत्याशित ऐसा हो जो कार्य-कारण-

शृङ्खला से बाहर न होता हुआ भी पाठक की कल्पना से बाहर हो। इसलिए उपन्यासकार को अपने पात्रों का परिचय क्रमागत रूप से कराना चाहिए। उसका कौशल इस बात में है कि वह ऐसी कोई बात तो छिपाये नहीं कि जिसके कारण घटनाओं के समझने में बाधा पड़े किन्तु वह सब बात एक साथ भी न कहदे कि जिससे आगे जानने की उत्सुकता न रहे। पाठकों को जितना वह बतलावे इस ढंग से बतलावे कि उत्सुकता जाग्रत होती जाय। यद्यपि जीवन में बहुत से आकस्मिक संयोग होते हैं और ठीक अवसर पर वाञ्छित व्यक्ति कहीं-न-कहीं से आ जाता है तथापि इस बात का सहारा लेकर उपन्यासकार को हर समय ऐसे संयोग को न लाना चाहिए। उनके बाहुल्य से कृत्रिमता दिखाई देने लगती है। रोचकता के लिए न तो अधिक ब्यौरे की आवश्यकता है और न उसकी उपेक्षा की। वैचित्र्य में एकता का गुण शैली का ही प्राण नहीं है वरन् रचना मात्र का जीवन-रस है।

कथानक के रूप—उपन्यास का कथानक कई प्रकार से लिखा जा सकता है—

(१) एक द्रष्टा द्वारा कही हुई कथा के रूप में, जैसे मुन्शी प्रेमचन्द जी का 'सेवा-सदन', मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विकास',

(२) आत्मकथा के रूप में, जैसे सियारामशरण का 'अन्तिम-आकांक्षा' नामक उपन्यास।

(३) पत्रों के रूप में, जैसे उग्रजी के 'चन्द हसीनों के ख़तूत' और अनूप लाल मंडल का 'समाज की वेदी पर'।

आत्मकथा के रूप में जो उपन्यास लिखे जाते हैं उनमें उपन्यासकार को अपनी ओर से कुछ कहने की गुञ्जाइश नहीं रहती है। इसमें एक गुण अवश्य आ जाता है, वह यह कि कभी-कभी हमको उपन्यासकार की सर्वज्ञता पर जो सन्देह होने लगता है वह इसमें नहीं होता क्योंकि आत्मकथा-लेखक अपने विषय में तो सब-कुछ जानता ही है। अन्य व्यक्तियों के विषय में नायक उतना ही कहता है जितना कि साधारण मनुष्य जीवन में दूसरे व्यक्तियों के बारे में जानते हैं।

चरित्र-चित्रण

यदि उपन्यास का विषय मनुष्य है तो चरित्र-चित्रण उपन्यास का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व है क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व उसके चरित्र में

है। चरित्र के ही कारण हम एक मनुष्य को दूसरे से पृथक् करते हैं।

महत्त्व

चरित्र द्वारा ही हम मनुष्य के आपे (Personality) को प्रकाश में लाते हैं। चरित्र में मनुष्य का बाहरी आपा और भीतरी आपा दोनों ही आ जाते हैं। बाहरी आपे में मनुष्य का आकार-प्रकार, वेश-भूषा, आचार-विचार, रहन-सहन, चाल-ढाल, बात-चीत के विशेष ढंग (तकिया-कलाम, सम्बोधन, आदि) और कार्य-कलाप भी आ जाता है। भीतरी आपा इन सब बातों से अनुमेय रहता है। पात्र के भीतरी आपे का चित्रण बाहरी आपे के चित्रण से कहीं अधिक कठिन होता है। उसमें उसकी बाहरी परिस्थितियों के प्रति संवेदनशीलता, उसके राग-विराग, उसकी महत्वाकांक्षाएँ, उसके अन्ध विश्वास, पक्षपात, मानसिक संघर्ष दया, करुणा उदारता आदि मानवी गुण अथवा नृशंसता, क्रूरता, अनुदारता आदि दुर्गुण सभी बातों का चित्रण रहता है। पात्र अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ समाज में आता है। सामाजिक क्षेत्र में व्यक्ति के गुण प्रकाश में आते हैं और उनका विकास भी होता है। व्यक्ति अपने निजी गुणों और सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिफलन होता है। चरित्र-चित्रण की अच्छाई और बुराई चरित्र को जीता-जागता बनाने, उसे विशिष्टता और व्यक्तित्व प्रदान करने तथा उसका उत्थान-पतन दिखाने में है, उसकी नैतिक अच्छाई-बुराई दिखाने का विवेचन करने में नहीं। बुरे पात्र के चरित्र-चित्रण की अच्छाई उसकी बुराई के ही सफल उद्घाटन में है—'सुधा सराहिए अमरता गरल सराहिए मीचु'। उपन्यासकार जब एक बार पात्रों की सृष्टि कर लेता है तब वे अपनी चारित्रिक विशेषताओं के अनुकूल ही काम करते हैं। फिर यदि वह उनको अपनी इच्छाओं के अनुकूल चलाना चाहे तो उनकी सजीवता में अन्तर आ जायगा। सजीव पात्र कठपुतली की भाँति सूत्र-सञ्चालित नहीं हो सकते।

चरित्रों के प्रकार—चरित्रों के विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकार के होते हैं। चरित्रों में एक मुख्य भेद तो सामान्य या वर्गगत (Type) और व्यक्ति का है। जो पात्र अपनी जाति के प्रतिनिधि होते हैं वे टाइप, या सामान्य, वर्गगत या प्रतिनिधि-पात्र कहे जायँगे—जैसे गोदान के राय साहब—वे अपनी जाति अर्थात् जमीदारों के प्रतिनिधि हैं। प्रायः बड़े ज़मीदार ऐसे ही होते हैं। उन पात्रों के प्रतिरूप बहुत से मिल जाते

हैं। व्यक्तित्व-प्रधान पात्र वे होते हैं जो अपनी निजी विशेषता लिये समाज में आते हैं। वे साधारण लोगों से कुछ विलक्षण होते हैं। जैनेन्द्र के हरिप्रसन्न या सुनीता, अज्ञेय जी का शेखर इसी प्रकार के पात्र हैं। वास्तव में न कोई पात्र नितान्त सामान्य होता है और न नितान्त व्यक्तित्व-प्रधान। किसी में सामान्य गुण अधिक होते हैं और किसी में विशेष गुण। व्यक्ति को जो गुण समाज से मिलते हैं वे उसके सामान्य गुण कहे जाते हैं और जो वह अपने साथ लाता है वे विशेष। सामान्य और विशेष गुणों के सफल सम्मिश्रण में ही चरित्र-चित्रण की सफलता है। पात्र में न तो इतनी सामान्यता होनी चाहिए कि उसमें जीवन ही न रहे और न उतनी विशेषता कि वह सनकी बन जाय। यदि सनकी पात्र का ही चित्रण करना हो तो दूसरी बात है किन्तु सनकी पात्र एक ही हो सकता है। दुनिया में सब सनकी नहीं होते।

चरित्रों का दूसरा विभाजन स्थिर और गतिशील या परिवर्तनशील का है। स्थिर चरित्रों में बहुत कम परिवर्तन होता है और गतिशील चरित्रों में उत्थान और पतन अथवा पतन और उत्थान दोनों ही बातें होती हैं। सुनीता, हरिप्रसन्न, होरी ये सब स्थिर पात्र हैं किन्तु 'सेवा-सदन' की सुमन और सदन अथवा 'ग़बन' की जालपा और उसका पति रामनाथ गतिशील हैं। इनका पतन भी होता है और उत्थान भी।

चित्रण की विधियाँ

उपन्यासकार कई प्रकार से चरित्र-चित्रण कर सकता है, स्वयं अपनी ओर से पात्र का वर्णन करके अथवा पात्रों के भाषण वा क्रिया-कलाप द्वारा। इन सभी विधियों द्वारा हम पात्रों का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ उपन्यासकार स्वयं चरित्र पर प्रकाश डालता है, उस विधि को विश्लेषात्मक (Analytical) कहते हैं और जहाँ वह स्वयं नहीं करता है वरन् पात्रों द्वारा अथवा उसके वार्तालाप या क्रिया-कलाप से कराया जाता है उसे नाटकीय या अभिनयात्मक (Dramatic) कहते हैं।

नाटकों में चरित्र-चित्रण दूसरे ही प्रकार का होता है। उनमें नाटक-कार का व्यक्तित्व प्रकाश में नहीं आता है। वह अपनी ओर से कुछ नहीं कहता है वरन् जो कुछ उसे कहना होता है वह पात्रों द्वारा ही कहलाता है। कभी-कभी पात्र अपने चरित्र का स्वयं भी विश्लेषण कर देता है। यह भी नाटकीय विधि कहलायगी। आजकल नाटकीय

विधि का ही अधिक प्रचलन है। इस प्रकार के चित्रण में पात्रों के चरित्र के समझने और मूल्याङ्कन करने में पाठक की स्वतन्त्रता रहती है। नाटककार न तो सर्वज्ञ बनता है और न वह पाठकों पर अपना मत लादना चाहता है। उसके पात्र भी स्वतन्त्र रहते हैं और पाठक भी। विश्लेषात्मक पद्धति कभी-कभी गुत्थियाँ सुलझाने में सहायक होती है किन्तु उसकी अतिशयता अच्छी नहीं। उपन्यासकार को बार-बार बीच में आजाने से एक तो कथा-प्रवाह में बाधा पड़ती है और दूसरे पाठक भी कथा का आस्वाद स्वयं चर्वण करके नहीं ले पाते हैं। उनकी पाचन-शक्ति इतनी दुर्बल नहीं होती है कि उनको पूर्व-पाचित खाद्य मिले। जिस प्रकार मनुष्य अपने साथियों का परिचय रहन-सहन से ही प्राप्त करना चाहते हैं वैसे ही उपन्यास-जगत के पात्रों का भी परिचय उनके क्रिया-कलाप और वार्तालाप द्वारा ही प्राप्त करना चाहते हैं। चरित्र-चित्रण में वार्तालाप के साधन को सावधानी से काम में लाना चाहिए। वार्तालाप और कार्य ऐसे ही होना चाहिए जिनमें चरित्र की कुञ्जी निहित हो।

विश्लेषात्मक विधि का उदाहरण—गोदान में मुन्शी प्रेमचन्द जी मिस्टर खन्ना और मिर्जा खुर्शेद के चरित्र के सम्बन्ध में अपनी राय इस प्रकार जाहिर करते हैं :—

'मिस्टर खन्ना भी साहसी आदमी थे, संग्राम में आगे बढ़ने वाले दो बार जेल हो आये थे। किसी से दबना न जानते थे। खद्दर पहनते थे और फ्रांस की शराब पीते थे। अवसर पड़ने पर बड़ी-बड़ी तकलीफें झेल सकते थे ...... मगर रण क्षेत्र में जाने वाला रथ भी तो बिना तेल के नहीं चल सकता। उनके जीवन में थोड़ी रसिकता लाजिमी थी।'

'मिर्जा खुर्शेद के लिए भूत और भविष्य सादे कागज की भाँति थे। वह वर्तमान में रहते थे। न भूत का पछताना था न भविष्य की चिन्ता। जो कुछ सामने आ जाता था उसमें जी-जान से लग जाते थे। मित्रों की मण्डली में वह विनोद के पुतले थे। कौंसिल में उनसे ज्यादह उत्साही मेम्बर कोई न था ······गुस्सेवर भी ऐसे थे कि ताल ठोककर सामने आ जाते थे। नम्रता के सामने दण्डवत् करते थे, लेकिन जहाँ किसी ने शान दिखाई और वह हाथ धोकर उसके पीछे पड़े। न अपना लेना याद रखते थे न दूसरों का देना। शौक था शायरी और शराब का······।'

मिर्जा साहब के बाहरी, आपे, आकार-प्रकार और रहन-सहन का

इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

'मिर्ज़ा खुर्शेद गोरे-चिट्टे आदमी थे, भूरी-भूरी मूँछें, नीली आँखें, दुहरी देह, चाँद के बाल सफाचट। छकलिया अचकन और चूड़ीदार पाजामा पहनते थे। ऊपर से हैट लगा लेते थे। वोटिङ्ग के समय चौंक पड़ते थे और नेशनलिस्टों की तरह से वोट देते थे। सूफी मुसलमान थे। दो बार हज कर आये थे, लेकिन शराब खूब पीते थे।'

नाटकीय विधि का उदाहरण—इस प्रकार के चित्रण में दो प्रकार के उदाहरण मिलते हैं, पहले वे जिनमें कि पात्र स्वयं अपने चरित्र का परिचय दे देता है और दूसरे वे जिनमें दूसरे पात्र किसी के विषय में अपना मत प्रकट कर उसका चरित्र-चित्रण करते हैं, दोनों ही प्रकार के उदाहरण 'गोदान' से यहाँ पर दिये जाते हैं।

(१) रायसाहब अपने बारे में कहते हैं :—

'मेरी ओर देखो, मैं उस रसिक-समाज से बिलकुल बाहर हूँ मिस्टर खन्ना। सच कहता हूँ! मुझ में जितनी बुद्धि, जितना बल है, वह इस इलाके के प्रबन्ध में ही खर्च हो जाता है। मेरे सारे भाई शराब-कबाब में मस्त थे। मैं अपने को रोक न सका। जेल गया और लाखों रुपये की जेरबारी उठाई, और अभी तक उसका तावान दे रहा हूँ। मुझे उसका पछतावा नहीं है, बिलकुल नहीं। मुझे उसका गर्व है। मैं उस आदमी को आदमी नहीं समझता जो देश और समाज की भलाई के लिये उद्योग न करे, और बलिदान न करे। मुझे क्या यह अच्छा लगता है कि निर्जीव किसानों का खून चूँस और अपने परिचय वालों की वासनाओं की तृप्ति के साधन जुटाऊँ मगर करूँ क्या? जिस व्यवस्था में पला और जिया, उससे घृणा होने पर भी उसका मोह त्याग नहीं सकता।'

(२) मेहता जी के चरित्र का कुछ आभास हमको राय साहब और खन्ना जी के इस वार्तालाप से मिलता है:—

बोले—'यह मेहता कुछ अजीब आदमी है, मुझे तो कुछ बना हुआ सा मालूम होता है।'

बोले—'मैं तो उन्हें केवल मनोरञ्जन की वस्तु समझता हूँ। कभी उनसे बहस नहीं करता और करना भी चाहूँ तो इतनी विद्या कहाँ से लाऊँ? जिसने जीवन के क्षेत्र में कभी कदम भी नहीं रक्खा वह अगर जीवन के विषय में कोई नया सिद्धान्त अलापता है, तो मुझे उस पर हँसी आती है।'

'मैंने सुना है चरित्र का अच्छा नहीं है।'

'बेफिक्री में चरित्र अच्छा रह ही कैसे सकता है। समाज में रहो और समाज के कर्त्तव्यों और मर्यादाओं का पालन करो तब पता चले।'

कथावस्तु और पात्रों में किसी एक को महत्ता दी जाय या दोनों को एक दूसरे के ऊपर आश्रित रक्खा जाय, यह उपन्यासकार के लिए महत्त्व का प्रश्न है। कथावस्तु का यदि पहले से निर्माण कर लिया जाता है तो उसमें पात्र स्वतन्त्र नहीं रहते हैं और यदि केवल पात्रों पर ही कथा का विकास छोड़ दिया जाता है तो उसमें सङ्गठन और अन्वित का अभाव हो जाता है। इसमें एक दार्शनिक प्रश्न भी लगा हुआ है, वह यह कि सृष्टि का विकास हम पूर्व निर्धारित मानते हैं अथवा स्वतन्त्र ? जो लोग कथावस्तु को मुख्यता देते हैं वे उन लोगों की भाँति हैं जो सृष्टि के विकास को पूर्व-निर्धारित मानते हैं और जो लोग पात्रों को महत्ता देते हैं वे उन लोगों की भाँति हैं जो सृष्टि के व्यक्तियों में संकल्प की स्वतन्त्रता मानते हैं। सृष्टि-क्रम को पूर्व निर्धारित मानने से व्यक्ति अन्यथा करने में असमर्थ हो जाता है। पूर्व निर्धारित क्रम के अनुकूल कथा को चलाने में एक दोष यह भी आ जाता है कि कभी-कभी पात्रों को अपनी प्रकृति के प्रतिकूल कार्य करने पड़ते हैं। अँग्रेजी लेखकों तथा हिन्दी लेखकों ने भी उपन्यास के पात्रों द्वारा उपन्यास-कार के प्रति विद्रोह कराया है। इस सम्बन्ध में श्री नगेन्द्रजी की 'विचार और अनुभूति' नामक नवीन कृति में 'वाणी के न्याय-मंदिर' शीर्षक वार्तालाप में 'प्रेमाश्रम' के एक पात्र ज्ञानशंकर द्वारा वीणा-प्रस्तुतधारिणी भगवती शारदा के न्याय-मन्दिर में प्रेमचन्द के प्रति कई अभियोग लगवाये गये हैं। उसका कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है:—

कथावस्तु और पात्र

'उनका उद्देश्य यही रहा है कि स्वाभाविक या अस्वाभाविक रीति से मुझको नीचा दिखाया जाय। इसके लिये वे बराबर मेरे चरित्र की कालिमा को खूब गहरे रङ्ग में लोगों के सम्मुख रखते हैं। ऐसा करते हुये उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता है कि इस प्रकार वे प्रायः परस्पर विरोधी बातें कर रहे हैं। इसीलिये मेरे चरित्र-चित्रण में विरोधी तत्वों का अस्वाभाविक मिश्रण है।"

'मेरा अन्तिम और सबसे बड़ा अभियोग यह है कि उन्होंने मुझे बरबस आत्म-हत्या के घृणित अभिशाप का भागी बनाया जो मेरे प्राणवान् व्यक्तित्व के सर्वथा प्रतिकूल है। मेरे हृदय में जीवन के प्रति असीम अनुराग है।

जीवन के उपयोग के लिये मेरे मन में सदैव अदम्य उत्साह रहा है। मैंने एक पुरुषार्थी की भाँति जीवन की विषमताओं को पदाक्रान्त किया है। जीवन में एक बार भी मैंने उनके सम्मुख मस्तक नहीं झुकाया। बस इसीलिये मेरे जन्मदाता ने मुझे जाकर गङ्गा में डुबो दिया क्योंकि मैं उनकी इच्छाओं का दास नहीं बन सका।'

ज्ञानशङ्कर की शिकायतों का सारांश यह है कि उसको प्रेमचन्दजी की गान्धीवादी नीति का शिकार बनना पड़ा है। 'प्रेमाश्रम' के तथा-कथिक नायक प्रेमशङ्कर के व्यक्तित्व को जो गांधीवादी आदर्श त्याग और अहिंसा का निर्जीव प्रतीक मात्र है, ऊँचा दिखाने के लिये ज्ञानङ्ककर के व्यक्तित्व को काला कर दिया गया है। ज्ञानशङ्कर के अभियोगों द्वारा हमको चरित्र-चित्रण सम्बन्धी कई तथ्य मिलते हैं। उपन्यासकार को किसी पात्र विशेष के प्रति अनुचित मोह न दिखाना चाहिए, कम-से-कम इतना तो नहीं कि वह दूसरों के साथ अन्याय कर बैठे।

वास्तव में कथावस्तु को उपन्यासकार नहीं वरन् पात्र बनाते हैं। पात्रों को उपन्यासकार जन्म देता है। उपन्यासकार कथावस्तु द्वारा उन परिस्थितियों को उत्पन्न कर देता है जिनसे कि चरित्र प्रकाश में आये। परिस्थितियाँ भी आसमान से नहीं उतरतीं वरन् वे भी पात्रों के क्रिया-कलाप से उपस्थित होती हैं। अच्छे उपन्यास में कथानक की परिस्थितियों और पात्रों के व्यक्तित्व में आदान-प्रदान रहता है। वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। विकासशील पात्र परिस्थितियों से अधिक प्रभावित होते हैं। स्थिर पात्र जहाँ के तहाँ बने रहते हैं। उपन्यासकार को चाहिए कि पात्रों की प्रकृति के अनुकूल उनको अपनी निजी प्रेरणाओं के अनुसार चलने दें। उनके व्यक्तित्व को कथानक के पूर्वनिर्दिष्ट फल के लिए नष्ट कर देना व्यक्तियों के साथ अन्याय होगा। उनके चरित्र से जैसा कार्य विकसित हो सके उनसे वैसा ही काम लेना चाहिए। उपन्यासकार चाहे जो कुछ हो किन्तु उसे इस बात को न भूलना चाहिए कि दुनिया में सब एक ही टाइप के लोग नहीं होते हैं।

चरित्र-चित्रण में संगति भी होना आवश्यक है। चरित्र को बिना कारण बदलना उचित नहीं है उसका परिवर्तन उपन्यासकार की इच्छा पर न निर्भर रह कर परिस्थितियों पर निर्भर रहना वाञ्छनी

य है। चरित्र को स्वयं अपने से सङ्गत रहना चाहिए और परिस्थितियों और घटनाओं से भी। 'गबन' की घटनाएँ रमा के चरित्र के ही फलस्वरूप उपस्थित हुई हैं। यद्यपि चरित्र जितना संकुल और पेचीदा होगा उतनी ही उसमें सङ्गति कम होगी तथापि संगति के नियम की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। असङ्गति में भी एक प्रकार की सङ्गति रह सकती है।

अन्य आवश्यक गुण

चरित्र-चित्रण के गुणों में संगति के साथ सजीवता और स्वाभाविकता भी आवश्यक है। संगति इस सीमा तक न हो कि पात्र बिलकुल मशीन बन जाय। उसके कार्यों की विविधता होना ही उसमें ऊब पैदा करने से सुरक्षित रक्खेगा किन्तु जो कार्य हों वे चरित्र और परिस्थितियों के अनुकूल हों, इसी को स्वाभाविकता कहते हैं।

'गोदान' में मेहता का खान बनना कुछ अस्वाभाविक सा है। यद्यपि खान का दृश्य बड़ा सजीव है तथापि वह सजीवता उस पात्र के स्वभाव के कुछ विरुद्ध पड़ती है। फिर यह भी नहीं समझ में आता कि रोज के बैठने वाले आदमी की आवाज भी नहीं पहचानी गई।

कथोपकथन

कथोपकथन का सम्बन्ध कथावस्तु तथा पात्र दोनों से ही है। वार्तालाप प्रायः पात्रों के व्यक्तित्व के उद्घाटन और कथा-क्रम के विकास के लिए होता है। वार्तालाप में भी चुनाव की आवश्यकता है। जो वार्तालाप कथानक को अग्रसर नहीं करता या चरित्र पर प्रकाश नहीं डालता वह चाहे जितना सजीव हो, उपयुक्त न होगा।

आवश्यक गुण

कथोपकथन परिस्थिति और पात्र के बौद्धिक विकास के अनुकूल होनी चाहिए। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के कथोपकथन पात्रानुकूल हैं, यहाँ तक कि यह गुण कहीं-कहीं दोष भी हो गया है और इस पर बख्शी जी जैसे आलोचक ने आपत्ति भी उठाई है कि यदि कोई पात्र चीनी हो तो क्या मुन्शी प्रेमचन्द जी चीनी में बुलवायेंगे। वास्तव में भाषा का बदलना एक निश्चित सीमा के भीतर होता है। एक ही भाषा के भीतर बोलने वालों के बौद्धिक विकास के अनुकूल भी कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। मुन्शी प्रेमचन्द जी के पुलिस के पात्रों की उर्दू

भी हिन्दी का ही रूप है। कुछ स्थलों में वह अवश्य दुरुह हो गई है। इसके विपरीत प्रसादजी के पात्रों की भाषा एक रस रहती है। 'कंकाल' के सभी पात्र संस्कृत-गर्भित भाषा बोलते हैं। वह उन पात्रों की भाषा नहीं है वरन् प्रसाद जी की भाषा है।

कथोपकथन की भाषा ही पात्रानुकूल नहीं होनी होनी चाहिए वरन उसका विषय भी पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना वाञ्छनीय है। लेखक कभी-कभी अपने निजी सिद्धान्तों के उद्घाटन और गूढ़ और विशेष ज्ञान के प्रदर्शन का मोह संवरण नहीं कर सकते हैं। उन सिद्धान्तों के उद्घाटन के लिए वैसे ही पात्रों की सृष्टि होनी चाहिए

पात्रानुकूल वैचित्र्य के साथ ही उसमें स्वाभाविकता, सार्थकता, सजीवता और लाघव (संक्षिप्तता) के गुण होना वाञ्छनीय है।

वातावरण

कथानक को वास्तविकता का अभास देने के साधानों में वातावरण मुख्य है। कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्र की भाँति देश-काल के बन्धन में रहते हैं। यदि वे भगवान की भाँति देश-काल के बन्धनों से परे हों तो वे भी हम लोगों के लिए अभेद्य रहस्य बन जायँगे, इसलिए देश-काल का भी वर्णन आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार बिना अँगूठी के नगीना शोभा नहीं देता उसी प्रकार बिना देश काल के पात्रों का व्यक्तित्व भी स्पष्ट नहीं होता है और घटना-क्रम के समझने के लिए भी इसकी आवश्यकता होती है। आज-कल बढ़ते हुए वस्तुवाद के समय में देश-काल का महत्त्व और भी बढ़ गया है। लेकिन देश-काल में वास्तविकता लाने के लिए स्थानीय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। कलकत्ते की सड़कों का हम बिना कलकत्ता देखे वर्णन नहीं कर सकते। ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल का वर्णन विशेष रूप से आवश्यक होता है और प्राचीनकाल को जैसा-का-तैसा अवतरित कर देना इतिहास और पुरातत्व के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़कुण्डार' में बुन्देलखण्ड का चित्रण वहाँ के इतिहास से सम्बन्धित होने के कारण पठनीय है। कुछ स्थान विशेष रूप से वीरता के उद्दीपक हैं तो कुछ भयानक के। घटनाओं के उपस्थित होने पर स्थल का विशेष महत्त्व रहता है। स्टीविन्सन ने लिखा है कि 'कुछ अन्धकारमय उपवन

आवश्यकता

हत्या का आवाहन करते प्रतीत होते हैं, कुछ पुराने मकान भूत-प्रेतों के अस्तित्व की माँग करते हैं और कुछ भयानक समुद्रतट जहाजों के टकराने के लिए पहले से ही निर्धारित कर दिये गये हैं (Certain dark gardens cry aloud for murder, Certain old houses demend to be haunted, Certain Coasts are set apart for ship-wrecks.) जो वस्तु जहाँ की उपज नहीं उसका वहाँ दिखाना अथवा जो प्रथा जिस काल में प्रचलित न थी उसका उस काल में चित्रित करना भारतीय समीक्षा-शास्त्र में क्रमशः देश और काल-विरुद्ध दूषण माने गये हैं। आगरा की सड़कों पर देवदारु के वृक्षों को दिखाना अथवा शिमला में लू चलने का वर्णन करना देश-विरुद्ध दूषण होगा और अकबर के समय में उनके किसी मुसाहिब को टाई सम्हालते हुए दिखाना काल-विरुद्ध दूषण होगा। श्री किशोरीलाल गोस्वामीजी के उपन्यासों के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी ने ऐतिहासिक ज्ञान की कमी दिखाते हुए लिखा है :—

'गोस्वामीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न-भिन्न समयों की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन और संस्कृति के स्वरूप का अनुसन्धान नहीं सूचित होता। कहीं-कहीं तो काल-दोष तुरन्त ध्यान में आ जाते हैं—जैसे वहाँ-जहाँ अकबर के सामने हुक्के या पेचवान रखे जाने की बात कही गई है।'

देश-काल के चित्रण में सदा इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कथानक के स्पष्टीकरण का साधन ही रहे, स्वयं साध्य न बन जाय। जहाँ देश-काल का वर्णन अनुपात से बढ़ जाता है वहाँ उससे जी ऊबने लगता है लोग जल्दी-जल्दी पन्ने पलटकर कथा-सूत्र को ढूँढ़ने लग जाते हैं। देश-काल का वर्णन कथानक को स्पष्टता देने के लिए होना चाहिए न कि उसकी गति में बाधा डालने के लिए।

देश-काल वातावरण का बाहरी रूप है। वातावरण मानसिक भी हो सकता है। आदमी जिस प्रकार के समाज में रहता है वैसा ही वह काम करने लग जाता है। प्राकृतिक चित्रण भी उद्दीपन रूप से पात्रों को मानसिक स्थिति या मूड (Mood) को निश्चित करने में सहायक होते हैं। प्रकृति और पात्रों की मानसिक स्थिति का सामञ्जस्य पाठक पर अच्छा प्रभाव डालता है और उपन्यास में काव्यत्व भी ले आता है, जैसे किसी के मरते समय दीपक का बुझ जाना, सूर्य का

अस्त हो जाना अथवा घड़ी का बन्द हो जाना वातावरण में अनुकूलता उत्पन्न कर शब्दों को एक विशेष शक्ति प्रदान कर देता है इस सम्बन्ध में मुन्शी प्रेमचन्द जी की 'निर्मला' से यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है :—

'उसी समय जब पशु-पक्षी अपने-अपने बसेरे को लौट रहे थे, निर्मला का प्राण-पक्षी भी दिनभर शिकारियों के निशानों, शिकारी चिड़ियों के पञ्जों और वायु के प्रचण्ड झोंकों से आहत और व्यथित अपने बसेरे की ओर उड़ गया।'

जिस प्रकार अनुकूलता प्रभाव को बढ़ाती है उसी प्रकार कभी-कभी प्रतिकूलता भी प्रभाव को तीव्रता प्रदान करती है, जैसे 'इधर सूर्य का उदय हो रहा था उधर उसकी जीवन-प्रभा विलीन हो रही थी।' किन्तु आजकल इन साधनों से कम काम लिया जाता है। उपन्यासकार अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण उपस्थित कर देता है, अपनी ओर से कुछ कहता नहीं।

विचार और उद्देश्य

उपन्यास कहानी मात्र नहीं है, उसमें पात्रों के भाव और विचार भी रहते हैं। उपन्यास के पात्रों के विचार लेखक के ही विचारों की प्रतिध्वनि होते हैं। लेखक का जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण होता है, उसी दृष्टिकोण से वह जीवन की व्याख्या करता है और उसी के अनुकूल उसके विचार होते हैं। उपन्यास में बिखरे हुए विचारों में भी एक विशेष अन्विति रहती है। विचारों के विभिन्न पक्ष दिखाये जाते हैं किन्तु उनमें मुख्यता उन विचारों की ही होती है जो लेखक के दृष्टिकोण के अनुकूल होते हैं। कभी-कभी लेखक का उद्देश्य जानना कठिन हो जाता है। विचारों में प्रायः लेखक और नायक का तादात्म्य होता है। यह बात नाटक और महाकाव्य में भी होती है। रामायण में जितने विचार आये हैं वे सब तुलसीदास के सिर नहीं मढ़े जा सकते (ढोल, गँवार, शूद्र, पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी) यह समुद्र के दीनता में कहे हुए वचन हैं, गोस्वामी जी के सिद्धान्त-वचन नहीं हैं। किन्तु रामचन्द्र जी अथवा वशिष्ठ जी द्वारा कही हुई बातों के साथ हम गोस्वामी का तादात्म्य कर सकते हैं। उपन्यास के पात्रों के चरित्र-चित्रण की भाँति उद्देश्य-निरूपण के भी दो प्रकार हो सकते हैं।

एक सीधा या विश्लेषात्मक जिसमें कि लेखक अपने दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या स्वयं करता है और दूसरा परोक्ष सव्यवधान या नाटकीय जिसमें वह जीवन की झाँकी मात्र ही देता है। उसके कुछ विचार तो पात्रों द्वारा व्यक्त किये जाते हैं और कुछ जीवन-सम्बन्धी घटनाओं के प्रस्थापन में तथा कथा के परिणाम में व्यञ्जित रहते हैं। उपन्यास केवल मनोरञ्जन की वस्तु नहीं है वरन् उसके द्वारा मनुष्य के जीवन-विज्ञान के तथ्यों को समझने का प्रयत्न किया जाता है। जीवन के ये तथ्य सूक्ति रूप से यत्र-तत्र बिखरे रह सकते हैं। (प्रेम केवल हृदयों को मिलाता है, देह पर उसका कोई वश नहीं'—प्रेमाश्रम। 'अनुराग स्फूर्ति का भण्डार है'—गबन। कायरता भी वीरता की भाँति संक्रामक होती है'—कर्मभूमि। 'निराशा में प्रतीक्षा अन्धे की लाठी है') ऐसी सूक्तियाँ मुन्शीजी के सभी उपन्यासों में बिखरी पड़ी हैं। गोदान में भी इस प्रकार की सूक्तियाँ प्राचुर्य के साथ मिलती हैं—डरपोक प्राणियों में सत्य भी गूंगा हो जाता है।' 'रूप अपमान नहीं सह सकता।' 'परीक्षा गुणों को अवगुण, सुन्दर को असुन्दर बनाने वाली चीज है, प्रेम अवगुणों को गुण बनाता है और असुन्दर को सुन्दर।' कभी-कभी ये तथ्य व्यक्त न होकर कथानक में व्यञ्जित ही रहते हैं।

उपन्यास में ऐसे जीवन-सम्बन्धी तथ्यों का रहना नितान्त अनिवार्य तो नहीं है (क्योंकि आजकल बहुत-से उपन्यासकार किसी नीति का उद्घाटन न कर मनुष्य का विश्लेषण मात्र करते हैं। इस विश्लेषण में नीतिकार के लिए सामग्री अवश्य रहती है) किन्तु लोग प्रायः यह चाहते हैं कि उनको कुछ स्थायी विचार मिलें। इन विचारों के प्रकाशन में उपन्यासकार को बड़े कौशल से काम लेना पड़ता है। कथाकार का पदत्याग कर उपन्यासकार जब स्वयं कुछ कह सकने के विशेषाधिकार का दुरुपयोग करने लगता है और वह उपदेशक का पद ग्रहण कर लेता है तभी वह आलोचना का विषय बन जाता है। आचार्य शुक्ल जी ने प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में यही आक्षेप किया है कि वे उपन्यासकार से उपदेशक बन जाते हैं। उपन्यास के कथानक चौखटे में जड़ा हुआ निबन्ध या व्याख्यान उपन्यास नहीं बन जायगा, वह निबन्ध या व्याख्यान ही रहेगा। यद्यपि अब लोग उपन्यासों को विचार-धारा के प्रकाशन का माध्यम बनाते जाते हैं (जैसे यशपाल, नरोत्तम नागर, अञ्चल, राहुल साँकृत्यायन आदि लेखक उपन्यासों द्वारा गांधीवादी विचार-

धारा के विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं) तथापि उपन्यास में विचार और उपदेश एक सीमा के भीतर ही समाविष्ट हो सकते हैं। जिस प्रकार प्रगीति-काव्य में कथानक एक सीमा के भीतर ही रहता है उसी प्रकार उपन्यास के कथानक में विचार और भाव की मात्रा एक मर्यादा के भीतर रहनी चाहिए। लोग इस सिद्धान्त का अतिक्रमण करें तो उनका उत्तरदायित्व है। प्रसाद जी ने 'कंकाल' में अपने पात्रों द्वारा गम्भीर ऐतिहासिक समस्याओं पर विचार कराकर अपने इतिहास-प्रेम का अवश्य परिचय दिया है किन्तु उन पात्रों पर भारी बोझ लद गया है। उपन्यासकार का काम 'थीसिस' लिखना नहीं है किन्तु वह अपने विचारों के प्रवाह से बच भी नहीं सकता। इसमें उसको औचित्य और मर्यादा का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

हम लोग उद्देश्य के साथ निरुद्देश्यता को भी महत्त्व देते हैं किन्तु तभी जब उसमें शैली का महत्त्व हो या बीच-बीच में कुछ व्यङ्ग्य हों, केवल कौतूहल की तृप्ति या मनोरञ्जन खोखलापन है। उद्देश्य के सम्बन्ध में मुन्शी प्रेमचन्द जी इस प्रकार लिखते हैं—

'हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे ! कला के लिये कला का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों से जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है उधर दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखलाई देते हैं, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनाई देता है तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।'

उपन्यासकार को इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि उसके विचार परोक्ष रूप से ही व्यञ्जित हों जिससे कि उपन्यास की स्वाभाविकता में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े। ऐसा करने से उसका उपन्यास नीरस हो जायगा। उपन्यासकार को जीवन-मीमांसा करते हुए या नीति का प्रचार करते हुए यह न भूलना चाहिये कि वह कलाकार है और कला का उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि है। वह सत्य और शिव का उपासक अवश्य है किन्तु उसकी उपासना सुन्दर के रूप में करता है। धार्मिक या नीतिकार अप्रिय सत्य भी कह सकता है किन्तु कलाकार सदा 'सत्यं' ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात् का ध्यान रखता है। कलाकार का

उपदेश कान्ता का सा मधुर तथा प्रेम पूर्ण होता है। जो लोग यह कहते हैं कि उपन्यास में नीति की आवश्यकता नहीं, यदि हमको नीति की चाह है तो कोई नीति ग्रन्थ ही क्यों न पढ़े उनको यह ध्यान रखना चहिए की नीति ग्रन्थ में कोरी नीति रहती है और उपन्यास में काव्य ग्रन्थों की भाँति वह नीति रस के मधुरावेष्टन द्वारा शर्करावेष्टित कुनीन की गोलियों की भाँति ग्राह्य बनादी जाती हैं।

सामायिक और शाश्वत समस्याएँ

उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह है कि उपन्यासकार सामायिक समस्याओं (मिल-मालिक और मजदूर अछूतोद्धार, दहेज-प्रथा, ग्राम-सुधार आदि) का ही उद्घाटन करे अथवा शाश्वत समस्याओं (पति-पत्नी सम्बन्ध, सन्तान अथवा दाम्पत्य और वात्सल्य का संघर्ष (जैसा कि टाल्स्टाय के 'आना कार्नीना' नाम के उपन्यास में है) को ही अपनावे। कुछ समीक्षकों का ऐसा विचार है कि उपन्यासों में सामायिक समस्याओं को न रखना चाहिए क्योंकि उन समस्याओं के समाप्त हो जाने पर उनके सम्बन्ध में में लोक-रुचि भी समाप्त हो जाती है। गुलामी-प्रथा अब उठ जाने से 'अन्किल टॉम्स केबिन' जिसका हिन्दी अनुवाद 'टाम काका की कुटिया' के नाम से हुआ है अब कम पढ़ी जाती है इसी प्रकार 'दहेज-प्रथा' सम्बन्धी उपन्यासों का भी चलन कम हो रहा है। इस सम्बन्ध में हमारा यह मत है कि सामयिक समस्याएँ भी शाश्वत समस्याओं के बदलते हुए रूप हैं। अछूतोद्धार, विधवा-विवाह अथवा दहेज-प्रथा आदि का विवेचन व्यापक मानवता का ही रूप है। उपन्यासकार को यह उचित नहीं है कि वह केवल इसलिये कि सामायिक समस्याओं में लोक-रुचि चिर-स्थायी नहीं होती है समाज को अपनी सेवाओं से वञ्चित रखे। उसको चाहिये कि सामयिक समस्याओं को चिरन्तन और शाश्वत से सम्बन्धित करदे।

आजकल पाठक गण उपन्यासकार से यह आशा रखते हैं कि वह न केवल समस्याओं का उद्घाटन ही करे वरन् उनकी तह में बैठ कर सामाजिक रोगों का निदान कर उसके शमन का मार्ग भी निर्दिष्ट करे। यह सर्वथा सम्भव नहीं है कि उपन्यासकार समस्याओं का हल भी दे सके। बहुत से हल जो उपस्थित किये जाते हैं वे केवल आदर्शवाद से सम्बन्ध रखते हैं (जैसे सेवासदन में) उनमें वास्तविक जीवन की

कठिनाइयों का ध्यान नहीं रखा जाता। कठिनाइयों को स्वीकार करते हुए उनका उद्‌घाटन कर देना भी लोगों को उनके हल में सहायता देना है। कठिनाइयों का सहानुभूतिपूर्ण ज्ञान उनके शमन की ओर अग्रसर होना है। मुंशी प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' में किसानों की समस्या का कोई हल नहीं बतलाया है किन्तु उनके प्रति सहानुभूति उत्पन्न करदी है। उन्होंने झोंपड़ियों में रहने वालों को महलों के स्वप्न दिखाये हैं।

उपन्यासकार के लिये यह समस्या बड़ी ही कठिन है कि वह जीवन की व्याख्या के लिये जीवन की बिल्कुल प्रतिलिपि करदे अथवा उसका कुछ सुधरा हुआ रूप दे। जीवन के ज्यों-के-त्यों अर्थात् बिना कल्पना का रङ्ग चढ़ाये हुए यथातथ्य चित्रण को यथार्थवाद कहते हैं और अपनी कल्पना के आधार पर उसका सुधारा हुआ रूप उपस्थित करने को आदर्शवाद कहते हैं।

यथार्थ और आदर्श

यथार्थवाद और आदर्शवाद की कई श्रेणियाँ हैं और इन वादों का दुरुपयोग भी पर्याप्त होता है यथार्थवाद की अच्छाई-बुराई उसकी मात्रा तथा लेखक के उद्देश्य पर आश्रित रहती है। जीवन की धूप-छाँय जैसे ताना-बाना, पाप-पुण्य, गुण-दोष के तन्तुओं से मिला हुआ है। वास्तविक यथार्थवाद तो गुण और दोषों को उचित अनुपात में दिखाना है किन्तु प्रायः लोग यथार्थवाद के नाम पर मनुष्य की बुराइयों और दुर्बलताओं का उद्घाटन करते हैं। इसमें भी यदि बुराइयों का उद्‌घाटन इसलिये किया जाता है कि उनके प्रति ध्यान आकर्षित कर लोगों को सुधार की ओर प्रवृत्त किया जाय तब तो वह क्षम्य हो जाता है किन्तु जब बुराइयों का उद्‌घाटन लोगों की कुरुचि से लाभ उठाने अथवा उसके आधार पर उपन्यास की बिक्री बढ़ाने अथवा मानव-समाज से अपना बदला लेने के लिये किया जाता है तब वह निन्द्य हो जाता है। लोग प्रायः सुधारक के नाते ही मानव-दुर्बलताओं का उद्‌घाटन करते हैं किन्तु वास्तव में उनका उद्देश्य कुरुचि का पोषण होता है, ऐसा यथार्थवाद निन्दनीय है। इसके अतिरिक्त यथार्थवाद में दो दोष और भी हैं। एक तो यह कि जब लोग बुराई को फलते-फूलते और साधुता को दुख उठाते देखते हैं तब हम एक प्रकार से निराशावादी हो जाते हैं और उद्योग, उत्साह और सदाचार के लिये आकर्षण कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्वयं जीवन में यथार्थवाद एवं दुख और संघर्ष की मात्रा इतनी बढ़ी-चढ़ी होती है कि हम साहित्य

में उसकी पुनुरावृत्ति देखकर अपने मन को भाराक्रान्त नहीं करना चाहते हैं। आदर्शवाद ऊबे हुए जीवन के लिये एक सुखद वैविध्य उत्पन्न कर देता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हम पलायनवादी बन जायँ। इस प्रकार कुरुचिपूर्ण यथार्थवाद के पनपने का कारण यही है कि लोग मनुष्य की बुराइयों का सहज में विश्वास कर लेते हैं, भलाइयों के विश्वास करने में वे थोड़े संशयात्मक रहते हैं।

कोई उपन्यासकार शुद्ध यथार्थवादी नहीं हो सकता है। पूरे जीवन या जीवन के साल या दो साल के पूरे चित्रण में पाठक को उतना ही समय लग जायेगा जितने काल में कि घटनाएँ घटित हुई हैं। चुनाव कला के लिये आवश्यक है। लेखक यदि उज्वल पक्ष को चुनता है तब वह आदर्शवादी कहलाने लगता है और जब वह अन्धकारमय पक्ष की ओर अधिक ध्यान देता है तब वह यथार्यवादी गिना जाता है। कला में 'जो है' वह उसके साथ 'होना चाहिये' का भी प्रश्न रहता है। यदि हम 'जो है' उसी का चित्रण करते हैं तो साहित्य से जीवन को कोई दिशा नहीं मिलती है।

कविवर मैथिलीशरण जी ने साकेत में ठीक ही कहा है—

'हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिये कब क्या कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
यह तुम्हारे और तुम उसके लिये;
चाहिये पारस्परिकता ही प्रिय।"

आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों की ही सीमाएँ हैं, यथार्थवाद को ऊब करना अकर्मण्यता से बचना चाहिए। साहित्य में शालीनता का परित्याग और आत्महत्या है। कुछ लोग यह अवश्य कहेंगे कि जब वास्तविक जीवन ही गिरा हुआ है तब साहित्य में शालीनता कहाँ से आयेगी ? किन्तु जीवन में सब-कुछ बुरा ही बुरा नहीं है और न सब कुछ अच्छा ही अच्छा है। इसलिए आदर्शवाद को भी अतिवाद के दोष से बचाने की आवश्यकता है, इस सम्बन्ध में उपन्यास-सम्राट मुन्शी प्रेमचंद जी ने नीचे लिखे अमर वाक्य स्मरणीय हैं—

'यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है वहाँ इस बात की भी शङ्का है कि हम ऐसे चित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति-मात्र हों, जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन, उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।'

'इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते जहाँ यथार्थवाद और आदर्शवाद का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिये यथाथ का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यास की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित करले। जिस उपन्यास में यह गुण नहीं है वह दो कौड़ी का है।"

सारांश यह है कि उपन्याम की आधार-भूमि यथार्थ की होनी चाहिए! उस यथार्थ को आकर्षक बनाने के लिए थोड़े चुनाव की आवश्यकता है। चुनाव में यह ध्यान देने योग्य बात है कि उपन्यासकार बुराइयों का केवल उद्घाटन कर पाठकों की मानव-समाज से आस्थान उठादे और घृणा का प्रचारक न बन जाय। *उपन्यासकार को चाहिए कि वह यथार्थवाद के भीतर छिपे हुए आदर्श का उद्घाटन कर लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करे। इस प्रकार वह उसके द्वारा मानव-समाज के विकास-क्रम मे सहायक बन सकता है। हमारे आदर्श संभावना की सीमा से बाहर न होने पायँ, नहीं तो उनसे कोई लाभ न उठा सकेगा। इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना यही यथार्थवाद की देन है।*

भाव और रस

पाश्चात्य देशों में उद्देश्य को अधिक महत्त्व दिया गया है किन्तु हमारे देश में रस को प्रधानता दी गई है। हमारे उपन्यास भी काव्य ही की कोटि में आते हैं। इसलिए उनमें भी काव्य के से रस और भाव होने चाहिए। रस और भाव को स्वीकार करने से विचार का तिरस्कार नहीं होता है। हमारे विचार भी हमारे जीवन के प्रति रागात्मक या विरागात्मक दृष्टिकोण के ही फल-फूल होते हैं। विचारों के मूल में भी भाव ही रहते हैं अर्थात् वे प्रायः भाव-प्रेरित होते हैं। काव्यों में चाहे वे महाकाव्य की

भाँति पद्यात्मक हों या उपन्यास की भाँति गद्यात्मक हों विचार-सिकता के कण रस के सहारे ही ग्राह्य बनाये जा सकते हैं। उपन्यासों में भी महाकाव्य का सा शृङ्गार, वीर, हास्य, करुण का समावेश होता है। प्रारम्भिक काल के कौतूहल-वर्धक जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों में अद्भुत रस का प्राधान्य था। आजकल के राजनीतिक उपन्यासों में करुण के साथ वीर का सम्मिश्रण रहता है। वर्तमान समाज की करुणाजनक परिस्थिति दिखलाकर उसको मिटाने के लिए उत्साह का सञ्चार किया जाता है। करुण में वीर का आ जाना अस्वाभाविक नहीं है—'आय गये हनुमान ज्यों करुणा में वीर रस'। कभी-कभी उपन्यासों में पूँजीवाद या साम्राज्यवाद के प्रति घृणा भी उत्पन्न की जाती है। वहाँ वीभत्स की प्रधानता होती है किन्तु वीभत्स की मात्रा सीमित ही होनी चाहिए, शालीनता को छोड़े और घृणा के उत्पन्न किये बिना भी बात को बल-पूर्वक कहा जा सकता है। उपन्यासों में मनोभावों का चित्रण रहता ही है। 'गबन' में रमाकान्त के कलकत्ते जाते समय भय की मनोवृत्ति का अच्छा चित्रण हुआ है। 'गोदान' में बनावटी 'खान' के आ जाने पर शहरी लोगों की कायरता की तुलना में होरी का साहस और उत्साह निखर आता है। 'रंगभूमि' में सूरदास का वीरोत्साह सराहनीय है। थोड़ी-बहुत भावुकता के बिना वाणी में बल नहीं आता है किन्तु करुणा को केवल थोड़ी सहानुभूति जाग्रत करने के लिए प्रलाप की सीमा तक पहुँचा देना सस्ती भावुकता कही जायगी। उपन्यास को इस सस्ती भावुकता से बचाना वाञ्छनीय है। संयम और नियन्त्रण कला का जीवन-प्राण है। उपन्यास को उस संयम से वञ्चित न रहना चाहिए।

शैली

उपन्यास कथा-साहित्य का मुख्य अङ्ग है। इसकी वस्तुगत विशेषताओं और आवश्यकताओं पर प्रकाश डाला जा चुका है। खाद्य-सामग्री चाहे जितनी ही मूल्यवान क्यों न हो किन्तु जब तक उसको सजा-सम्हाल कर न रखा जायगा वह ग्राह्य न होगी। काव्य में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसकी आकृति और वेश-भूषा का है। यद्यपि यह हमेशा ठीक नहीं कि जहाँ सुन्दर आकृति हो वहाँ सुन्दर गुण भी होते हैं

आवश्यकता

तथापि आकृति और वेश-भूषा गुणों के मूल्याङ्कन में बहुत-कुछ प्रभावित करते हैं। यद्यपि हम विष भरे कनक-घटों के पक्ष में नहीं हैं तथापि दूध को भी स्वच्छ और उज्ज्वल पात्रों की अपेक्षा रहती है। चित्त का प्रसादन जितना कथा की मौलिकता और रोचकता से होता है उतना ही शैली से। पद-पद पर प्रसन्नता प्रदान करना और उत्सुकता को कायम रखना जो कथा-वस्तु की आवश्यकताओं में से है बहुत-कुछ शैली पर निर्भर रहता है। कथा-वस्तु के और भी गुण—जैसे संगठन, क्रम, सङ्गति आदि शैली के आन्तरिक पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं।

शैली के गुण

यद्यपि उपन्यास नाटक की अपेक्षा कक्ष के अध्ययन की वस्तु अधिक है और उसमें गाम्भीर्य का वहिष्कार भी नहीं है तथापि वह जन-मन-रञ्जन की वस्तु अधिक है। उसके द्वारा सामाजिक और ऐतिहासिक तथ्य सहज में जनता के लिए बोधगम्य बनाये जा सकते हैं। इसलिए प्रसाद गुण इसका मुख्य गुण होना चाहिए और ओज और माधुर्य का विषयानुकूल यथास्थान समावेश होना अपेक्षित है। भाषा को सुबोध और प्रसादमय बनाने के लिए मुहावरों का प्रयोग वाञ्छनीय है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार उचित मात्रा में शैली को आकर्षक बनाने में सहायक होता है किन्तु इनके प्रयोग में मौलिकता अपेक्षित रहती है। इनके द्वारा सफल व्यङ्ग्य भी हो सकता है। कविता की बराबर तो उपन्यास में लक्षणा-व्यञ्जना का महत्त्व नहीं है। फिर भी काव्य के ये प्रसाधन उपन्यास में उपेक्षा योग्य नहीं। ये सब काव्य के पारिवारिक गुण तो उपन्यास में आवश्यक हैं किन्तु कौतूहल-पूर्ण प्रकथन जो कथा-साहित्य की विशेषता है इसका भी विशेष गुण है। कल्पना को सत्य का रूप देना उपन्यास की मुख्य कला है। उपन्यास की भाषा की कई शैलियाँ हैं किन्तु उनमें दो मुख्य हैं। एक प्रेमचन्द जी जैसी चलती शैली और दूसरी प्रसाद और हृदयेश जी जैसी संस्कृतगर्भित शैली। उपन्यास में व्यास शैली के लिए अधिक गुञ्जाइश है। नाटक और कहानी दोनों से ही अधिक इसमें फैलाव की क्षमता है किन्तु उसको सीमा से बाहर न जाना चाहिए।

विशेष—उपन्यास साहित्य के वर्तमान विकास ने इन तत्वों की परम्परा को बहुत अंश में निरर्थक सी करदी है अब न तो कथानक में व्यवस्था और शृङ्खला का पहला सा मान रहा है और न चरित्र-

चित्रण में संगति और सम्बद्धता का आग्रह है। मनुष्य क्षणिक मनोदशाओं (Moods) का समूह सा दिखाई देता है और अवचेतना का द्वार खुल जाने से मानसिक जीवन और भी संकुल हो गया है। वह व्यवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है। यह विधा नितान्त नियमहीन तो नहीं है किन्तु एक गतिशील वस्तु को नियमों में बाँधना कठिन है। पिछले नियमों और तत्वों में बहुत-कुछ सार है विद्यार्थियों को उनका जानना आवश्यक है किन्तु उन सब को पत्थर की लकीर समझ लेना या उनके आंशिक अभाव के कारण किसी कलाकृति को निन्द्य ठहरा देना कलाकार के साथ अन्याय होगा। नये कलाकारों को सहृदयतापूर्वक समझने की आवश्यकता है।

डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी ने अपने साहित्यालोचन में उपन्यासों का कोटिक्रम इस प्रकार निश्चित किया है—

उपन्यासों के प्रकार

(१) घटना-प्रधान उपन्यास—जिसमें कौतूहल उत्पन्न करने वाली कथाएँ होती हैं, जैसे तिलिस्मी उपन्यास, 'गुलीवर्स ट्रेविल्स' डान क्विक्जेट' आदि।

(२) सामाजिक अथवा व्यवहार-सम्बन्धी उपन्यास—ऐसे उपन्यासों में चरित्र-सन्बन्धी और व्यवहार-सम्बन्धी आख्यान होते हैं जो हमारी सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं।

(३) अन्तरङ्ग जीवन के उपन्यास—इनमें घटना और पात्र कम किन्तु चिन्तन और भावनाओं का आधिक्य रहता है।

(४) देशकाल सापेक्ष और निरपेक्ष—कुछ उपन्यासों में देशकाल का निश्चत ध्यान रक्खा जाता है और कुछ में इसका बिलकुल ध्यान नहीं रक्खा जाता, इनमें 'एकदा' या 'एकस्मिन् देशे' से काम चल जाता है, संस्कृत के उपन्यास प्रायः ऐसे ही होते थे। ऐतिहासिक उपन्यासों में देशकाल का विशेष ध्यान रक्खा जाता है।

यह विभाग दूषित-सा है। घटना-प्रधान उपन्यासों में भी सामाजिक उपन्यास हो सकते हैं और सामाजिक भी घटना-प्रधान हो सकते हैं। घटना-प्रधान देशकाल सापेक्ष या निरपेक्ष का वहिष्कार नहीं करते।

उपन्यासों का विभाजन कई प्रकार से किया गया है एक तो वास्तविकता प्रधान और दूसरे कल्पना-प्रधान। इन्हीं कल्पना-प्रधान उपन्यासों को Romance भी कहते थे। एक विभाजन इस प्रकार से भी किया जा सकता है। एक घटना-प्रधान जैसे तिलिस्मी आदि, दूसरे

चरित्र-प्रधान, जैसे जैनेन्द्रजी आदि के और तीसरे घटना-चरित्रप्रधान जैसे मुन्शी प्रेमचन्दजी के।

उपन्यासों का विषयानुकूल विभाजन भी हो सकता है, जैसे ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि। विभाजन जो हो प्रायः एक ही आधार पर होना चाहिए और पूरा होना चाहिए।

उपन्यास का विकास

अँग्रेजी भाषा में उपन्यास का उदय रोमान्स कथाओं से हुआ। ये रोमान्स कथाएँ कौतूहलमय घटनाओं से पूर्ण हुआ करती थीं और इनमें चरित्र-चित्रण का भी अभाव रहता था। इन

अँग्रेजी उपन्यास

रोमान्सों का आरम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में मेलोरी (Malory) द्वारा लिखी हुई 'मार्ट डी आर्थर' (Morte D'Arthur) नाम की कथाओं से होना माना जाता है। उन कथाओं से नाटकों को भी बहुत-कुछ सामग्री मिलती थी और उनके अनुकरण में अन्य कथात्मक रचनाएँ भी लिखी गईं।

इँगलिस्तान में भी गद्य का विकास कुछ पीछे से हो हुआ। सत्रहवीं शताब्दी में गद्य-लेखकों में जॉन बनियन (१६२८-१६८८) बहुत प्रसिद्ध है। उसका लिखा हुआ पिलग्रिम्स प्रोग्रेस (Pilgrims Progress) एक प्रकार की अन्योक्ति (Allegory) है। उसमें एक कल्पित यात्री की कथा के सहारे आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में साधक की कठिनाइयों का उल्लेख हुआ है। असली अर्थ में 'रॉबिनसन क्रूसो' (सन् १७१६) का लेखक डेनियल डीफो (सन् १६५६-१७३१) अँग्रेजी का पहला उपन्यासकार कहा जा सकता है। उसके वर्णन बड़े सजीव हैं और उसमें चरित्र-चित्रण का भी प्रयास है। अँग्रेजी के प्रसिद्ध सामाजिक व्यङ्ग्य-लेखक स्विफ्ट (Jonathan Swift सन् १६६७-१७४५) भी डीफो (Daniel Defoe) में ही समकालीन थे। उनका 'गुलीवर्स ट्रैविल्स' (Gullivers Travels) वास्तव में तत्कालीन समाज पर अच्छा व्यङ्ग्य है किन्तु उसमें रोचकता और कौतूहल पर्याप्त मात्रा में हैं। उपन्यास को चरित्र-चित्रण की ओर अग्रसर करने में उस समय 'स्पेक्टेटर' में निकलने वाले 'रोजर्ली डी कवर्ली' आदि चरित्र-सन्बन्धी निबन्धों को भी बहुत श्रेय है। उस समय के उपन्यासकारों की समस्या पात्रों को रोमांस के आकाश से पृथ्वी की ओर लाने की रही।

अट्ठारहवीं शताब्दी में उपन्यास-साहित्य के प्रारंभ एवं रूप चार नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वे नाम हैं—रिचर्डसन (Richard-son), फील्डिङ्ग (Feicldiug), स्मोलेट (Smollett) और स्टर्न (Sterne)। रिचर्डसन के उपन्यासों में 'पमीला' (Pamela) बहुत प्रसिद्ध है। उसने आजकल के से चरित्र-प्रधान उपन्यासों का श्रीगणेश किया किन्तु उसमें कुछ भावातिरेक अधिक था। फील्डिङ्ग ने उस भावातिरेक का उपहास किया। स्मोलेट और स्टर्न ने उसको मुख्यता दी। अट्ठारहवीं शताब्दी के उपन्यासों में 'गोल्ड स्मिथ' (Oliver Goldsmith सन् १७२८-१७७४) का 'विकार आफ वेक फील्ड' (Vicar of Wakefield) ने बहुत ख्याति पाई। उसमें हास्य-व्यङ्ग्य पूर्ण चरित्र-चित्रण के साथ पारिवारिक जीवन की झाँकी है। अट्ठारहवीं शताब्दी में पारिवारिक उपन्यासों (Domestic Novels) का सूत्रपात हो गया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्कॉट (Sir w. Scott सन् १७७१-१८३२) ने 'वेवर्ली नौवल्स' (Waverly Novels) के रूप में ऐतिहासिक उपन्यासों को एक अच्छी देन दी और 'जेन ऑस्टिन' (Jana Austin सन् १७७५-१८१७) ने 'प्राइड एण्ड प्रेज्यूडिस (Pride and Prejndice) और 'सेन्स एण्ड सेन्सिबिलिटी' (Sense and Sensibility) के रूप में सामाजिक अथवा सामाजिक व्यवहार-सम्बन्धी उपन्यास (Novel of Manners) दिये। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में 'डिकिन्स' (Charles Dickens सन् १८१२-१८७० और 'थैकरे' (W.M. Thackeray सन् १८११-१८६३) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डिकिन्स ने अपने उपन्यासों में स्मरणीय चरित्र दिये। उसके उपन्यासों में चरित्रों का वैविध्य भी पर्याप्त है। उसमें वस्तुवाद के साथ भावातिरेक था। डिकिन्स ने (जैसे हमारे यहाँ प्रेमचन्द जी ने) मध्य और निम्न श्रेणी के पात्रों को अपनाया था। 'थैकरे' ने (जैसे हमारे यहाँ प्रताप नारायण श्रीवास्तव ने) उच्च वर्ग के लोगों का चित्रण किया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में उपन्यासों में चरित्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रथा चल पड़ी थी। उस प्रथा के अग्रसर करने वालों में 'जार्ज इलियट, जार्ज मेरेडिथ, टामस हार्डी, मिसेज हम्फरीवार्ड' हैं। ये लोग आधुनिकता के अग्रदूत हैं। इनके हाथ में पात्र सामान्य की अपेक्षा

वास्तविक रूप से व्यक्ति बन गये हैं।

बीसवीं शताब्दी में विशेषकर पहले महायुद्ध के पश्चात् लोगों के उपन्यास-सम्बन्धी आदर्श बदले। महायुद्ध के पूर्व साहित्य में जिस प्रकार प्राचीन आदर्शों के प्रति असन्तोष रहते हुए भी उसके भीतर छिपी हुई एक क्षीण आकर्षण-रेखा के दर्शन हो जाते थे वह रेखा भी विलीन हो गई।

नवीन प्रवृत्तियाँ

नैतिक आदर्शों में घोर परिवर्तन हुए। सभ्यता एक कृत्रिम आवरण के रूप में दिखाई देने लगी। फ्रॉयड का यह प्रभाव पड़ा कि लोग उप-चेतना को अत्यधिक महत्त्व देने लगे और उसकी यह धारणा हो गई कि वासनाओं को जितना दबाया जायेगा वे उतना ही विकृत रूप धारण करेंगी। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के चरित्र-चित्रण में सङ्गति एक आवश्यक गुण के रूप में न रहा। चरित्र का ऊपरी भाग जितना हम देखते हैं वही सब कुछ नहीं। भीतरी तहों में से अवसर पाने पर न जाने कौन से तह ऊपर आये और व्यक्ति अपने साधारण दृश्यमान चरित्र के विरुद्ध कोई काम कर जाय। डी० एच० लारेंस (D.H. Lawrence सन् १८८५-१९२९) के उपन्यासों में इस प्रवृत्ति की झलक है। आत्मा की अपेक्षा शरीर को अधिक महत्त्व मिलने लगा। एडोल्फह् क्लसले में इस ओर अधिक झुकाव है। आजकल के उपन्यासकारों में लोरेन्स, हक्सले, वर्जिनिया वुल्फ, जेम्स जाइस प्रमुख हैं। रूसी उपन्यासकारों ने उपन्यास साहित्य की अभिवृद्धि की है, (उनमें गोर्की जिसका 'मां' नाम का उपन्यास हिन्दी में अनुवादित हो चुका है) आजकल के नामों में शोलोखव (Mikhael Sholokheva) का नाम विशेष उल्लेख-नीय है।

पाश्चात्य देशों, विशेषकर इंगलिस्तान के उपन्यासों की प्रवृत्ति मात्र दी जा सकी है। वहाँ का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यहाँ पर यह विवरण इसलिए नहीं दिया है कि हम पाश्चात्य देशों के कथात्मक साहित्य के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर सकेंगे वरन् इसलिए कि हम उसके आलोक में अपने यहाँ की प्रवृत्तियों को भली प्रकार समझ सकें। अब अपने यहाँ की भी कथा-साहित्य बहुत प्रौढ़ और पुष्ट हो हो गया है। उसमें हर प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। ऊपर जो वर्तमान उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ दी गई हैं वे अपने यहाँ के आधुनिक उपन्यासों में भी प्राचुर्य के साथ मिलती हैं।

संस्कृत में कहानी-साहित्य तो पर्याप्त रूप में था, यहाँ तक कि इस दिशा में भारतवर्ष और देशों का गुरु कहा जा सकता है किन्तु उपन्यास की कोटि में केवल बाण की 'कादम्बरी' और दण्डी का 'दशकुमारचरित' ही आ सकते हैं। 'कादम्बरी की तो ख्याति इतनी बढ़ी कि वह मराठी भाषा में उपन्यास के लिए एक व्यापक शब्द बन गया है। अर्थ-विस्तार का वह एक अच्छा उदाहरण है। कादम्बरी में घटना और चरित्र की अपेक्षा शैली का अधिक महत्त्व है। हमारे यहाँ की कहानी में थोड़े-बहुत कौतूहल के पुट के साथ उपदेशात्मकता अधिक रहती थी। यही बात इन बड़ी कथाओं में भी है। इनमें शैली की भी विशेषता है।

हिन्दी के उपन्यास

हिन्दी में संस्कृत के आधार पर लिखी गई 'किस्सा तोता मैना' 'सिंहासन बत्तीसी' आदि कुछ बड़ी कथाएँ लोगों का मनोरञ्जन करती रहीं किन्तु ये जनता की वस्तुएँ थीं, साहित्य की वस्तुएँ न थीं। साहित्यिक कथाओं का प्रारम्भ मुन्शी इन्शाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' जिसका दूसरा नाम उदयभान चरित था और सदलमिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' से होता है (ये दोनों पुस्तकें सन् १-६० के लगभग लिखी गई थी)। इनमें एक चलतो भाषा में साहित्यिक सौष्ठव लाने का अधिक प्रयत्न है।

हिन्दी के प्रारम्भिक काल में लिखे गये उपन्यासों में श्री निवासदास (१९०२–१९४४) के 'परीक्षा-गुरु' ने विशेष ख्याति पाई इसको हम हिन्दी का पहला उपन्यास कह सकते हैं। 'परीक्षा-गुरु में एक सेठ के लड़के के बिगड़ने और अपने एक मित्र की सहायता से सुधरने के कथानक के सहारे व्यावहारिक उपदेश दिया गया है। उसमें 'हितोपदेश' और 'पञ्चतन्त्र' की शैली है। बीच-बीच में नीति सम्बन्धी उदाहरण हैं। यह प्रवृत्ति पं० बालकृष्ण भट्ट के 'सौ अज्ञान एक सुजान' में और भी बढ़ी-चढ़ी दिखाई देती है। इन उपन्यासों में वर्णन की विशेषता और यथार्थता के साथ उस समय की हास्य-व्यङ्ग्य की प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। उस समय के उपन्यासों में राधाकृष्णदास (१९२२–१९६४) का 'निस्सहाय हिंदू' भी उल्लेखनीय है। उसमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व दिया गया है। उसमें मुन्शी प्रेमचन्दजी के उपन्यासों की भांति राजनीतिक आन्दोलनों के स्थान में गोरक्षा आन्दोलन का चित्रण मिलता है। बङ्गाल के लोग

हमारी अपेक्षा अँग्रेजों के सम्पर्क में अधिक आये थे उनके यहाँ उपन्यास का जन्म पहले हुआ था। बङ्गाल के उपन्यासों के अनुवाद द्वारा हिन्दी के उपन्यास साहित्य की कलेवर-वृद्धि हुई और इस ओर लोगों की रुचि जाग्रत हुई।

हिन्दी के प्रारम्भिक काल में बालरुचि की भाँति लोक-रुचि कौतूहल और तिलस्म की ओर अधिक थी। उसमें आज-कल का सा उतावलापन भी नहीं था और अध्ययन और लेखन का एक मात्र उद्देश्य था कौतूहल तृप्ति द्वारा मनोरंजन। इस प्रवृत्ति को तृप्ति के लिए बाबू देवकीनन्दन खत्री का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। इनके उपन्यासों में कल्पना का अत्यधिक प्राधान्य था। ये उपन्यास फारसी के 'अलिफ लैला' आदि के दास्तानों से प्रभावित थे। उनके उपन्यासों का संसार जादू का संसार था। उनमें तिलस्म और अय्यारी का प्राधान्य रहा।

इसी बहिर्मुखी प्रवृत्ति का दूसरा रूप है जासूसी उपन्यास। इनमें भी कौतूहल की तृप्ति है। एक लाश पड़ी मिल गई और फिर उसके रहस्य खोलने में ही सारा उपन्यास शेष हो जाता है। ये भी घटना-प्रधान उपन्यास की कोटि में आते हैं। तिलस्मी उपन्यासों में घटना का क्रम आगे की ओर बढ़ता है पर जासूसी उपन्यासों में पीछे की ओर जाता है। जासूसी उपन्यास लेखकों में गोपालराम गहमरी (जन्म संवत् १६२३) का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। वे हमारे यहाँ के 'कॉनन डायल' कहे जा सकते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में कल्पना के साथ बुद्धि-तत्त्व का भी पुट रहता है।

हिन्दी-उपन्यासों के विकास में दूसरी श्रेणी पं० किशोरीलाल गोस्वामी (सं० १६२२—१६८१) से प्रारम्भ होती है। उन्होंने कौतूहल की वृत्ति को तो कायम रखा किन्तु ऐतिहासिक और सामाजिकता के साथ मनुष्य की सहज रुचि को जाग्रत करने वाली विलासिता और प्रेम का पक्ष अधिक चित्रित किया। उनके पात्र चाहे विलासी हों पर वास्तविक थे। इसमें सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण भी हुआ है।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का ठेठ हिन्दी का ठाठ (१६५६) इसी समय का है, इसमें औपन्यासिकता की अपेक्षा भाषा का प्रयोग अधिक है। उनके वेनिस के बाँके में संस्कृत तत्समता का प्रधान्य है और ठेठ हिन्दी के ठाठ में हिन्दी के ठेठ और निजी रूप का ओर प्रवृत्ति है। इसके पश्चात पं० लज्जाराम मेहता के 'हिन्दू गृहस्थ'

'आदर्श दम्पति', 'बिगड़े का सुधार' आदि उपन्यास भी १६५६ से लगाकर १६६? तक प्रकाश में आये। मेहता जी के उपन्यासों में सांस्कृतिक पक्ष अधिक है और चरित्र-चित्रण की भी प्रवृत्ति है। हिंदी में बङ्गला से जो उपन्यास आये उनमें से कुछ तो दहेज आदि कुप्रथाओं से सम्बन्धित थे और कुछ ऐतिहासिक। ऐतिहासिक उपन्यासों में बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों की बड़ी धूम रही। 'बन्दे मातरम्' वाला राष्ट्रीय गीत बङ्किम बाबू के आनंद मठ से ही प्रचार में आया है। इन उपन्यासों ने राष्ट्रीय सङ्गठन के बड़ा योग दिया।

चरित्र-चित्रण और सोद्देश्य उपन्यास लिखने की दृष्टि से मुन्शी प्रेमचन्द जी (सं० १६३७—१६६३) ने युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनके उपन्यासों में सामाजिकता थी किन्तु बङ्गाली उपन्यासों का-सा भावातिरेक न था और न वे बङ्गाली उपन्यासों की नकल कहे जा सकते हैं। 'सेवासदन', 'निर्मला', 'गबन' आदि उपन्यास सामाजिक हैं। गबन में स्त्रियों के आभूषण प्रेम का और 'निर्मला' में वृद्ध-विवाह का दुष्परिणाम दिखाया गया है किन्तु उनकी दृष्टि सामाजिक समस्याओं में ही सीमित नहीं रहीं। 'रंगभूमि' में एक विस्तृत चित्रपट पर राजनीतिक आन्दोलन का चित्रण है। उनके और भी उपन्यासों में शोषित और दलित जनता के प्रति सहानुभूति का मानवता-प्रधान पक्ष लिया गया है। 'गबन' में उन्होंने प्रसंगवश पुलिस के हथकण्डों का अच्छा दिग्दर्शन किया है। प्रेमचन्द जी न सामाजिक अत्याचार सह सकते थे और न राजनीतिक। ब्राह्मणों तथा उच्च कुलाभिमानी लोगों के भण्डाफोड़ करने में उनकी विशेष रुचि थी किन्तु वे किसी उग्र क्रांति के पक्ष में न थे। वे गांधीवाद की समझौतेपूर्ण नीति के अनुयायी थे। जिस प्रकार कविता में गुप्तबन्धु गांधीवादी नीति के प्रतिनिधि हैं उसी प्रकार उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्दजी ने गांधीजी के आदर्शों का प्रतिनिधित्व किया है। उनका ध्यान हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की ओर भी गया है।

कौशिक जी (१६४८-२००३) का क्षेत्र यद्यपि सीमित था, तथापि उसके आदर्श मुन्शी जी के आदर्शों से भिन्न न थे। वे निम्न कोटि के पात्रों में जैसे भिखारियों में मानवता के दर्शन कराने में सिद्धहस्त थे किन्तु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि वे मुन्शी जी की अपेक्षा भावुक अधिक थे और वे भावों के सञ्चारित करने की कला में भी निपुण थे।

इनके कथानक अपेक्षाकृत सरल और सुलझे हुए हैं। इनके दो उपन्यास हैं 'माँ' और 'भिखारिणी'। 'माँ' में दो माताओं-सुलोचना तथा सावित्री द्वारा अपने-अपने पुत्रों पर पड़े हुए प्रभावों की तुलना है। सुलोचना का प्रभाव सचरित्रता की ओर ले जाता है और सावित्री का प्रभाव दुराचार की ओर ले जाता है। सुलोचना में आदर्शवाद का प्राधान्य है। भिखारिणी में दिखाया गया है कि भावों की उच्चता उच्च वर्ग का ही एकाधिकार नहीं है।

'प्रसाद' जी (१६४६–१६६४) ने 'कंकाल' और 'तितली' नाम के दो उपन्यास लिखे, 'इरावती' नाम का एक उपन्यास अधूरा ही रह गया था किन्तु वह अब छप गया है। कंकाल में समाज की भव्यता के भीतर छिपा हुआ खोखला कंकाल दिखाया गया। देखने में तो उस उपन्यास में यथार्थता की पराकाष्ठा लगती है किन्तु वह निरुद्देश्य नहीं है। उसमें तथाकथित उच्चता के प्रति गर्व की भावना पर व्यङ्ग्य पूर्ण चोट है। उसमें एशियायी संघ के रचनात्मक कार्य का भी आदर्शवादी रूपरेखा है। 'तितली' में प्रसाद जी के पात्र शहर में रहकर ही ग्राम की चिन्ता करते हैं। 'कंकाल' और 'तितली' की तुलना में 'इरावती' प्रसाद जी के स्वभाव के अधिक निकट प्रतीत होती है। वह ऐतिहासिक भी है, और उसकी भाव और भाषा शैली भी प्रसाद जी के व्यक्तित्व तथा अन्य रचनाओं के अनुकूल है। प्रसाद जी के उपन्यास में प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की अपेक्षा भावना का उत्कर्ष अधिक है। भाषा में तो अन्तर स्पष्ट ही है। प्रसाद जी को भाषा संस्कृत गर्भित और एक रस रही है। प्रेमचन्द जी की भाषा पात्रों के अनुकूल बदली है और अपेक्षाकृत सुबोध है।

वृन्दावनलाल वर्मा (जन्म सं १६४५) ने थोड़े रोमांस के साथ 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' आदि ऐतिहासिक उपन्याम दिये। इनके उपन्यासों में ऐतिहासिकता के साथ-साथ स्थानीय गौरव, स्थानीय रंगत (Local colour) और प्रकृति-चित्रण की विशेषता है। इनने पात्र परिस्थिति के अनुकूल स्वाभाविक अपनी गति से चलते हैं और उनकी व्याख्या देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अंग्रेजी के उपन्यासकार स्काट की भाँति हिंदी में वर्मा जी अकेले ही उपन्यासकार हैं जिनमें लोकवार्त्ता को पूरा-पूरा स्थान मिला है। 'विराटा की पद्मिनी अधिक-तर जनश्रुति और कल्पना पर आश्रित है। उसका वातावरण

ऐतिहासिक है। पात्र अधिकांश में कल्पित हैं। 'गढ़कुण्डार' का वातावरण भी ऐतिहासिक है और पात्र भी। 'गढ़कुण्डार में हमको बुन्देलखण्ड की वीर-गाथा-काल की सी मानापमान तथा वीर दर्प से प्रेरित पारस्परिक मारकाट की प्रवृति मिलती है। बुन्देले ऊँचे और खंगार नीचे, इस संघर्ष में न बुन्देले ही रहे न खंगार ही। खंगार को बढ़ती हुई शक्ति का भी ह्रास हो गया। ऐतिहासिकता की दृष्टि से वर्मा जी की नवीनतम कृति झाँसी की रानी बहुत उत्कृष्ट है। उसमें सन् १८५७ के घटनाओं और कारणों पर काफी अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसमें रोमांस है किंतु अत्यन्त संयत और दबा हुआ।

उषादेवी मित्रा ने भारतीय नारियों के ऊँचे आदर्श उपस्थित किये हैं। उनकी नारियाँ जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की मृणाल की भाँति परिस्थितियों के कारण भारतीय आदर्श से च्युत नहीं हुई हैं। देश-सेवा या तीर्थ-यात्रा में अपनी वासनाओं का उन्नयन (sublimation) कर लेती हैं। कजरी, पिया, सविता जैसी सहनशील नायिकाएँ आजकल के उपन्यासों में कम मिलेंगी। उषादेवी मित्रा के उपन्यासों में बङ्गाली भावुकता और अलंकृत शैली के भी दर्शन होते हैं।

सियारामशरण (जन्म संवत् १९५२) अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों के कारण सामाजिक रूढ़ियों से (बुरे अर्थ में नहीं) बँधे हुए हैं। उनमें नैतिकता का मान है। वे भी गाँधीवाद के प्रभाव में हैं किन्तु उपन्यासों में उसकी विशेष झलक नहीं है। उन्होंने भी प्रेमचन्द जी की भाँति मध्यवर्ग और निम्नवर्ग को अपनाया है। उनका 'गोद' नामक उपन्यास सामाजिक है उन्होंने धर्म-नीति को अपनाते हुये भी थोड़ी उदारता का परिचय दिया है। कट्टरपंथी तो किसी स्त्री में कलङ्क की झूंठी चर्चा हो जाने पर भी उसे सदा के लिये कलङ्कित समझ लेता है। उसकी निर्दोषता प्रमाणित हो जाने पर भी उसका भाव नहीं बदलता और सुधारक सदोषता प्रमामिण हो जाने पर भी उसे अपनाने को तैयार रहता है। गुप्त जी किशोरी कि निर्दोषता प्रमाणित हो जाने के पश्चात् दयाराम का हृदय परिवर्तन कराते हैं। 'अन्तिम आकांक्षा' में घर के एक नौकर (रामलाल) को नायक बनाया गया है। इसकी आज-कल का जनवादी तत्व है। उसमें आजकल की छूआछात और संकुचित धार्मिकता पर अच्छा व्यङ्ग्य है। है। 'नारी' में वे कुछ आगे बढ़े हैं किन्तु मर्यादा के साथ उनको नारी वास्तव में उनके अग्रज के नारी चित्रण का

समर्थन करती है।

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।'

अपने लड़के 'हल्ली' के प्रति वह सदा स्नेहार्द्र रही और पति 'वृन्दावन' के लिए हमेशा रोती रही। अन्त में वह अपने पति की खोज में सहायता देने वाले अजीत चौधरी को (अपनी जाति की प्रथा के अनुसार ही) स्वीकार कर लेती है। इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन की प्रतिद्वन्द्विताओं का भी उद्घाटन हुआ है किन्तु उन सब घटनाओं में गुप्त जी की हास्य-व्यङ्ग्य की एक क्षीण रेखा की झलक मिलती है। इसकी नैतिक समस्या यह है कि क्या स्त्री कृतज्ञता में अपना आत्म-समर्पण कर सकती है? 'जमुना' के आत्म-समर्पण के लिए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें अपने पति के किसी प्रतिद्वन्द्वी को नहीं वरन् ऐसे ही व्यक्ति को स्वीकार किया जो ईमानदारी से उसके पति वृन्दावन की खोज करता रहा। इस प्रकार वृन्दावन के प्रति जमुना की पतिव्रत भावना अक्षुण्ण रहती है। यदि इसमें कुछ काम-वासना है तो अति क्षीण।

चण्डीप्रसाद हृदयेश जी ने अपने मंगल-प्रभात में एक उपदेशात्मक आदर्शवाद के सहारे वाण की सी अलंकृत शैली का चमत्कार दिखलाया है।

प्रेमचन्द जी के बाद हिन्दी उपन्यास ने सामाजिकता और राज-नीतिकता से आगे बढ़कर मनोवैज्ञानिकता की ओर कदम बढ़ाया और उपन्यास की वृत्ति अन्तर्मुखी हुई। यह प्रवृत्ति उनके जीवन-काल में ही आरम्भ हो गई थी। नये उपन्यासों में समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व मिला। इसका यह अभिप्राय नहीं कि आजकल के उपन्यासकारों ने समाज को भुला दिया है। अब सामाजिक समस्याओं के सीधे चित्रण की अपेक्षा व्यञ्जना से अधिक काम लिया जाता है। व्यक्ति की मनोवृत्तियों में सामाजिक व्यवस्था की प्रतिक्रिया द्वारा उस व्यवस्था की भलाई-बुराई की ओर संकेत रहता है। मार्क्सवाद से प्रभावित उपन्यासों में व्यक्ति के विश्लेषण के साथ समाज का सीधा चित्रण भी रहता है और उसकी विषमताओं पर अधिक बल दिया जाता है। प्रेमचन्द जी के पात्रों में वर्ग का प्रतिनिधित्व अधिक रहता था। उनमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज की झलक अधिक दिखाई देती थी। आजकल के

उपन्यासों में व्यक्ति के वैयक्तिक इतिहास के आधार पर उसके अवचेतन मन की कुञ्जी से उसके चारित्रिक रहस्यों का उद्घाटन किया जाता है। व्यक्ति की दुर्बलताएँ सामाजिक और मानसिक कारणों के आलोक में मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन गई हैं। इसके अतिरिक्त आजकल के उपन्यास में प्राचीन नैतिक रूढ़ियों के प्रति भी विद्रोह है। आचार और अनाचार के नये माने खोजे जाने लगे हैं। आज का मनुष्य अपने को राजनीतिक बन्धनों से ही नहीं वरन् सामाजिक बन्धनों से भी मुक्त देखना चाहता है। प्रेमचन्द में जो गांधीवादी मर्यादा थी वह आजकल के उपन्यासों में नहीं रही है।

जैनेन्द्र जी इस नये वैयक्तिक अध्ययन के अग्रदूत कहे जा सकते हैं। जैनेन्द्र जी की 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' की नारियाँ साधारण नैतिक मापदण्ड से बाहर की वस्तु बन गई हैं। उनका व्यक्तित्व रहस्यमय है। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में घटनाएँ चरित्र और मानसिक उथल-पुथल के उद्घाटन के लिये ही आती है। उनका सम्बन्ध आन्तरिक जीवन से अधिक है। कल्याणी में अन्तर और बाह्य, गार्हस्थिकता और सामाजिकता का संघर्ष है। अन्तर को पूरा प्रसार न मिलने के कारण ही उसका मरण होता है। 'त्यागपत्र' की मृणाल दयनीय है। उसमें अन्तस की प्रेरणा की अपेक्षा सामाजिक विवशता है किन्तु उसने जिस मार्ग का अनुसरण किया उसमें भी उसका त्राण नहीं होता है। इसमें समाज की कठोरता पर गहरा व्यङ्ग्य है। मृणाल की अवस्था के लिए सामाजिक कठोरता ही उत्तरदायी है किन्तु जैनेन्द्र जी ने अपनी नायिका में परिस्थितियों से ऊपर उठने की शक्ति नहीं दिखाई है।

जैनेन्द्र जी ने जहाँ नैतिक मानदण्डों के परिवर्तन की पुकार कथाकार की व्यङ्गयात्मक शैली से की है और अपनी सफाई कथा से बाहर निबन्धों में दी है वहाँ श्री भगवती चरण वर्मा ने अपनी चित्रलेखा में कथा के भीतर ही सम्वाद रूप से पाप-पुण्य की नयी मीमांसा की है। इससे पूर्व युग में कु और सु अर्थात् पाप और पुण्य की निश्चित सीमाएँ थीं। टाल्सटाय और गांधीजी के प्रभाव से पापी को सहृदयता के साथ देखा जाने लगा और उसके बहुत-कुछ दोषों की व्याख्या सामाजिक दुर्व्यवस्था से की जाने लगी किन्तु उन लोगों ने व्यक्ति के श्रेय और प्रेय में भेद रक्खा था; उनका सिद्धान्त था पाप से घृणा

करो पापी से नहीं। आजकल के युग ने श्रेय को प्रेय बनाने के स्थान में श्रेय और प्रेय का अन्तर मिटा दिया। जो स्वाभाविक है वही सत्य और कर्त्तव्य है। फ्रॉयड के मनोविश्लेषण ने इस प्रवृत्ति को कुछ बल दिया। उसने उन्नयन (Sublimation) का पथ बतलाया किन्तु उस ओर लोगों का ध्यान कम गया। उसके प्रभाव से मनुष्य को व्यक्ति के चरित्र के मूल स्रोतों तक पहुँचने की दृष्टि मिली। कारण के जान लेने पर व्यक्ति का दोष घट अवश्य जाता है फिर भी उत्थान के लिए उसका उत्तरदायित्व रहता है किन्तु जहाँ इसमें ही सन्देह हो कि क्या उत्थान है और क्या पतन वहाँ उत्तरदायित्व कैसा ? उत्थान और पतन के सन्देह को 'चित्रलेखा' के लेखक ने कुछ गहरा रङ्ग दे दिया है। महाप्रभु रत्नाम्बर के द्वारा स्वाभाविकता के आधार पर पाप-पुण्य की व्याख्या इस प्रकार की जाती है—"जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके प्रभाव के अनुकूल होती है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नहीं है, केवल साधन है; फिर पुण्य और पाप कैसा ?" गीता में भी मनुष्य को साधन या निमित्त ही माना है—'निमित्तमात्रं भव त्वं सव्यसाचिन्'!—गीता की साधना अहंकार के नाश के लिए थी किन्तु रत्नाम्बर की व्याख्या में अहंकार का निषेध नहीं है।

श्री भगवतीप्रसाद बाजपेयी जी ने नारी और प्रेम के उपन्यास लिखे हैं। उनमें (विशेषतः 'प्रेमपथ' और 'पिपासा' में) कर्त्तव्य और वासना का संघर्ष अवश्य है और कर्त्तव्य तथा समाज-नीति की विजय होती है किन्तु नारी के शारीरिक सौन्दर्यपरक आकर्षण और उसके निमन्त्रण की अधिक चर्चा है। 'दो बहिनों' में उन्होंने एक प्रेमी की दो प्रेमिका बहिनों को एक साथ रख मनोविश्लेषण और तुलनात्मक अध्ययन की सामग्री उपस्थित की है। 'निमन्त्रण' में पूर्वीय और पाश्चात्य आदर्शों का संघर्ष, कुछ राजनीतिकता और सामाजिकता भी है। इसी के साथ जीवन-मीमांसा के रूप में मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष रीति से प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि बाजपेयी जी सामाजिक आदर्शों से हटे नहीं हैं तथापि वासना के चित्रण में कमी नहीं रक्खी है।

आजकल के उपन्यासों में फ्रॉयड के प्रभाव से तथा मानवजाति की सहज रूप-लालसा के कारण यौन आकर्षण बहुत बढ़ गया है,

यद्यपि उसमें जो सामाजिक रूढ़ियों के विद्रोह का नैतिक पुट दिया जाता है वह विकृति की अवस्था तक पहुँचता जा रहा है। सर्वदानन्द वर्मा का 'नरमेध' इसी का उदाहरण है। उसमें विवाह-प्रथा और पारिवारिक सम्बन्धों पर ही कुठाराघात किया है, वर्मा जी तो पतिव्रत को पूँजीवादी संस्था समझते हैं। नरमेध में उर्मिला और ज्योति नाम की दो विवाहित स्त्रियों के एक ही व्यक्ति द्वारा पतन की कहानी है। उर्मिला का पति नारी-स्वातन्त्र्य का पक्षपाती होने के कारण उसको क्षमा कर देता है। प्रसाद जी के 'कंकाल' में जिस वर्णसंकरी-सृष्टि का उद्घटान हुआ है उससे भीषण सामाजिक दुर्व्यवस्था 'नरमेघ' में मिलती है। वर्माजी ने वैवाहिक जीवन को एक प्रकार का नरमेध ही व्यञ्जित किया है। हम सामाजिक अत्याचारों के पक्ष में भी नहीं हैं और हम यह कहते हैं कि समाज में विकृत पुरुष नहीं होते हैं किन्तु वे हाँडी के चावल की भाँति सारी समाज के परिचायक नहीं होते। यथार्थवाद की यह दूषित सीमा है। वर्मा जी स्त्री-स्वातन्त्र्य को पराकाष्ठा तक ले गये हैं।

मनोविश्लेषण का प्रभाव हिन्दी-उपन्यासकारों पर कुछ अधिक मात्रा में पड़ा है। व्यक्ति के अवचेतन मानस को प्रत्येक विकारों के लिए खोजा जाता है। उसके घोर अन्धकारमय गहन कक्ष में पैठकर वहाँ की दूषित भावनाओं पर सर्चलाइट डाली जाती है। मनोविश्लेषण सम्बन्धी उपन्यासों में व्यक्ति के ऊपरी टीमटाम और विडम्बना का पर्दा उठ जाता है और हम उनका सामाजिक परिधान हटाकर उघरा हुआ नग्न कङ्काल देख सकते हैं। बड़ाई एवं अहंमन्यता की बिडम्बना जाती रही है। यहाँ तक भी गनीमत है किन्तु सिद्धान्तों के प्रतिपादन और उद्भूत करने के लिए जानबूझकर ऐसी परिस्थितियाँ भी उपस्थित की जाती हैं जो भारतीय-समाज में कुछ कठिनता से मिलती हैं। रीतिकालीन नायिकाओं की भाँति इनकी सृष्टि केवल उदाहरणों के लिए ही होती है। हमारे यहाँ के उपन्यासकारों में पं० इलाचन्द्र जोशी और श्री नरोत्तम नागर इस प्रवृत्ति के उदाहरण कहे जा सकते हैं। जोशी जी द्वारा 'प्रेत और छाया' में तो मनोविश्लेषण द्वारा विश्व की समस्या हल करने का दावा किया गया है। उसमें मनोविश्लेषण अवश्य है किन्तु विश्व की पहेली का हल उतना ही है जितना कि किसी व्यक्ति के समझने में हो सकता है! यद्यपि समाज व्यक्तियों का ही बनता है तथापि जोशी जी ने समाज की अपेक्षा व्यक्ति को समझने

की अधिक कोशिश की है। व्यक्ति के समझ लेने पर समाज का समझ लेना सहज हो जाता है। इसी को विश्व की पहेली का हल कह सकते हैं। जोशी जी ने मनोविश्लेषण के सहारे सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया और नागर जी ने राजनीतिक जीवन पर। जोशी जी के तीन उपन्यास 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' विशेष प्रसिद्ध हुए हैं। 'सन्यासी' में दो स्त्रियाँ शान्ति और जयन्ती क्रमशः नन्दकिशोर की ईर्ष्या और अहंकार-वृत्ति की शिकार बनती हैं। एक प्रकार से यह उपन्यास ईर्ष्या मनोवृत्ति की कथा है। 'पर्दे की रानी' में जन्मजात संस्कारों तथा शिक्षा-दीक्षा का संघर्ष है। इसकी नायिका निरञ्जना में वैश्या माता से अज्ञात में प्राप्त आकर्षण का मायाजाल फैलाने का कुसंस्कार उसकी शिक्षा-दीक्षा दबा न सकी फिर भी उसमें निजी आकर्षण-जन्य वासना, स्त्रीसुलभ कोमलता और नैतिकता की भावशवलता दिखाई देती है। नारी का स्वाभिमान और वैयक्तिक अहंभाव हीनता-ग्रन्थि के कारण और भी पुष्ट हो जाता है। वास्तव में उसका चरित्र बड़ा संकुल है। इसका नायक इन्द्रमोहन विलास का पुतला है। 'पर्दे की रानी' में थोड़ा-बहुत गांधीवाद और समाजवाद का राजनीतिक विवेचन भी है।

'पर्दे की रानी' में जहाँ जन्मजात संस्कार व्यक्ति को छाया-रूप में घेरे रहते हैं वहाँ 'प्रेत और छाया' के नायक पारसनाथ अपने पिता द्वारा यह बतलाये जाने पर कि वह अपने पिता की सन्तान नहीं है ऐसी हीनता-ग्रन्थि से आविर्भूत हो जाता है कि उसके मन में सच्चरित्रता का कोई मूल्य नहीं रहता और जब तक वह भावना उसके मन में असत्य नहीं प्रमाणित करदी जाती है तब तक उसका जीवन सामान्य धरातल पर नहीं आता है।

नरोत्तम नागर जी ने 'दिन के तारे' में मनोविश्लेषण के साथ गांधीवाद की हँसी उड़ाकर उसको नीचा दिखाने का प्रयत्न किया है। इसमें मनोविश्लेषण सम्बन्धी तत्व भी आये हैं, जैसे उसका नायक शशि अपनी माता के अधिक प्रभाव में रहा है, इस कारण वह पत्नी से प्रसन्न न रह सका। अधिकांश लोगों में ऐसी वृत्ति देखी जाती है। उसका अपनी भगिनी के प्रति भी कुछ अव्यक्त-सा आकर्षण रहा है। वह अंश ऐसा है कि मानों फ्रॉयड के सिद्धान्तों के उदाहरण में ही उपस्थित किया गया हो। अञ्चल जी अपनी 'चढ़ती धूप' में गांधीवाद

के खण्डन में इतने उग्र नहीं हुए हैं जितने कि नागर जी। तकली के अर्थशास्त्र पर व्यङ्ग्य करने के लिए लट्टू का अर्थ-शास्त्र प्रतिपादित होता है। नायक एक विशेष मानसिक दौर्बल्य से ग्रस्त है। उसमें समाज के प्रति जो विद्रोह है वह उन पारिवारिक परिस्थितियों में कुछ मनोवैज्ञानिक हो जाता है। वह निष्क्रियता और असफलता का प्रतीक है। नागर जी ने स्वयं ही लिखा है कि जहाँ प्रेमचन्द जी 'एक्शन' का प्रतिनिधित्व कर सके थे वहाँ इन पंक्तियों के लेखक ने 'इन-एक्शन' का चित्रण किया है। प्रसङ्ग वश प्रेस के मालिक बाबूजी का अच्छा चित्रण हुआ है। ऐसे दिखावटी सैद्धान्तिक लोगों की समाज में कमी नहीं है।

मार्क्सवाद से प्रभावित उपन्यास-लेखकों में यशपाल और राहुल जी अग्रगन्य हैं। यशपाल जी के उपन्यास हैं—'दादा कामरेड', 'देश-द्रोही,' 'पार्टी कामरेड', और 'दिव्या'। इन उपन्यासों में राजनीति के साथ रोमांस भी चलता है। 'दादा कामरेड' में 'देशद्रोही' की अपेक्षा सिद्धान्तों और जीवन का अधिक समन्वय है। 'देशद्रोही' का नायक डाक्टर खन्ना कम्यूनिस्ट अवश्य है किन्तु उसका चरित्र कम्यूनिस्ट सिद्धान्तों को बल देने वाला नहीं है। उसमें पलायनवाद अधिक है। पात्रों के वार्तालाप में कम्यूनिस्ट सिद्धान्तो का प्रतिपादन और कांग्रेस का विरोध अवश्य हुआ है। काँग्रेस सोशलिस्ट शिवनाथ कहता है—"जनमत पैदा करने के साधन सब पूँजीपतियों के हाथ में हैं। ये शोषित जनता के 'हाय रोटी' कहने को संकीर्णता, स्वार्थ और श्रेणी-हिंसा कहते हैं और अपनी श्रेणी के अधिकार बढ़ाने के आन्दोलन को 'हाय देश' कह उसे त्याग बताते हैं। यदि काँग्रेस-आन्दोलन में सहयोग दे आने की शर्त ईश्वर में विश्वास होना हो सकती है तो फिर जनता को मूर्ख बनाये जाने की कोई सीमा नहीं।' इस प्रकार उपन्यास सिद्धान्तों के प्रोपेगैन्डा का साधन बनता जा रहा है। यशपाल जी अपने 'पार्टी कामरेड' काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओं और उनके प्रोग्राम पर व्यङ्ग्य करते हुए कम्यूनिस्ट पार्टी में काम करने वाली उपन्यास की नायिका गीता को शारीरिक प्रलोभनों से ऊँचा उठाकर एक आदर्शवाद की ओर चले गये हैं। नायिका और सेठ भाभरिया जी दोनों के ही वैयक्तिक आकर्षण पार्टी के कठोर अनुशासन की आग में भस्म हो जाते हैं। इसका अन्त एक ऐसी करुणा में होता है जो पार्टी के अनुशासन की दृढ़ता

को और भी उभार में ले आता है। हमको गीता और सेठ के साथ हार्दिक सहानुभूति उत्पन्न होती है। इस उपन्यास में व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व दिया गया है। कम्यूनिस्ट उपन्यासों का जो यथार्थवाद के प्रति स्वाभाविक झुकाव होता है वह इसमें नहीं दिखाई देता है! लेखक गांधीवाद को सफाई देने का अवसर नहीं देता और मार्क्सवाद की महत्ता दिखलाने के लिए सक्रिय-सा हो जाता है।

जहाँ यशपाल जी ने वर्तमान वातावरण में सामाजिक आन्दोलनों के साथ मार्क्सवाद का प्रतिपादन किया है वहाँ राहुल सांकृत्यायन जी ने अपने 'सिंह सेनापति' में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उन सिद्धान्तों का उद्घाटन किया है। उसमें गणतन्त्रों का वर्णन है और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से ऐतिहासिक तथ्यों का निरूपण हुआ है। इस उपन्यास में मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर एक आदर्श समाज (Utopea) का वर्णन है।

राजनीतिक वादों के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से श्री भगवती चरण वर्मा का 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' नाम का उपन्यास पठनीय है। इसमें वानपुर के तालुकेदार रमानाथ तिवारी के तीन लड़के अपनी-अपनी रुचि और परिस्थितियों के अनुकूल तीन विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। दयानाथ कांग्रेसी नेता बनकर जेल जाता है। उमानाथ जर्मनी से कम्यूनिस्ट विचार-धारा अपने साथ लाता है और वह मजदूर आन्दोलन में भाग लेता है और प्रभानाथ वीणा मुकर्जी नाम की एक लड़की के सम्पर्क में आने से आतङ्कवादी बन जाता है। वह राजनीतिक डाकों में भाग लेता है और उन्हीं में उसका अन्त होता है। इस उपन्यास में यद्यपि तीनों ही नायक जीवन में असफल रहकर करुणा जनक अवस्था को प्राप्त होते हैं तथापि तीनों मार्गों के झाड़ झंकारों का परिचय मिल जाता है। साथ ही हमको रमानाथ के चरित्र में एक रूढ़िवादी ताल्लुकेदार की अहंवादी मनोवृत्तियों का अध्ययन मिल जाता है। उनमें यदि कहीं कोमलता की स्वर्ण-रेखा है तो पुत्र स्नेह के कारण।

उपन्यासों के नये 'टैकनीकों' का प्रयोग करने की ओर भी हिन्दी के महारथियों की दृष्टि गयी है। इसमें अज्ञेय जी का 'शेखर-एक जीवनी' अभूतपूर्व है। वह एक जीवनी के रूप में है जिसमें औपन्यासिकता का चमत्कारिक आरम्भ और नाटकीय प्रवेश और घटना का प्रबन्ध पूर्वक

ऐसे भी आये हैं जो कि कथानक को अग्रसर करने में अधिक सहायक नहीं हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का उपन्यास संस्कृत के 'हितोपदेश' और 'पंचतन्त्र' की उपदेशात्मक शैली से आरम्भ होकर तिलस्म, ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों द्वारा मनुष्य की कौतूहल-बुद्धि को जाग्रत करता हुआ ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक घटनाओं और समस्याओं के चित्रण पर आया और उनमें उन्हीं समस्याओं के सहारे चरित्र-चित्रण की ओर रुचि बढ़ी। राजनीतिक में उसने गांधीवाद और मार्क्सवाद दोनों ही पक्ष लिये। अब वह व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक चित्रण की ओर जा रहा है। उपन्यास एक नये प्रकार की संस्कृति का पोषण कर रहे हैं। इसमें भय केवल इतना ही है कि पुरानी संस्कृति में जो कुछ सारवान है वह भी न खो दिया जाय। भूसी के साथ गेहूँ फेंक देना बुद्धिमानी न होगी।

श्रव्यकाव्य—(गद्य)

कथा साहित्य—कहानी

आज कल की हिन्दी-कहानियाँ, जिनको 'गल्प', 'आख्यायिका 'लघु कथा' भी कहते हैं, तो भारत की पुरानी कहानियों की ही संतति; किन्तु विदेशी संस्कार लेकर आई हैं। खद्दर के सूट की भाँति उनकी सामग्री प्रायः देशी रहती है; किन्तु काट-छाँट अधिकांश में विलायती ढँग का होता है।

वर्तमान कहानी का जन्म

नये प्रकार की कहानी का जन्म वर्तमान युग की आवश्यकताओं में हुआ है। मासिक पत्रिकाएँ, दैनिकों-जैसे क्षण-जीवी और पुस्तकों जैसे अपेक्षाकृत स्थायी साहित्य के बीच की वस्तु होती है। वे मास प्रति-मास नई सामग्री उपस्थित कर पाठकों के मनोरञ्जन तथा ज्ञानवृद्धि का साधन बनती हैं और गृह-कक्ष में, रेल के सफर में और कभी-कभी स्कूल-कालेजों के खाली घण्टों में, अथवा अध्यापक की आँख बचाकर भरे घंटों में भी कम से कम पीछे की बेंचों पर भी मन-बहलाव करने वाले वार्तालाप-कुशल मित्र का काम देती हैं। आजकल रेडियो ने इस सेवा का बहुत-सा भार अपने ऊपर ले लिया है।

हिन्दी में इस प्रकार के मासिक-साहित्य का चलन बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ था। कुछ तो नये युग में बढ़ती हुई जीवन की प्रतिद्वन्द्विताओं से उत्पन्न होने वाले समयाभाव और उतावलेपन के कारण और कुछ इन मासिक-पत्रिकाओं की भस्मक रोग-की-सी तृप्तिहीन क्षुधा के निवारणार्थ ऐसे स्वतःपूर्ण मनोरञ्जक साहित्य की आवश्यकता बढ़ी, जो फ़ालतू समय को भार-स्वरूप होने से बचाये और साथ ही कौतूहल और जिज्ञासा को बहुत देर तक त्रिशंकु-गति में न रक्खे।

आधुनिक कहानियों और प्राचीन कहानियों में कई बातों में अन्तर है। प्राचीन कहानियाँ दो प्रकार की हैं—एक मौखिक और दूसरी साहित्यिक। मौखिक कहानियाँ प्रायः रात में कही जाती थीं; क्योंकि दिन में कहने

से मामा के गैल भूल जाने की आशङ्का रहती थी (वास्तव में दिन काम का समय समझा जाता था) और वे सीधी-सच्ची आडम्बर-रहित भाषा में कही जाती थीं। उनमें पात्रों के व्यक्तित्व का पूर्ण अभाव-सा था। एक राजा था, एक रानी, उसके नाम-ग्राम से कोई मतलब नहीं, यदि राजाओं के नाम भी रहते थे, तो भोज, विक्रम, उदयन आदि राजाओं के, जो एक प्रकार से कहानियों के लोक-प्रसिद्ध और सार्वजनिक आलम्बन थे। कालिदास ने मेघदूत में ऐसे ग्राम-वृद्धों का उल्लेख किया है, जोकि उदयन की कथाओं में निपुण थे 'उदयन कथाकोविदग्रामवृद्धान्' प्राचीन कहानियों में कहानी-दर-कहानी का गोरख-धन्धा भी रहता था। इनमें मनुष्य और जानवर समान रीति से भाग लेते थे।

आधुनिक कहानी की विशेषताएँ

साहित्यिक कहानियों में पात्र कुछ पते-ठिकाने के होते थे; जैसे—'कर्पूरद्वीप में पद्मकेलि नाम का तालाब था, वहाँ पद्मगर्भ नाम का राजहंस रहता था।' जानवरों तक के नाम होते थे; जैसे—चित्रग्रीव कबूतर, चित्रवर्ण मयूर। साहित्यिक कहानियों में कुछ ने अलंकृत और समास-पूर्ण शैली को अपनाया और कुछ सरल भाषा में लिखी गईं। उनमें भी मनुष्य और जानवर समान भाव से भाग लेते थे और प्रायः कहानी-दर-कहानी की भूल-भुलैया रहती थी।

आधुनिक कहानियाँ प्रायः मानवकेन्द्रित होती हैं और उनमें राजा, मन्त्री और साहूकार के बेटे-बेटियों की अपेक्षा साधारण श्रेणी के लोग, जिनका हमें निकटतम परिचय होता है, अधिक रहते हैं। यद्यपि पहले जमाने की कहानी भी 'लोकहितार्थ' लिखी जाने के कारण मानवकेन्द्रित हो थी, तथापि उसमें मानवेतर सृष्टि को पर्याप्त मात्रा में स्थान मिलता था। आधुनिक कहानी में पहले की अपेक्षा कौतूहल की मात्रा कम हो गई है और नित्य-नया रूप धारण करने वाली नवीनता तथा बुद्धिवाद को अधिक स्थान मिलता जा रहा है।

आधुनिक काल में भाग्य की अपेक्षा पुरुषार्थ पर अधिक जोर दिया जाता है; क्योंकि इस युग में मनुष्य अपनी शक्तियों पर अधिक भरोसा रखता है; यदि कोई नगर में प्रवेश करते ही इसलिए राजा बन गया कि पहले राजा का हुकुम था कि सवेरा होते ही जिस पर नजर पड़े वह गद्दी का अधिकारी बना दिया जाय, तो इसमें मनुष्य

का क्या गौरव बढ़ता है ? हम पुरुषार्थ पर गर्व कर सकते हैं, वह अपनी चीज है। भाग्य भी कर्मों का ही फल है; लेकिन वह इस जन्म के कर्मों का नहीं। बासी रोटी में चाहे खुदा का साझा न हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं; किन्तु उसमें ताजी और अपने हाथ से बनाई हुई का मजा नहीं आता।

पहली कहानी का रस चमत्कार में था, आज की कहानी का रस चरित्र-चित्रण, भावों के उतार-चढ़ाव और विचारों के विश्लेषण अथवा समस्याओं के उद्घाटन और उनके हल के सुझाव में है। हृदयेशजी या प्रसादजी को छोड़कर आधुनिक कहानी में कादम्बरी या दशकुमार-चरित्र-की-सी अलङ्कारप्रियता भी नहीं है; किन्तु वे सादा होते हुए भी वह अपना गौरव रखती हैं। उसकी सादगी दरिद्र की कलाहीन सादगी नहीं है। अब कहानी में केवल विवरण की अपेक्षा कथोपकथन को भी अधिक आश्रय मिलता जा रहा है।

बिलकुल आधुनिकतम कहानी में घटना-चक्र का महत्त्व घटता जा रहा है। घटनाएँ भाव और विचारों को आश्रय देने के लिए अर्गला (अर्गनी) का-सा काम देती हैं और कहीं-कहीं वे एक बिन्दु की खूँटी मात्र रह जाता हैं।

अब हम कहानी के रूप और परिभाषा का विचार करने के लिए कुछ-कुछ तैयार हो गये हैं। परिभाषा के श्रोता तो दुर्लभ नहीं हैं; किन्तु

रूप और परिभाषा

उसकी कठिनाई के कारण वक्ता अवश्य दुर्लभ हैं। जो वस्तु दिन-दिन रूप बदलती हुई विकास को प्राप्त हो रही है, उसकी परिभाषा देना उतना ही कठिन है, जितना कि बिहारी की नायिका की तसवीर खींचना, जो चतुर चितेरों को भी कूर बना देता है। इसलिए कुछ अनुभवी आलोचकों ने हैरान होकर संक्षिप्तता को उसका एकमात्र लक्षण माना है। आङ्गलदेश के प्रसिद्ध उपन्यासकार एच० जी० वेल्स ने कहानी को वह कथा कहा है जो एक घण्टे में पढ़ी जा सके। (Fiction that can be read in an hour) हास्य की भाँति संक्षिप्तता ही इसकी भी जान बतलाई गई है। फिर भी कहानी में कुछ अपनी विशेषता रहती है।

मेथ्यू आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की आलोचना कहा है। यदि किसी प्रकार का साहित्य इस कथन को अधिक-से-अधिक सार्थकता प्रदान करता है तो वह कथा साहित्य है, जिसमें उपन्यास और कहानी

दोनों शामिल हैं। कहानी उपन्यास की भाँति कही जाती है और भूत से सम्बन्ध रखती है। नाटक में भूत को वर्तमान में घटता हुआ दिखाने का लक्ष्य रहता है। उपन्यास और कहानी में भूत की बात घटे हुए के रूप में दिखाते हैं। भविष्य की पृष्ठभूमि में भी कहानी बैठाई जा सकती है; किन्तु उसे लेखक पहले अपनी कल्पना में घटा हुआ देख लेता है।

उपन्यास जीवन का पूरा चित्र है तो वह एक पक्ष की झाँकी मात्र है। इसीलिये उसे अङ्गरेजी लेखकों ने जीवन का स्पेनशॉट (Snapshot) या जीवन का टुकड़ा (slice from life) कहा है; किन्तु वह टुकड़ा ऐसा होता है कि छिपकली की पूँछ की भाँति बिल्कुल सफाई से साथ अलग हो जाता है। वह स्वतःपूर्ण होता है। उसमें तन्तु बाहर से लाकर नहीं जोड़ने पड़ते हैं और न 'संदर्भ देकर' (with reference to context) उसकी व्याख्या करनी पड़ती है। उसमें मुक्तक काव्य-का-सा एकाङ्गी, पर पूरा चित्र रहता है। कहानी छोटी होते हुए भी किसी बड़े तथ्य का उद्घाटन करती है और जितना ही वह तथ्य व्यापक होता है, उतनी ही कहानी उत्तम होती है। कहानी अपने छोटे मुँह से बड़ी बात कहती है। तथ्य में केवल विचार ही शामिल नहीं है, वरन् भाव भी सम्मिलित है।

पाश्चात्य देशों में एडगर एलिन पो आधुनिक कहानी के चाहे जन्म दाता न हों किन्तु जन्मदाताओं में एक माने जाते हैं। उनकी कहानी की परिभाषा इस प्रकार है:—

A short story is narrative short enough to be read in a single sitting, written to make an impression, on the reader, excluding all that does not forward that impression, complete and final in itself.

अर्थात् छोटी कहानी एक ऐसा आख्यान है जो इतना छोटा है कि एक बैठक में पढ़ा जा सके और जो पाठक पर एक ही प्रभाव के उत्पन्न करने का उद्देश्य से लिखा गया हो। उसमें ऐसी सब बातों का बहिष्कार कर दिया जाता है जो उस प्रभाव को अग्रसर करने में सहायक न हो। वह स्वतःपूर्ण होती है।

सर ह्यूवाल पोल (Sir Hugh Walpole) की भी परिभाषा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार कहानी कहानी होनी चाहिये अर्थात् उसमें घटित होने वाली वस्तुओं का लेखा-जोखा होना चाहिये,

घटना और आकस्मिकता से पूर्ण हो उसमें क्षिप्रगति के साथ अप्रत्याशित विकास हो जो कौतूहल द्वारा चरम बिन्दु और सन्तोषजनक अन्त तक ले जाय।

A short story shoned be a story: a record of things full of incident and accident, swift movement unexpected development leading through supsense to a climax and a satisfying denouement.

रायबहादुर डॉक्टर श्यामसुन्दरदासजी ने अपनी परिभाषा में नाटकीय ढंग पर अधिक बल दिया है, किंतु निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को उन्होंने भी आवश्यक माना है, उनकी परिभाषा इस प्रकार है—

'आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।'

ऊपर के विवेचन के आधार पर छोटी कहानी या आख्यायिका की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है *छोटी कहानी एक स्वतःपूर्ण रचना है जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति केन्द्रित घटनाया घटनाओं के आवश्यक परन्तु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढंग से उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहल-पूर्ण वर्णन हो।*

भूतकाल से सम्बन्ध रखने के कारण कहानी और उन्यास इतिहास के समान धर्मी हैं। कहानी और इतिहास शब्द भी समान अर्थवाले हैं। इतिहास का भी अर्थ है—उसने कहा था; किंतु इतिहास और कहानी या उपन्यास के दृष्टिकोण में अंतर है इस बात को हम उपन्यास के सम्बन्ध में स्पष्ट कर चुके हैं।

कहानी और इतिहास

कहानी अपने पुराने रूप में उपन्यास की अग्रजा है और नये रूप में उसकी अनुजा। वृत्त या कथा-साहित्य की वंशजा होने के कारण कहानी और उपन्यास दोनों में ही कई बातों की समानता है। दोनों ही विधाएँ कलात्मक रूप से मानव-जीवन पर प्रकाश डालती हैं। इतना होते हुए भी दोनों की अपनी विशेषताएँ हैं, जो कि एक-दूसरे से पृथक करती हैं। दोनों में केवल आकार का ही भेद नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि कहानी छोटा उपन्यास है अथवा उपन्यास बड़ी

कहानी और उपन्यास

कहानी है। यह कहना ऐसा ही असंगत होगा, जैसे चौपाए होने की समानता के आधार पर मेंढ़क को छोटा बैल और बैल को बड़ा मेंढ़क कहना। दोनों के शारीरिक संस्कार और संगठन में अन्तर है। बैल चारों पैरों पर समान बल देकर चलता है, तो मेंढ़क उछल-उछलकर रास्ता तय करता है। इस प्रकार कहानीकार भी बहुत-सी जमीन छोड़ता हुआ छलाङ्ग मारकर चलता है। दोनों के गति-क्रम में भेद है।

कहानी को हमने जीवन की एक झलक या झाँकी कहा है। झाँकी प्रायः क्षणिक; परन्तु प्रभाव-पूर्ण होती है। कहानीकार केवल एक ही दृश्य पर सारा आलोक केन्द्रस्थ कर उसके प्रभाव को तीव्रतम बना देता है। उपन्यासकार पूर्ण चिड़िया ही नहीं; वरन् और-पास बैठी हुई दूसरी चिड़ियों को तथा जहाँ तक उसकी निगाह दौड़ सके, पूरे दृश्य का सावधानी के साथ अवलोकन करता है; किन्तु कहानीकार धनुर्विद्या-विशारद वीर अर्जुन की भाँति अपने निशाने को अचूक बनाने के लिए केवल आँख को और ज्यादह-से-ज्यादह सिर को जिसमें आँख अवस्थित है, लक्ष्य कर तीर छोड़ता है।

कहानीकार अपने पाठक को अन्तिम संवेदना तक शीघ्रातिशीघ्र ले जाता है और एक साथ पर्दा उठाकर सजा-सजाई झाँकी की मोहक एवं आकर्षक छटा से मनोमुग्ध कर देता है। वह बीच-बीच में रहस्योद्घाटन नहीं करता, एक दो संकेत चाहे करदे; किन्तु अन्तिम क्षण तक बात को पेट में पचाये रखता है। अन्तिम संवेदना से ही बीच के संकेत भी सार्थक हो जाते हैं। उपन्यास के पाठक को जहाँ ग्रन्थकार के विश्वास-पात्र होने का गौरव प्राप्त है, वहाँ कहानी के पाठक को अधिक प्रभावपूर्ण दृश्य के देखने और केन्द्रीभूत आनन्द के प्राप्त करने का सन्तोष है। कहानी की एक तथ्यता ही उसका जीवन रस है और वही उसे उपन्यास से पृथक् करता है।

इसी मौलिक भेद के कारण दोनों प्रकार की रचनाओं के शिल्प-विधान (Tehnique) में भी अन्तर पड़ जाता है। वातावरण का विस्तार, जीवन की अनेकरूपता, प्रासङ्गिक कथाओं के तारतम्य के कारण कथा-प्रवाह का बहुशाखा होकर अन्त की ओर अग्रसर होना, पात्रों का बाहुल्य आदि बातें जो उपन्यास में श्लाघ्य या कम-से-कम क्षम्य समझी जाती हैं, कहानी में अग्राह्य हो जाती हैं।

शिल्प विधान की तुलना

कहानी में चरित्र के विकास के लिए अधिक गुञ्जाइश नहीं रहती उसमें गढ़े-गढ़ाये चरित्र की एक झलक दिखाई जाती है, जिससे पूरे चरित्र का भी कुछ आभास मिल जाता है। वास्तव में वह चित्रण नहीं होता, वरन् क्षणिक-प्रकाश होता है। कहानी के किसी पात्र में यदि चरित्र-परिवर्तन भी होता है, तो प्राय: एक ही प्रभाव-पूर्ण घटना से ही होजाता है। उसमें सुनार की सौ चोटों की जरूरत नहीं, वरन् लुहार की एक गहरी चोट ही काम कर जाती है। मुन्शी प्रेमचन्द की 'आत्मा-राम', 'शंखनाद' (जिसमें बेफिक्र, मन-मौजो गुमान पैसे के अभाव-वश अपने बच्चे को खिलौना खरीदने की असमर्थता और निराशा से प्रभावित हो अपना रवैया बदल देता है और बच्चे का रोना ही उसके लिए कर्त्तव्य का शङ्खनाद बन जाता है) कौशिकजी की 'ताई' और श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार लिखित 'डाकू' शीर्षक कहानियाँ हिन्दी-कहानी-साहित्य में चरित्र-परिवर्तन के अच्छे उदाहरण हैं; किन्तु ये सब हैं एक ही चोट के प्रभाव। कहानो में कथानक चरित्र-चित्रण और वातावरण (वह चाहे वाह्य हो या आन्तरिक) होते सब हैं किन्तु मुख्यता एक को ही मिल सकती है। शेष दो बहुत गौण हो जाते हैं उपन्यास में मुख्यता चाहे एक को ही रहे किन्तु तीनों को उचित विस्तार मिल जाता है। उपन्यास की सफलता सभी तत्वों के यथोचित समावेश में है।

कहानी की शैली अपनी संक्षिप्तता के कारण अधिक व्यञ्जनाप्रधान होती है। उसमें 'गागर में सागर' भरने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। व्यञ्जना, जो काव्य का प्राण है, उपन्यास की अपेक्षा कहानी में अधिक मात्रा में वर्तमान रहती है; इसलिये वह काव्य के अधिक निकट आ जाती है। इसके अतिरिक्त उपन्यास का काव्यत्व बिखरा-सा रहता है; किन्तु कहानी का यह गुण उसकी एक-ध्येयता के कारण अन्तिम बिन्दु में स्थित रहता है।

कहानी में व्यञ्जना की मात्रा पाठकों के मानसिक धरातल के अनुकूल घटती-बढ़ती रहती है। जो कहानियाँ निम्न श्रेणी के लोगों के लिए अथवा पढ़कर सुनाये जाने के उद्देश्य से लिखी जाती हैं उनमें घटना की प्रधानता रहती है किंतु जो अपेक्षाकृत सुपठित समाज के लिए शान्ति-पूर्वक अध्ययन-कक्ष के या शयनागार के भीतर पढ़े जाने के लिए लिखी जाती है उनमें व्यञ्जना और विचार की मात्रा अधिक रहती है।

कहानी में प्रगीतकाव्य का संगीत तो नहीं होता किन्तु वह अपनी एकध्येयता और वैयक्तिक दृष्टि-कोण की प्रधानता के कारण उसके अधिक निकट आ जाती है। कहानी का अन्तिम बिन्दु या तथ्य कहानीकार के मन में पहले से झलक जाता है। वह प्राय: किसी घटना विशेष को देखकर स्फुरति होता है और कभी-कभी वैसे भी बिजली की भाँति चमक जाता है। यदि उसका स्फुरण आन्तरिक हुआ तो वह उसको मूर्त रूप देने के लिए घटना का कल्पना से आविष्कार कर लेता है। कहानीकार का लक्ष्य तो उस तथ्य को ही प्रकाश में लाना रहता है फिर भी वह भाव को निरालम्ब नहीं रखता है वरन उसकी पुष्टि में घटना-चक्र का आवश्यक मात्रा में समावेश कर देता है।

कहानी और प्रगीत काव्य

संगीत के अभाव के कारण कहानी गद्य-काव्य के अधिक निकट है किन्तु गद्य-काव्य के साथ भी उसका वही भेद है जो प्रगीतकाव्य के साथ। गद्य की एक विधा होने के कारण तो कहानी भी गद्य-काव्य है किन्तु काव्य के विशेष अर्थ में (जैसे राय कृष्णदास या वियोगी हरि के गद्य-काव्य) वह गद्य-काव्य के निकट होता हुआ भी उससे भिन्न है। उसमें घटना की अपेक्षा रहती है, गद्य-काव्य में नहीं।

कहानी और गद्य काव्य

गद्य-काव्य में घटनाओं का अभाव-सा रहता है और यदि घटनाएँ रहती हैं तो उनको महत्त्व न देकर उनसे जाग्रत हृदयोद्गारों को ही मुख्यता दी जाती है। कहानी में उद्गारों के साथ घटनाओं को भी समान महत्त्व का अधिकार रहता है।

रेखा-चित्र या स्केच कहानी के बहुत निकट होते हुए भी उससे भिन्न है। रेखा-चित्र में एक हा वस्तु या पात्र का चित्राङ्कन रहता है और वह एक प्रकार से स्थायी होती है। कहानी में गत्यात्मकता रहती है। स्केच में वर्णन (Description) का प्राधान्य रहता है। कहानी में वर्णन के साथ कुछ प्रबन्धात्मक कथन (Narration) भी रहता है। हिन्दी में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने बहुत सुन्दर रेखा-चित्र लिखे हैं। उनमें जिन वस्तुओं या व्यक्तियों का (जैसे 'लैटरबक्स' 'पेट्रोल टंक' या 'लालाजी') चित्र खींचा जाता है, उसमें उस वस्तु के स्थायी सम्बन्ध को ही उपस्थित किया जाता है। कहानी में एक विशेष गति रहती है।

कहानी और रेखा-चित्र

उसमें काल-क्रम का विकास रहता है अर्थात् वह चलता हुआ दिखाई देता है। रेखा-चित्र में इस बात का अभाव सा रहता है। कहानी में जितना काल-क्रम घटता जाता है उतनी ही वह रेखा-चित्र के निकट आ जाती है।

कथा-साहित्य के अंतर्गत होने के कारण वस्तु, (Plot) चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, उद्देश्य और शैली ये छै तत्व तो उपन्यास की भाँति ही होते हैं; किन्तु रचना के रूप-विशेष के कारण उनके प्रयोग में थोड़ा अन्तर होता है। शरीर के अवयवों की भाँति ये तत्व भी अन्योन्याश्रित हैं।

कहानी के तत्व

कहानी की कथा-वस्तु अत्यन्त संक्षिप्त होती है। उसमें शहर के रहने वाले अल्प-संख्यक परिवार के कक्ष की भाँति प्रसङ्गागत महमानों के लिए समाई नहीं। कहानीकार अपने पाठक को अन्त तक पहुँचाने में इधर-उधर घूमने या 'चिलम-तमाकू पीने' का अवकाश नहीं देता। घटनाओं के सम्बन्ध में बिना प्रयोजन अन्दर आने की इजाजत नहीं', कहानीकार का मूल-मंत्र कहा गया है 'No admittance except on business must be the short story writer's motto' इसी के साथ घटनाओं को परस्पर सम्बद्ध होना भी आवश्यक है। उनका तारतम्य ऐसा हो कि वे एक कौतूहल की शृङ्खला में बँधी हुई आगे बढ़ती चली जायँ और ऐसी भी न मालूम हो कि वे जबरदस्ती ढकेल दी गई हैं।

कथावस्तु

कहानी का कथानक आरम्भ होकर प्रायः किसी न किसी प्रकार के संघर्ष द्वारा क्रमशः उत्थान को प्राप्त होता हुआ 'चरम' या तीव्रतम स्थिति (climax) को पहुँचता है, वहाँ पर कौतूहल क्रमशः अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है और कौतूहल का चमत्कारिक और कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढंग से अन्त हो जाता है। वहाँ पर आकर ऊँट एक निश्चित करवट से बैठ जाता है। इसके पश्चात कहानी का परिणाम या अन्त आता है, जिसमें पूरे तथ्य का उद्घाटन हो जाता है। चरम या तीव्रतम स्थिति परिणाम को अधिक महत्वपूर्ण बना देती है। यह कहानी के लिये अनिवार्य नहीं किन्तु इसके द्वारा कहानी को अधिक उत्कर्ष प्राप्त होता है। किन्हीं-किन्हीं कहानियों में यह चरम बिन्दु बड़ा स्पष्ट और नुकीला होता है और किन्हीं में कुछ फैला-सा रहता

है। प्रसाद जी की 'मधुआ' नाम की कहानी में यह कुछ फैला-सा दिखाई देता है।

कहानी के आरम्भ में अन्त का थोड़ा-सा संकेत रहना वाञ्छनीय रहता है, जिससे अन्त अप्रत्याशित होते हुए भी नितान्त आकस्मिक न लगे। यद्यपि कहानी की गति उपन्यास-की-सी वक्र नहीं होती, तथापि एक-दो घुमाव उसकी रोचकता को बढ़ा देते हैं। जीवन का प्रवाह भी संघर्ष-मय है। वह भी भुजङ्गम गति से चलता है। कहानी उससे भिन्न नहीं हो सकती। कहानी में कई घटनाएँ हो सकती हैं और होती हैं किन्तु उनमें एकता और अन्विति आवश्यक होना चाहिए। चरम-सीमा का सम्बन्ध प्रायः मूल घटना से होता है।

यद्यपि आज का मानव पुरुषार्थ को महत्त्व देता है, फिर भी जीवन में ऐसे अवसर आ जाते हैं, जब कि कहना पड़ता है कि 'मेरे मन कछु और है कर्ता के कछु और' Man Proposes God Disposes. कहानीकार को भी ऐसा अवसर उपस्थित करना पड़ता है। इसी को विधि का विधान कहते हैं। केवल करुणोत्पादन के लिए विधि के विधान का आश्रय लेना अवाञ्छनीय है; किन्तु यदि पुरुषार्थ की सीमा बतलाने के लिए ऐसा किया जाय, तो कोई हानि नहीं। इस प्रकार कहानी का कथानक बहुत अंश में कलाकार के उद्देश्यों और जीवन-मीमांसा पर निर्भर रहता है।

आजकल कथानक को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता, जितना कि चरित्र-चित्रण और भावाभिव्यक्ति को। चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध

चरित्र-चित्रण

पात्रों से है। कहानी में पात्रों की संख्या न्यूनातिन्यून होती है। कहानी में पात्रों के चरित्र का पूर्ण विकास क्रम नहीं दिखाया जाता वरन् प्रायः बने-बनाये चरित्र के ऐसे अंश पर प्रकाश डाला जाता है जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व झलक उठे।

कहानी के पात्र चाहे कल्पना-लोक के हों और चाहे वास्तविक संसार के; किन्तु वे सजीव और व्यक्तित्व-पूर्ण होने चाहिए। जो पात्र मिट्टी के थूमें की भाँति अपना कोई व्यक्तित्व न रखते हों, वे पाठकों में रुचि नहीं उत्पन्न कर सकते हैं। पात्र होते तो हैं लेखक के मानस-सन्तान किन्तु वे लेखक के हाथ की कठपुतली नहीं बन जाते लेखक पात्र को जो व्यक्तित्व प्रदान करता है, बिना पर्याप्त कारणों के उसे बदलता नहीं

है और पात्र एक बार कल्पना-लोक में जन्म लेकर अपने व्यक्तित्व के अनुकूल ही कार्य-कलाप करते हैं। वे कथानक की आवश्यकताओं की पूर्ति-मात्र नहीं करते। सिवाय इस बात के कि कहानी में चरित्र के विकास की कम गुंजाइश रहती है उसमें बने-बनाये चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और यदि परिवर्तन होता है तो एक साथ, क्रमशः नहीं और सब बातें प्रायः उपन्यास-की-सी हैं।

चरित्र-चित्रण के प्रकार

चरित्र-चित्रण कई प्रकार से होता है। उसके दो मुख्य प्रकार हैं—एक तो प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक (Direct or analytical) जिसमें कि लेखक स्वयं पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालता है और दूसरा है परोक्ष या नाटकीय (Indirect or Dramatic) ढंग, जिसमें चरित्र या तो पात्रों के वार्तालाप या कार्य-कलाप से अनुमेय रहता है। इसमें भी कभी-कभी लेखक किसी पात्र-द्वारा सीधे या संकेतात्मक रूप से टीका-टिप्पणी करा देता है। साँकेतिक चित्रण वह होता है जिसमें गुणों की अपेक्षा उनके द्योतक करने वाले कार्यों का अधिक वर्णन रहता है। प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण में भी प्रायः साँकेतिक ढङ्ग ही अधिक पसन्द किया जाता है। साँकेतिक रूप से प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण का मुन्शी प्रेमचन्द जी की 'लाञ्छन' शीर्षक कहानी से एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

'वह पढ़ी-लिखी गरीब बूढ़ी औरत थी; देखने में सरल, बड़ी हँसमुख; लेकिन जैसे किसी चतुर प्रूफ-रीडर की निगाह गलतियों पर ही जा पड़ती है, उसकी आँखें बुराइयों पर ही जा पड़ती थीं। शहर में ऐसी कोई महिला न थी, जिसके विषय में दो-चार लुकी-छुपी बातें उसे न मालूम हों। उसकी चाल में बिल्लियों-का-सा संयम था। दबे पैर धीरे-धीरे चलती; पर शिकार की आहट पाते ही, जान मारने को तैयार हो जाती थी। उसका काम था महिलाओं की सेवा-टहल करना; पर महिलाएँ उसकी सूरत से काँपती थीं।

परोक्ष चित्रण में आजकल वार्तालाप द्वारा चरित्र-चित्रण को मुख्यता दी जाती है। इसमें लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं कहता। पात्रों का चरित्र उनके वार्तालाप द्वारा अनुमेय रहता है और कभी-कभी पात्र स्वयं अपने चरित्र का विश्लेषण कर देता है या दूसरा पात्र उसके विषय में कुछ शब्द या वाक्य सीधे या सांकेतिक रूप से कह देता है। देखिए—

'हाँ-हाँ, मैं जानता हूँ। तुम मुझे दरिद्र युवक समझ कर मेरे ऊपर कृपा

रखते थे; किन्तु उसमें कितना तीक्ष्ण अपमान था, इसका मुझे अब अनुभव हुआ।

·········न अभी न फिर कभी। मैं दरिद्रता को भी दिखला दूँगा, कि मैं क्या हूँ। इस पाखण्ड-संसार में रहूँगा, परन्तु किसी के आगे सिर न झुकाऊँगा। हो सकेगा, तो संसार को बाध्य करूँगा झुकने के लिए।'

—प्रसाद जी की 'व्रतभङ्ग' नाम की कहानी से।

दूसरे पात्र के मुख से किसी के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ कहाने का एक छोटा-सा उदाहरण उसी कहानी से दिया जाता है। नन्दन के क्षमा माँगने पर राधा कहती है—'स्वामी यह अपराध मुझ से न हो सकेगा, उठिए, आज आपकी कर्मण्यता से, मेरा ललाट उज्ज्वल हो रहा है। इतना साहस कहाँ छिपा था नाथ!'

मुन्शी प्रेमचन्द जी की 'गिला' नाम की कहानी में एक स्त्री अपने पति का चरित्र-चित्रण करती है। उसमें केवल एक ही पात्र है और उसके चित्रण में स्वयं उसके चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। यह वर्णन कहीं तो बिल्कुल सीधा है, और कहीं सांकेतिक। सीधे वर्णन का उदाहरण देखिए—'महाशय अपने दिल में समझते होंगे, 'मैं कितना विनीत, कितना परोपकारी हूँ'। शायद उन्हें इन बातों का गर्व है। मैं इन्हें परोपकारी नहीं समझती, न विनीत ही समझती हूँ। यह जड़ता है, सीधी-सादी निरीहता; इसलिए मैं तो इन्हें कृपण कहूँगी, अरसिक कहूँगी, हृदय-शून्य कहूँगी, उदार नहीं कह सकती।'

फिजूलखर्ची का सांकेतिक उदाहरण नीचे दिया जाता है। यह भी उसी स्त्री द्वारा किया हुआ पतिदेव का चित्रण है। देखिए:—

'सच कहती हूँ, कभी-कभी तो एक-एक पैसे की तंगी हो जाती है और इन भले आदमी को रुपये जैसे घर में काटते हैं। जब तक रुपये के वारे-न्यारे न कर लें, इन्हें चैन नहीं। इनकी करतूत कहाँ तक गाऊँ। मेरी तो नाक में दम आ गया है। एक-न-एक महमान रोज यमराज की भाँति सिर पर सवार रहते हैं। न जाने कहाँ के बेफिक्रे इनके मित्र हैं। कोई कहीं से आकर मरता है, कोई कहीं से। घर क्या है, अपाहिजों का अड्डा बना हुआ है।

वार्तालाप के अतिरिक्त पात्रों का कार्य-कलाप भी उनके चरित्र-चित्रण का एक साधन होता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कहानी में गढ़े-गढ़ाये चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है, उसमें विकास की कम गुंजाइश रहती है।

यदि परिवर्तन होता है, तो प्राय: एक साथ ही होता है, जैसा कि कौशिकजी की 'ताई' शीर्षक अथवा प्रेमचन्द जी की 'शङ्खनाद' आदि कहानियों में हुआ है।

कथोपकथन या वार्तालाप द्वारा ही हम पात्रों के हृदयङ्गत भावों को जान सकते हैं। यदि वार्तालाप पात्रों के चरित्र के अनुकूल न हो, तो हम पात्र के चरित्र का मूल्याङ्कन करने में भूल कर जायँगे। कहानीकार 'घर के मौतबिर नाई' की भांति विश्वास-पात्र अवश्य है; किन्तु मार्मिक स्थलों पर पात्रों के वार्तालाप को ज्यों-का-त्यों उपस्थित कर देने में हमको दूसरे आदमी-द्वारा बताई हुई बात की अपेक्षा परिस्थिति का ठीक अन्दाज लग जाता है। कहानी में कथोपकथन का तिहरा काम रहता है। उसके द्वारा पात्रों के चरित्र का परिचय ही नहीं मिलता, वरन् उसके सहारे कथानक भी अग्रसर होता है और एक जी उबाने वाले प्रबन्ध-कथन के भीतर आवश्यक सजीवता उत्पन्न हो जाती है। कथोपकथन को संगत, सजीव, चमत्कार-पूर्ण और परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिए। हम साधारण जीवन में बहुत-सा निरर्थक वार्तालाप भी करते हैं, किन्तु कहानी में इसकी गुञ्जाइश नहीं। हाँ वार्तालाप में यथार्थता और सजीवता लाने के लिए दो-चार इधर-उधर की भी बातें खप सकती हैं; किन्तु कुशल कलाकार उनको भी सप्रयोजन और चरित्र का परिचायक बना देता है।

कथोपकथन

कहानी में उपन्यास की भांति वातावरण के चित्रण के लिए अधिक गुंजाइश नहीं होती है, फिर भी कहानी में देश-काल की स्पष्टता लाने के लिए तथा कार्य से परिस्थिति की अनुकूलता व्यञ्जित करने के अर्थ इसका चित्रण आवश्यक हो जाता है। वातावरण भौतिक और मानसिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है और भौतिक वातावरण भी प्राय; ऐसा होता है कि जो पात्रों की मानसिक स्थिति की व्याख्या में सहायक हो। वातावरण के चित्रण में प्रसादजी ने विशेषता प्राप्त की है। 'पुरस्कार' कहानी के प्रारम्भिक दृश्य में प्रकृति और जनता की मानसिक स्थिति में बहुत सुन्दर सौम्य है। देखिए:—

वातावरण

'आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष, प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा—देखने लगा महाराज की सवारी। शैल-माला के अंचल में समतल

उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चमरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा, वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें लेने लगा।'

एक और उदाहरण कौशिक जी की 'विद्रोही' शीर्षक कहानी से दिया जाता है:—

'एक महत्त्वपूर्ण अभिमान के विध्वंस करने की तैयारी थी। प्रकृति कांप उठी। घोड़ों और हाथियों के चीत्कार से आकाश थरथरा उठा। बरसराती हवा के थपेड़ों से जंगल के वृक्ष रणनाद करते हुए झूम रहे थे। पशु-पक्षी त्रस्त होकर आश्रम ढूंढ़ने लगे बड़ा विकट समय था।

उस भयानक मैदान में राजपूत सेना मोरचाबन्दी कर रही थी। हल्दीघाटी की ऊँची चोटियों पर भील लोग धनुष चढ़ाये उन्मत्त समान खड़े थे।'

ऐसे स्थलों में वातावरण का वर्णन रसशास्त्र की दृष्टि से उद्दीपन कहलायगा। इस प्रकृति-चित्रण ने युद्ध की भयानकता को और भी गहरा कर दिया है।

उद्देश्य

प्रत्येक कहानी में कोई उद्देश्य या लक्ष्य अवश्य रहता है कहानी का ध्येय केवल मनोरंजन या लम्बी रातों को काटकर छोटा करना नहीं है वरन जीवन-सम्बन्धी कुछ तथ्य देना या मानव मन का निकट परिचय कराना है। किन्तु यह उद्देश्य या तथ्य हितोपदेश या ईसप (Aesop) की कहानियों की भाँति व्यक्त नहीं किया जाता है। वह अधिकांश में व्यञ्जित ही रहता है। कहानी के अध्ययन में उसका उद्देश्य समझना एक आवश्यक बात होती है। कहीं पर यह उद्देश्य स्पष्ट रूप से व्यञ्जित होता है; जैसे—सुदर्शन की 'एलबम' शीर्षक कहानी में। उसका उद्देश्य बहुत ऊँचा हैं ? वह है याचक का स्वाभिमान नष्ट किये बिना उसकी सहायता करना। प्रसादजी की 'मधुआ' नाम की कहानी का उद्देश्य यही है कि जब मनुष्य पर चिन्ता करने का भार पड़ जाता है तब उसका सुधार हो जाता है। शराबी के जीवन में 'मधुआ' के आ जाने से परिवर्तन हो गया। उसको खिलाने की चिन्ता हो गई। वह शराब न खरीदकर लड़के के लिए मिठाई खरीद लाता है और सान चलाने का अपना रोजगार करने लगता है। कहीं-कहीं यह कुछ गूढ़ हो जाता है। यह उद्देश्य कभी-कभी अन्तिम वाक्य में भी सूक्ति-रूप से रख दिया जाता है और उसकी उक्ति का चमत्कार ही उसमें काव्यत्व ले आता है,

जैसे—अज्ञेयजी की 'शत्रु' शीर्षक कहानी का अन्तिम वाक्य—'जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते हैं।'

कहानी के उद्देश्य में जीवन-मीमांसा तो नहीं किन्तु प्रायः जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण का भी परिचय मिल जाता है। कुछ लेखक समझौते को पसन्द करते हैं तो कुछ संघर्ष को। कुछ लोग संसार को जैसा-का-तैसा स्वीकार कर लेते हैं तो कुछ उसमें आमूल परिवर्तन चाहते हैं। प्रगतिवादी कहानियों में क्रान्ति द्वारा आमूल परिवर्तन की व्यञ्जना रहती है। कुछ कहानीकार उद्देश्य को महत्त्व देते हैं तो कुछ केवल जीवन के विश्लेषण और मन की अन्यतम गुफाओं में प्रकाश की रेखा पहुँचाने को। मनुष्य को भली प्रकार समझा देना ही उनका उद्देश्य हो जाता है।

जिन कहानियों में चरित्र-चित्रण की ही प्रधानता रहती है, या रेखा-चित्र दिया जाता है, उनमें उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट तो नहीं रहता, किन्तु उनमें भी चित्रण का एक दृष्टिकोण रहता है। उसी को उद्देश्य समझना चाहिए; जैसे—प्रेमचन्दजी की 'बड़े भाई साहब' शीर्षक कहानी में अग्रज होने की बड़ाई दिखाकर अपनी कुन्दज़हनी छिपाने वाले लोगों की कमजोरी का उद्घाटन है।

'कफ़न' या 'शतरञ्ज के खिलाड़ी' जैसी कहानियों में चित्रण की ही मुख्यता है किन्तु उनमें भी अलमस्त बेफिक्रे जीवन पर एक व्यङ्ग्य रहता है जो पाठक पर उस स्थिति से अपने को बचाये रखने का प्रभाव डालता है।

शैली का सम्बन्ध कहानी के किसी एक तत्त्व से नहीं, वरन् सब तत्त्वों से है और उसकी अच्छाई या बुराई का प्रभाव पूरी कहानी पर पड़ता है। कला की प्रेषणीयता, अर्थात्—दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति शैली पर ही निर्भर रहती है। किसी बात के कहने या लिखने के विशेष प्रकार को शैली कहते हैं। इसका सम्बन्ध केवल शब्दों से ही नहीं है, वरन् विचार और भावों से भी है!

शैली

शैली के कुछ गुण; जैसे—संगति, तार्किक-क्रम आदि तो विचार से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ भाषा से। कलाकार का उद्देश्य किसी बात को केवल बोधगम्य कराना ही नहीं है, वरन् प्रभाव डालना भी

है। बात तो जो 'शुष्कं कष्ठं तिष्ठत्यग्रे, में है, वही 'नीरस तरुवर पुरभाति' में भी है; लेकिन प्रभाव वैसा नहीं है। अच्छी शैली के लिए लक्षणा-व्यञ्जना आदि भाषा की सभी शक्तियों से लाभ उठाना पड़ता है। वैसे तो प्रत्येक लेखक की अलग शैली होती है; किन्तु मोटे तौर से दो प्रकार की शैलियाँ हैं—एक चलती मुहावरेदार भाषा की, जिसके प्रतिनिधि और नायक हैं मुन्शी प्रेमचन्द; दूसरी अलंकृत संस्कृत प्रधान शैली, जिसके उत्कृष उदाहरण हमको 'चण्डीप्रसाद हृदयेश' तथा 'प्रसाद' जी का कहानियों में मिलते हैं। 'प्रसाद' जी साधारण जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कहानियों में भी एक-रस हैं मुन्शी प्रेमचन्द की मुहावरेदार भाषा का अच्छा उदाहरण हमको उनकी 'बड़े भाई साहब' शीर्षक कहानी में मिलता है। उससे एक छोटा-सा उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

'मेरे फेल होने पर मत जाओ, मेरे दर्जे में आओगे, तो दाँतों पसीना आ जायगा, जब अलजबरा और जामेट्री के लोहे के चने चबाने पड़ेंगे, और इङ्गलिस्तान का इतिहास पढ़ना पड़ेगा।...मेरे दर्जे में आओगे लाला, तो ये सारे पापड़ बेलने पड़ेंगे और तब आटा-दाल का भाव मालूम होगा। इस दर्जे में अव्वल आ गये हो, तो जमीन पर नहीं रखते; इसलिए मेरा कहना मानिये। लाख फेल हो गया हूँ लेकिन संसार का मुझे तुम से कहीं ज्यादा अनुभव है। जो कुछ कहता हूँ उसे गिरह बाँधिये, नहीं पछताइएगा।'

इस अवतरण में चलते मुहावरों के अतिरिक्त हिन्दी, उर्दू के शब्दों का बड़ा सुखद सम्मिश्रण है। मुन्शी प्रेमचन्द जी इस मुहावरेदानी के शौक में कहीं-कहीं अंग्रेजी के मुहावरे ले आये हैं; जैसे—'हमेशा सर पर एक नङ्गी तलवार-सी लटकती मालूम पड़ती।' मुहावरों में भाषा की लक्षणा-शक्ति के प्रयोग से कुछ चमत्कार आ जाता है और कुछ अपनी बात को एक बँधी-बँधाई प्रचलित शब्दावली के भीतर ले आने का सामाजिक सुख मिलता है। इन मुहावरों में चित्र से रहते हैं, जो बात को शीघ्र ही हृदयङ्गम करा देते हैं।

'हृदयेश' जी की शैली प्रायः 'बाण' की लिखी हुई 'कादम्बरी' की शैली का अनुकरण करती है; किन्तु बड़े समासों की क्षमता जितनी संस्कृत में है, उतनी हिन्दी में नहीं; इसलिए वह अपेक्षाकृत कहीं सरल है। फिर भी ढङ्ग वही है। ऐसी शैली में भाव की अपेक्षा शब्दों का चमत्कार अधिक रहता है। एक छोटा सा उदाहरण लीजिए:—

'पतंग-प्रिया पद्मिनी प्रोषितपतिका की भांति, श्री-विहीन हो संकुचित हो गई। पक्षिकुल संरक्षक-विहीन गायक समाज की भांति, मूक हो गया। प्रकृति परिश्रम के विश्राम की भांति स्तब्ध हो गई। गगनांगण में विहार करता हुआ चन्द्रमा अपनी शुभ चन्द्रिका की शीतल धारा से धरणी देवी के दिनकर- तप्त कलेवर का सिंचन करने लगा।'

'प्रसाद' जी अपनी भाषा में संस्कृत के शब्दों के प्रयोग से एक विशेष शालीनता ले आते हैं। संस्कृत के शब्द उनकी भाषा की गति को कुण्ठित नहीं कर देते हैं।

प्राचीन वातावरण को अवतरित करने के लिए संस्कृत-प्रधान शैली ही उपयुक्त होती है। शैली का चुनाव विषय पर भी निर्भर रहता है। घटना-प्रधान सामाजिक कहानियों में प्रेमचन्द जी की ही शैली अच्छी रहती है। भाव-प्रधान कहानियों में दोनों प्रकार की शैलियाँ प्रयुक्त होती हैं; किन्तु मार्मिक स्थलों में साधारण शब्दों से भी भाव का अच्छा उद्रेक हो सकता है।

उपयुक्त शब्द-चयन, पद-मैत्री, सुसङ्गठित वाक्य-विन्यास, अकुण्ठित प्रवाह, फबती हुई अलङ्कार-योजना, भाषा की चित्रोपमता लक्षणा व्यञ्जना शक्तियों का सफल प्रयोग, हास्य-व्यङ्ग्य का पुट, शैली के इन सब प्रधान गुणों के अतिरिक्त कहानी में शैली-सम्बन्धी दो विशेष शक्तियों की आवश्यकता होती है। एक है, वर्णन-शक्ति (Powerof description) दूसरी है, प्रकथन या प्रबन्ध-कथन-शक्ति (Power of narration) जिसके लिए उपयुक्त शब्द के अभाव में अब विवरण शक्ति का प्रयोग होने लगा है। यदि इसके लिए प्रकथन-शक्ति शब्द गढ़ लिया जाय, तो विशेष सुविधा रहेगी।

वर्णन, जड़ और चेतन का होता है और उसमें प्रकृति-चित्रण भी आ जाता है। विवरण में अधिकतर घटना-वर्णन रहता है। वर्णन में स्थायी गुणों का चित्रण रहता है और विवरण में गतिशील घटनाओं या दशाओं का चल-चित्र रहता है। वर्णन-द्वारा कहानीकार वह काम करता है, जो नाटक में पर्दों और अभिनेताओं-द्वारा होता है।

विवरण का सबसे बड़ा गुण है—कौतूहल को जाग्रत रखना और गति में शैथिल्य न आने देना। गति में शैथिल्य आना, बनावटीपन की शङ्का दिला देता है। कहानीकार में यह शक्ति तभी आती है, जब कि उसमें गहरी अनुभूति के साथ सजीव कल्पना हो और उसके चित्र

को बाहर प्रतिफलित करने की शक्ति हो। इन शक्तियों का कहानीकार में जितना योग होगा, उतनी ही उसकी सफलता निश्चित होगी।

भाषा के सौष्ठव के साथ कहानी के मुख्य गुण संगति और प्रभाव की एकता को न भूलना चाहिए। अच्छी कहानी घटनाओं, भावों, विचारों तथा प्रारम्भ, प्रसार और अन्त में अन्विति लाने का प्रयत्न करती है।

कहानी का आदि उसका प्रवेश-द्वार है। यदि यह प्रवेश-द्वार ऐसा नहीं कि हमारी जिज्ञासा-वृत्ति को जाग्रत कर सके अथवा और किसी प्रकार का आकर्षण उत्पन्न कर सके, तो उसके पढ़ने के लिए पाठक की स्वाभाविक रुचि न होगी, विवशतावश उसे चाहे जो कुछ करना पड़े कहानी के आदि और अन्त के सम्बन्ध एव अङ्गरेजी लेखक

कहानी का आदि और अन्त

(Mr. Bllery Sedgwick) का कथन है कि कहानी एक घोड़े की भाँति है उसकी चाल का आरम्भ और अन्त विशेष महत्त्व रखता है 'A story is like a horse it is the start and Finish that count most' कहानी के आदि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह वास्तविक आरम्भ हो; किन्तु वह ऐसा मार्मिक स्थल हो, जहाँ से आगे-पीछे के अंश जोड़े जा सकें। यह आरम्भ किसी महत्त्व-पूर्ण वार्तालाप से और चाहे किसी विशेष स्थिति, वातावरण या घटना और कभी चरित्र के वर्णन से भी हो सकता है; किन्तु इसमें कुछ बात ऐसी हो कि जो हममें आगे जानने, या रहस्योद्घाटन की इच्छा या दिलचस्पी पैदा कर सके। प्रारम्भिक वर्णनों और वार्तालाप में प्रायः कहानी की गतिविधि और दिशा का संकेत भी रहता है; लेकिन वह होता बहुत सूक्ष्म है।

वातावरण की विवेचना में हमने जो 'प्रसाद' जी को 'पुरस्कार' शीर्षक कहानी से प्रारम्भिक अवतरण दिये हैं, वे बड़े सुन्दर प्रवेशक हैं। 'प्रसाद' जी ने एक आकर्षक वातावरण देकर धीरे-धीरे कहानी के विषय से परिचित करा दिया है। पाठक को ज्ञात हो जाता है कि उत्सव वर्षा के सम्बन्ध में है और सम्राट उसमें भाग ले रहे हैं।

कहानी का आरम्भ जैसा आकर्षक होना चाहिए, वैसा ही उसका अन्त चमत्कारपूर्ण और स्थायी प्रभाव डालनेवाला होना वाञ्छनीय है। कहानी के अन्त की झंकृति जितनी देर तक हमारे मानस-गगन में

गूँजे, उतना ही हम कहानी को सफल समझेंगे। सुदर्शन जी 'कवि की स्त्री, शीर्षक कहानी का अन्त बड़ा काव्यमय तथा हृदय पर गहरी चोट देनेवाला है, देखिए:—

उस रात मुझे ऐसी नींद आई जैसी इसके पहले कभी न आई थी। मैंने पति को ठुकरा दिया था; परन्तु उनके प्रेम को नहीं ठुकरा सकी। मनुष्य मर जाता है और उसका प्रेम जीता रहता।'

कहीं-कहीं कहानी का अन्त चरम सीमा के साथ हो जाता है और कहीं-कहीं उसके बाद ही किन्तु बहुत बाद नहीं। बहुत बाद में होने से कहानी में शिथिलता आजाती है। कहानी का शीर्षक यदि कहानी के अन्त से सम्बन्ध हो तो सोने में सुगन्ध की बात हो जाती है, जैसे कि प्रसादजी की पुरस्कार शीर्षक कहानी में।

कहानी कहने के ढङ्ग—उपन्यास की भाँति कहानी कहने के भी तीन ढङ्ग हैं।

(१)—वर्णनात्मक या ऐतिहासिक रीति, इसमें कथाकार द्रष्टा की भाँति कहानी को कहता है।

(२)—आत्मकथा रीति, इसमें कहानी का कोई प्रमुख पात्र कहानी को अपबीती के रूप में कहता है। कभी-कभी एक पात्र दूसरे से सुनी हुई कहानी को कहता है। डायरी भी आत्मकथा का रूप है।

(३)—पत्रों के रूप में। कहानी का विस्तार पत्रों के रूप में ही प्रकाशित हो जाता है, इसमें प्रायः दो पात्रों के उत्तर-प्रत्युत्तर रहते हैं। उनमें पात्र कथा का अपना-अपना अंश कहते हैं।

हिन्दी कहानी का विकास

यद्यपि यह कहना तो कठिन है कि हिन्दी की पहली कहानी कब और किसने लिखी तथापि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इनको प्रचार देने में सरस्वती का बहुत बड़ा हाथ है। हिन्दी में कहानियों का लिखा जाना संवत् १९५७ से प्रारम्भ हुआ। हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक लेखकों में श्री किशोरीलाल गोस्वामी, गिरजा कुमार घोष (पार्वती नन्दन), 'बङ्ग-महिला', पंडित रामचन्द्र शुक्ल, मास्टर भगवान दास आदि हैं। इन लोगों की लिखी हुई कहानियों में कुछ तो मौलिक हैं और कुछ बंगला से अनुवादित। वास्तव में स्वनामधन्य जयशङ्करप्रसाद जी ने इस क्षेत्र में अवतरित होकर छोटी कहानियों में एक प्रकार से प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। उनकी आकाश दीप, पुरस्कार, प्रतिध्वनि, चित्र-

मन्दिर आदि कहानियों ने एक नया युग उपस्थित किया। उनकी कहानियों में स्वर्णिम आभा से विभूषित प्राचीनता के वातावरण को उपस्थित करने के अतिरिक्त अच्छे मनोवैज्ञानिक चित्रण आये हैं। उनमें हमको बड़े सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व भी दिखाई देते हैं। पुरस्कार नाम की कहानी में राजभक्ति और वैयक्तिक प्रेम का संघर्ष है। आत्म-बलिदान द्वारा मधूलिका इस द्वन्द्व का शमन कर देती है।

इसके पश्चात् विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक कहानी के क्षेत्र में आये। इनकी कहानियाँ अधिकतर सामाजिक हैं। इनकी बहुत सी कहानियों में शहरी जीवन के अच्छे चित्र आये हैं। इनकी कहानियाँ वार्तालाप-प्रधान हैं।

सुदर्शन जी का नाम भी कौशिक जी के साथ लिया जाता है। इन की कहानियों के कुछ कथानक राजनीतिक आन्दोलनों से भी लिये गये हैं। इनकी न्याय-मंत्री नाम की कहानी ऐतिहासिक है। इसने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की है। इनकी लिखी हुई 'हार में जीत' शीर्षक कहानी में उच्च मानवता के दर्शन होते हैं। सुदर्शन जी शहरी मध्यवर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। वास्तव में सुदर्शन जी कौशिक जी और प्रेमचन्द जी के साथ हिन्दी कहानी लेखकों की बृहत्-त्रयी में रक्खे जा सकते हैं।

मुन्शी प्रेमचन्द जी ने हिन्दी कहानियों में जान डाल दी है। उन्होंने सरल मुहावरेदार भाषा में बड़े सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्र दिये हैं। ग्रामीण जीवन के दृश्य उपस्थित करने में वे सिद्धहस्त थे। उन्होंने अपनी कहानियों द्वारा साधारण मनुष्यों में भी उच्च मानवता के दर्शन कराये हैं। 'पंच परमेश्वर' में पद का उत्तरदायित्व दिखलाया है। 'बड़े घर की बेटी' बुरे अर्थ में भी बड़े घर की बेटी है और भले अर्थ में भी अपने नाम को सार्थक करती है। जो देवर और पति के बीच में लड़ाई का कारण बनती है वही उनमें मेल करा कर अपने हृदय की मानवता का परिचय देती है। 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियाँ जीवन के अच्छे चित्र हैं। 'ईदगाह' में गरीब मुस्लिम जीवन की झाँकी मिलती है। मुन्शी जी की कहानियाँ अधिकांश में घटना-प्रधान हैं किन्तु उनमें भावुकता का भी पुट पर्याप्त मात्रा में मिलता है। मुन्शी जी की कहानियों में वर्णन का यथार्थवाद है किन्तु उद्देश्य आदर्शवादी है। वे आदर्शोन्मुख यथार्थवादी थे।

श्री चण्डीप्रसाद हृदयेश ने जो कहानियाँ लिखी हैं वे कहानी की अपेक्षा गद्य काव्य का नाम अधिक सार्थक करती हैं। उनकी कहानियां में भाषा का चमत्कार अधिक है।

प्रेमचन्दजी के बाद कहानी-साहित्य में जैनेन्द्रजी का नाम आदर से लिया जाता है। आपकी कहानियों में युग की नई भावनाओं के दर्शन मिलते हैं। आपकी खेल नाम की कहानी को पढ़कर कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था कि हिन्दी में रवि बाबू और शरद् बाबू हमको मिल गये और एक साथ मिले। जैनेन्द्रजी की कहानियों में कथानक अथवा तथ्य-निरूपण का इतना महत्त्व नहीं जितना कि मनोवैज्ञानिक चित्रण का, फिर भी वे बीच-बीच में बड़ी तथ्यपूर्ण बातें कह देते हैं। उनकी कहानियों पर उनकी दार्शनिकता की छाप रहती है।

चन्द्रगुप्त जी विद्यालङ्कार ने बड़ी सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। आपकी 'ताँगेवाला', 'क, ख, घ', 'डाकू', 'चौबीस घन्टे' आदि कहानियों ने अधिक प्रसिद्धि पाई है। 'चौबीस घन्टे' नाम की कहानी में क्वेटा भूकम्प का हाल है। 'डाकू' में दरबार साहब के धार्मिक वातावरण का अच्छा चित्रण है। 'एक सप्ताह' नाम की कहानी पत्रों में लिखी गई है।

अज्ञेय जी अब वात्स्यायन के नाम से ज्ञेय हो गये हैं। आपने कहानी कला में विशेष निपुणता प्राप्त कर ली है। आपकी कहानियों में विप्लव और विस्फोट की सी भावना रहती है। आपकी 'अमर वल्लरी' नाम की कहानी में एक विशेष काव्य-भावना को लेकर पीपल वृक्ष का जीवन वृत्त आया है। यह एक प्रकार का शब्द-चित्र है।

श्री अन्नपूर्णानन्द और श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने विनोद-पूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। श्री चतुरसेन शास्त्री ने कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ अच्छी लिखीं हैं। उनका भाषा-प्रवाह प्रशंसनीय है। वर्तमान कहानी-लेखकों में सियारामशरण गुप्त, धनीराम प्रेम, सत्यजीवन वर्मा, विनोद-शङ्कर व्यास, बेचन शर्मा उग्र, उपेन्द्र नाथ अश्क, पहाड़ी, यशपाल, विष्णु, राधाकृष्ण प्रसाद प्रभृति महानुभावों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पन्त जी की पाँच कहानियों में पान वाले आदि के शब्द चित्र देखने को मिलते हैं।

हिन्दी की स्त्री लेखिकाओं में शिवरानी देवी, सुभद्रा कुमारी चौहान, कमला देवी चौधरानी, उषा देवी मित्रा, चन्द्रकिरण सोनरिसा; होमवती तथा चन्द्रवती जैन प्रभृति देवियों ने विशेष ख्याति

पाई है। श्रीमती होमवती देवी की कहानियों का संग्रह निसर्ग नाम से छपा है। इन देवियों की कहानियों में हिन्दु पारिवारिक जीवन के सुन्दर चित्र मिलते हैं। वर्तमान कहानी यथार्थवाद से अधिक प्रभावित है। इसी प्रभाव के कारण भाषा सरलता की ओर जा रही है अब कहानी में चरित्र-विश्लेषण और सामाजिक तथा अन्य प्रकार की विचार-सामग्री उपस्थित करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है।

श्रव्यकाव्य (गद्य) अन्य विधाएँ

निबन्ध

'गद्य' कवीनां निकषं वदन्ति'—गद्य को कवियों की कसौटी कहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी कहते हैं कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है वास्तव में निबन्ध में ही हम गद्य का निजी रूप देखते हैं। साहित्य की अन्य बिधाओं में (जैसे जीवनी आदि में) तो गद्यकी भाषा एक माध्यम-मात्र है किन्तु निबन्ध में वह अपनी पूर्ण शक्ति और सजधज के साथ प्रकट होती है। निबन्ध में ही गद्य-लेखक की शैली का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है और शैली ही व्यक्ति है (Style is the man himself) की उक्ति साहित्य की इस विधा के सम्बन्ध में पूर्णतया सार्थक होती है। काव्य की इस विधा में सभी तत्व रहते हैं किन्तु इसमें शैली को कुछ अधिक महत्त्व मिला है। कोई विषय निबन्ध के क्षेत्र में बाहर का नहीं है। इतिहास, पुरातत्व, दर्शन, विज्ञान, आलोचना, जीवन-मीमांसा, कथा, यात्रा सभी इसके व्यापक क्षेत्रके अंतर्गत आते हैं। शैली की विशेषता विविध प्रकार के विवेचनों और वर्णनों को निबन्ध की सज्ञा प्रदान करती है।

गद्य साहित्य में निबन्ध का महत्व

साहित्य के इतिहास में निबन्ध पीछे की कला है। वह अपने लिये साहित्य की सभी विधाओं से सामग्री ग्रहण करती है। लक्षण व्यंजना, हास्य-व्यङ्ग्य आदि शैली के सभी साधन इस विधा की सेवा के लिये उपस्थित रहते हैं। निबन्ध के भीतर प्रबन्ध-का-सा तारतम्य रहता है किन्तु एक संग्रह के भीतर निबन्धों में मुक्तक-की-सी स्फुटता रहती है। यह कहानी और खण्डकाव्य के अधिक निकट है।

अर्थ और परिभाषा

हिन्दी में निबन्ध शब्द 'ऐसे' (Essay) के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति में पूर्व-पश्चिम-का-सा भेद है। संस्कृत शब्द 'निबन्ध' का अर्थ है जिसमें निःशेष रूप से बन्ध या सङ्गठन हो। बन्ध शब्द का निबन्ध भी में वही अर्थ है जो बन्ध का प्रबन्ध-काव्य में है (अर्थात् तारतम्य और संगठन)। इसके विपरीत अंग्रेजी शब्द 'एसे'

(Essay) का अर्थ है प्रयत्न। योरोप में इस विधा के जन्म-दाता फरांसीसी लेखक मोन्टेन (Montaigne) ने इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। उसके निबन्धों में सम्बद्धता का अभाव-सा है। उसने अपनी कल्पना की लगाम ढीली कर रक्खी थी और उसके विचार स्वाभाविक विचार-शृङ्खला का अनुकरण करते थे। उसके निबन्ध एक कल्पनाशील मन के विचरण-मात्र हैं। डा० जानसन (Dr. Johnson) की परिभाषा में भी अंग्रेजी निबन्ध (Essay) को असङ्गठित, अपूर्ण और अव्यवस्थित मन का विचरण कहा गया है-(A loose sally of mind, an irregular, iddigested piece, not a regular and orderly performance अंग्रेजी निबन्ध (Essay) का शाब्दिक और प्रारम्भिक अर्थ यह अवश्य था किन्तु लेखकों की रुचि शृङ्खला की ओर बढ़ती गई और इसमें अन्य तत्वों की अपेक्षा बुद्धितत्व का अधिकाधिक समावेश होने लगा है और असम्बद्धता निबन्ध का व्यावर्तक गुण नहीं रहा, वरन् वह एक दोष की कोटि में आगया है। इस प्रकार व्यवहार में अब पाश्चात्य शब्द 'ऐसे' (Essay) और हिन्दी शब्द निबन्ध प्रायः समानार्थक हो गये हैं, फिर भी उसमें अपने नाम का थोड़ा-बहुत प्रभाव शेष है ही। इस बदले हुए दृष्टिकोण का परिचय हमको एक अंग्रेजी कोष में दी हुई परिभाषा से मिलता है। देखिए:—

A composition of immoderate length on any particular subject or branch of subject originally implying want of finish, 'An irregular indigested piece' but now said of a composition more or less elaborate in style, though limited in range.

इसमें जॉन्सन की परिभाषा को प्रारम्भिक बतलाकर शैली की विशदता पर बल दिया है। वास्तव में योरोप और भारत दोनों ही देशों में निबन्ध-साहित्य इतना विस्तृत और वैविध्यपूर्ण है कि निबन्ध शब्द को कुछ लक्षणों के घेरे में बाँधना कठिन हो जाता है किन्तु फिर भी नीचे की बातें प्रायः सभी निबन्ध में पाई जाती हैं:—

(१) वह अपेक्षाकृत आकार में छोटी गद्य-रचना के रूप में होता है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि निबन्ध गद्य में ही लिखा जाय (अंग्रेजी में Pope's essay on man और हिन्दी में पं० महावीर

प्रसाद द्विवेदी का 'हे कविते' पद्य के ही निबन्ध हैं) तथापि अधिकांश निबन्ध गद्य की ही विधा माने जाते हैं। विलायत में लौक (Locck) का दार्शनिक प्रबन्ध जो करीब ४०० या ५०० पृष्ठ का होगा (An Essay on Human Understanding) के नाम से प्रसिद्ध है किन्तु इससे यह न अनुमान करना चाहिए कि निबन्ध इतना बड़ा भी हो सकता है। सम्भव है लेखक ने शील-सङ्कोचवश उसे 'एसे' का ही नाम दिया हो।

(२) *उसमें लेखक का निजीपन और व्यक्तित्व झलकता रहता है।* है। पुस्तक में लेखक अपने व्यक्तित्व को ओझल कर सकता है किन्तु निबन्ध में यह व्यक्तित्व छिपाया नहीं जा सकता। लेखक जो कुछ लिखता है उसको अपने निजी मत के रूप में अथवा अपने निजी दृष्टिकोण से लिखता है। उसके पीछे उसके निजी अनुभव की प्रेरणा दिखाई देती है। यदि लक्षणा या व्यञ्जना के विषय में कोई ऐसा लेख लिखा जाय जिसमें केवल शास्त्रीय मत ही दिया गया हो तो वह किसी पुस्तक का अध्याय बन सकता है, निबन्ध न होगा। निबन्ध तभी होगा जब कि वह लेखक के निजी दृष्टिकोण से देखा गया हो।

(३) *निबन्ध में अपूर्णता और स्वच्छन्दता के रहते हुए भी वह स्वतःपूर्ण होता है।* वह एक प्रकार से गद्य का मुक्तक काव्य है। उसमें प्रगीत काव्य-का-सा निजीपन रहता है। जिस प्रकार कहानी जीवन के एक पहलू की झाँकी है उसी प्रकार निबन्ध में एक दृष्टिकोण है। उसके लिए विषय का पूर्ण प्रतिपादन आवश्यक नहीं है। कहानी का उदय तथ्य की एक झलक से होता है उसी प्रकार निबन्ध भी एक नई झलक लेकर आता है।

(४) *निबन्ध साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक और सजीव होता है।* उसमें प्रतिभा की चमक-दमक रहती है और वह वर्णन-मात्र नहीं होता। दार्शनिक निबन्ध भी दार्शनिक ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक सजीव होगा। उसमें शैली के उत्कर्ष के लिए ध्वनि, हास्य, व्यङ्ग्य, लाक्षणिक प्रयोग और स्वल्प मात्रा में अलङ्कारों का भी समावेश किया जा सकता है। निबन्धकार अपनी प्रतिभा के बल से साधारण को भी असाधारण बना देता है। जीवन की सिकता भी उसकी प्रतिभा के प्रकाश में रजतकणों की भाँति जगमगा उठती है।

निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।

निबन्ध के विषयों की कोई सीमा नहीं। निबन्ध 'कुछ नहीं' (Nothing) से लगाकर विश्व की अनन्ता में आने वाली जितनी वस्तुएँ, भाव और क्रियाएं हैं उन सब पर लिखे जा सकते हैं। यद्यपि हिन्दी में निबन्ध-साहित्य अंग्रेजी-का-सा नहीं है तथापि इसका विषय-वैविध्य निराशा-जनक नहीं है (विशेषतः जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि हमारे यहाँ इस विधा की उपज को पूरे सौ वर्ष भी नहीं हुए हैं)। 'समझदार की मौत', 'बात', 'वृद्ध', 'माँ', 'धोखा', 'आप',—(पं० प्रताप नारायण मिश्र); 'कल्पना' 'आत्मा निर्भरता', 'आंसू', 'चन्द्रोदय', 'कवि और चितेरे की डाँडामेंड़ी'—(पं० बालकृष्ण भट्ट); 'रामलीला'—(पं० माधव प्रसाद मिश्र); 'कवि और कविता', 'हंस का नीर-क्षीर विवेक', दमयन्ती का चन्द्रोयालम्भ', नल का दुस्तर दूत-कार्य'—(पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी); 'शिवशम्भु के चिट्ठे' के निबन्ध—(श्री बालमुकन्द गुप्त); 'कछुआ धर्म' और 'मारिस मोर कुठाऊँ' (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी) 'मजदूरी और प्रेम', आचरण की सभ्यता'—(अध्यापक पूर्ण सिंह); ऋद्धि-सिद्धि—(श्री गोपालराम गहमरी); 'कविता क्या है', 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद', 'लज्जा और ग्लानि', 'भय' 'उत्साह'—(पं० रामचन्द्र शुक्ल); 'समाज और साहित्य'—(बाबू श्यामसुन्दर दास); 'साहित्यिक चन्द्रमा'—(श्री वियोगी हरि); 'गंगाबाई', 'पद्मावत की कहानी', केशवदास', —(डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल); 'रामानुजाचार्य 'लुका-छिपी'—(श्री नलिनी मोहन सान्याल); 'अनुप्रास की खोज'—(पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी); 'इक्का', 'हां', 'नहीं' (प० सद्गुरुशरण अवस्थी); 'बाल्य-स्मृति', अन्य भाषा का भेद', 'साहित्य और राजनीति' कवि-चर्चा', 'हिमालय की झलक'—(श्री सियारामशरण गुप्त); अशोक के फूल, प्रायश्चित की घड़ी, मेरी जन्म-भूमि भारतीय फलित ज्योतिष (हजारी प्रसाद द्विवेदी) इन पंक्तियों के लेखक की 'साहित्य की तीसरी उपेक्षिता (भैंस) 'भेड़ियाधसान', हीनता-ग्रन्थि' (Inferior-

निबन्ध का विषय-विस्तार

ity Complex) इत्यादि-इत्यादि साहित्यिक एवं आलोचनात्मक निबन्धों की संख्या दिन-प्रति दिन बढ़ती जाती है।

निबन्धों को हम चार विभागों में बाँट सकते हैं:—

(१) वर्णनात्मक (Descriptive)
(२) विवरणात्मक (Narrative)
(३) विचारात्मक (Reflective)
(४) भावात्मक (Emotional)

इन प्रकारों के मिश्रण से भी और बहुत से प्रकार हो सकते हैं। वर्णनात्मक निबन्धों में वस्तु को स्थिर रूप में देखकर वर्णन किया जाता है, इसका सम्बन्ध अधिकतर देश से है। विवरणात्मक का सम्बन्ध अधिकांश में काल से है, इसमें वस्तु को उसके गतिशील रूप में देखा जाता है। विचारात्मक में तर्क का सहारा अधिक लिया जाता है, यह मस्तिष्क की वस्तु है। भावात्मक, निबन्धों का सम्बन्ध हृदय से है। यद्यपि काव्य के चारों तत्त्व (कल्पना-तत्त्व, रागात्मक-तत्त्व, बुद्धि-तत्त्व और शैली तत्त्व) सभी प्रकार के निबन्धों में अपेक्षित रहते हैं तथापि वर्णनात्मक और विवर्णात्मक निबन्धों में कल्पना की प्रधानता रहती है। विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि-तत्त्व को और भावात्मक निबन्धों में रागात्मक तत्त्व को मुख्यता मिलती है। शैली-तत्त्व सभी में समान रूप से वर्तमान रहता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्धों में कहीं विचारात्मकता की और कहीं भावात्मकता की प्रधानता हो सकती है। विचारात्मक तथा भावात्मक का भी मिश्रण होना सम्भव है।

इन निबन्धों में अलग-अलग शैलियाँ पाई जाती हैं। विचारात्मक निबन्धों में समास-शैली (जैसो आचार्य शुक्ल जी की है) और व्यास-शैली (जैसी आचार्य श्यामसुन्दर दास जी की है) मिलती है। आचार्य शुक्ल जी ने विचारपूर्ण निबन्धों का आदर्श इस प्रकार दिया है:—

'शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर ठूँसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड को लिबे हो।'

आचार्य शुक्लजी ने स्वयं इस आदर्श का पालन किया या किन्तु यह आदर्श विशेषतः समास-प्रधान-शैली का है। समास-प्रधान-शैली

में 'गागर में सागर' अर्थात् थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति रहती है और व्यास-प्रधान-शैली में वस्तु को उचित फैलाव के साथ समझा-समझा कर कहने की ओर झुकाव होता है। वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक लेखों या निबन्धों में प्रायः व्यास शैली का प्रयोग होता है। भावात्मक निबन्धों में भी व्यास शैली तो रहती है किन्तु भाववेश के न्यूनाधिक्य के कारण कई श्रेणियाँ हो जाती हैं और उसमें धारा शैली के साथ विक्षेप शैली का भी समावेश हो जाता है।

इन शैलियों के कुछ उदाहरण यह दिये जाते हैं:—

विचारात्मक निबन्धों की समास शैली—

दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनन्द दोनों की श्रेणियों में रक्खी गई है। करुणा से क्रोध दुःख के कारण के साक्षात्कार वा अनुमान से उत्पन्न होता है।

—करुणा

× × ×

विंब-ग्रहण कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो 'विभाव' में दिखाई पड़ता है। काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए। भावों के प्रकृति आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला और सबसे आवश्यक काम है। यों तो जिस प्रकार विभाव, अनुभाव आदि में हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं, उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों में भी; पर जब रस ही काव्य में प्रधान वस्तु है तब उसके संयोजकों में कल्पना का जो प्रयोग होता है, वही आवश्यक और प्रधान ठहरता है। रस का आधार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है, वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है। किन्तु वहाँ उसे यों ही उड़ान भरना नहीं होता, उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है।

काव्य में प्राकृतिक दृश्य से ये दोनों उद्धरण रामचन्द्र शुक्ल के हैं।

विचारात्मक निबन्धों में व्यास शैली—

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और

जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है, अत: केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है।

डाक्टर श्यामसुन्दर दास
(भारतीय साहित्य की विशेषताएँ)

आरोग्य-रक्षा के नियम माँ-बाप को न मालूम रहने से उनके बाल-बच्चों को जो भोग भुगतने पड़ते हैं, उनकी जो दुर्गति होती है, उन पर जो आफतें आती हैं उनका ठौर-ठिकाना नहीं। हजारों बच्चे तो माँ-बाप की असावधानी और मूर्खता के कारण पैदा होते ही मर जाते हैं। जो बचते हैं उनमें लाखों अशक्त; निर्बल और जन्म रोगी होते हैं, और करोड़ों ऐसे नीरोग और सबल नहीं होते जैसे होने चाहिए। अब इन सबको आप जोड़ डालिए तो आपको मालूम हो जायगा कि माँ-बाप की नादानी के कारण सन्तति को कितनी हानि उठानी पड़ती है, कितना दुख सहना पड़ता है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी
('शिक्षा' शीर्षक निबन्ध से)

विचारात्मक निबन्धों के आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक आदि कई प्रकार होते हैं। व्यास-शैली में एक ही बात को समझा-समझा कर कई रूप में कहा जाता है।

वर्णनात्मक निबन्धों मे व्यास शैली—

निर्मल बेत्रवती पर्वत को बिदार कर बहती है और पत्थरों की चट्टानों से सम भूमि पर, जो स्वयं पथरीली है, गिरती है, जिससे एक विशेष आनन्द-दायक वाद्यनाद मीलों से कर्णकुहर में प्रवेश करता है और जलकण उड़-उड़ कर मुक्ताहार की छवि दिखाते और रवि किरण के संयोग से सैंकड़ों इन्द्र-धनुष बनाते हैं। नदी की थाह में नाना रङ्ग के प्रस्तरों के छोटे-छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं, जिन पर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नों की चादर पर बहती हुई जल-धारा की छटा दिखाती है।

—कृष्ण बल्देव वर्मा के बुन्देलखण्ड पर्यटन से।

यह तो बेजान चीज का वर्णन हुआ, इसमें संस्कृत तत्समता का प्राधान्य है। समास शैली में तो प्रायः संस्कृत शब्दों का बाहुल्य रहता ही है। श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा लिखा हुआ जङ्ग बहादुर नाम के पार्वतीय कुली का वर्णन लीजियेः—

पार्वतीय पथ और पत्थरों की चोट से टूटे नाखून और चुटीली उङ्गलियों के बीच में ढाल बनी हुई मूँज की चप्पल मानो मनुष्य को पशु बनाकर भी खुर न देने वाले परमात्मा का उपहास कर रही थीं। पाँव से दो बालिश्त ऊँचा और ऊनी, सूती पैबन्दों से बना हुआ पैजामा मनुष्य की लज्जाशीलता की विडम्बना जैसा लगता था। किसी से कभी मिले हुए पुराने कोट में, नीचे के मटमैले अस्तर की झाँकी देती हुई ऊपरी तह तार-तार फटकर झालरदार हो उठी थी और अब अपने पहनने वाले को एक झबरे जन्तु की भूमिका में उपस्थित करती थी। अस्पष्ट रङ्ग और अनिश्चित रूप वाली दोपलिया टोपी के छेदों से रूखे बाल जहाँ-तहाँ झाँककर मैले पानी और उसके बीच-बीच में झाँकते हुए सेवार की स्मृति करा देते थे।

श्रीमती महादेवी वर्मा
(स्मृति की रेखा से)

विवरणात्मक—श्री सियाराम शरण गुप्त के 'हिमालय की झलक' शीर्षक निबन्ध से उसका विवरणात्मक अंश दिया जाता है:—

लखनऊ से रात को साढ़े दस बजे गाड़ी छूटती थी। कुछ पहले ही स्टेशन पहुँच गया। इरादा था कि कुछ अच्छी सी जगह पा सकूं। मित्र ने इन्टर क्लास में बैठने का आग्रह कर दिया था। वह दरजा कुलीन गरीबों का दरजा है। हम जैसे अनेक दूसरे जन भी दरजा बढ़ाने की धुन में रहते हैं। इसलिये भीड़ की आशङ्का थी। तांगे से उतरते ही कुली ने बताया कि इन्टर में बैठिएगा, तो आगे एक जगह गाड़ी बदलनी होगी। तीसरे दर्जे का एक डिब्बा सीधा काठगोदाम को जाता है। ....आकाश बादलों से घिरा था। रात अँधेरी। पता नहीं चलता था, कहाँ आकर गाड़ी रुकी और फिर कहाँ के लिये रवाना हो गई है। अज्ञात और अदृश्य की ओर बढ़े जा रहे थे। फिर भी निश्चिन्तता थी। सो सकते थे, पर सो नहीं सके। पानी बरस जाने से लैम्प के आसपास और पूरे डिब्बे में पतंगों की भरमार थी। इन बिना टिकटों की संख्या का प्रश्न ही क्या? अपने प्रदीप्त प्रेमी के निकट आकर आत्म-समर्पण का अधिकार उनका था।

साहसपूर्ण कार्यों के विवरण, (जैसे पण्डित श्रीराम शर्मा के बाघ

से भिड़न्त आदि शिकार-सम्बन्धी लेखों में अथवा अन्य लेखकों के एवरेस्ट की चढ़ाई या कैलाश-यात्रा सम्बन्धी लेखों में मिलते हैं) विवरणात्मक लेखों की ही संज्ञा में आते हैं।

थोड़ी भावुकता लिये हुए विवरणात्मक निबन्ध के उदाहरण महाराज कुमार डाक्टर रघुवीरसिंह के 'राजपूतों का उत्थान' आदि ऐतिहासिक निबन्धों से मिलेंगे।

भावात्मक निबन्धों में प्रायः तीन प्रकार की शैलियाँ होती हैं एक धारा शैली दूसरी तरङ्ग शैली और तीसरी विक्षेप शैली। धारा शैली में भावों की धारा प्रवाहमय रहकर प्रायः एक गति से चलती है किन्तु तरङ्ग शैली में वे भाव लहराते हुए से प्रतीत होते हैं, तरङ्ग की भाँति वे उठते और गिरते प्रतीत होते हैं। विक्षेप शैली में वह कुछ-कुछ उखड़ी हुई रहती है, उसमें तारतम्य और नियन्त्रण का प्रभाव रहता है। तीनों ही शैलियों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

भावात्मक निबन्धों की धारा शैली।

जो धीर है, जो उद्वेग रहित है, वही संसार में कुछ कर सकते हैं। जो लोहे की चादर की भाँति जरा ही में गर्म हो जाते और जरा ही में ठण्डे पड़ जाते हैं, उनके लिये क्या हो सकता है, मसल है—जो बादल गरजते हैं, वे बरसते नहीं।

धरी पुरुष का मन समुद्र के समान होता है। वह गम्भीर और अथाह होता है। समुद्र की तरह मर्यादा-पालन में उसकी यह दशा है कि आनन्द और ऐश्वर्य रूपी अनेक नद-नदियाँ उसमें गिरती हैं; पर क्या मजाल जो वह जरा भी मर्यादा का उल्लङ्घन करे। उसकी परिपूर्णता को देखिए, तापरूपी सूर्य दिन रात उसे तपाया करते हैं। यही नहीं, चिन्ता-रूपी विचार-बड़वाग्नि दिन-रात उसी में जला करती हैं, पर उसमें जरा भी कमी नहीं होती।

इससे कुछ अधिक ओजमई भाषा सर्दार पूर्णसिंह के भावात्मक निबन्धों में दिखाई पड़ती है। उदाहरण स्वरूप सर्दारजी के मजदूरी और प्रेम शीर्षक निबन्ध से एक उद्धरण दिया जाता है।

तारागणों को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा-कि-गिरा। एक कदम और, धड़ाम से नीचे! कारण केवल इसका यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ, समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ।

यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा; परन्तु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूँक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो, भारतवासियों का इस असार संसार से कूँच हुआ।

तरङ्गशैली धारा और विक्षेप शेली के बीच की चीज है। बीच की चीज पर लेबिल लगना कठिन हो जाता है। फिर भी श्री माखनलाल चतुर्वेदी के साहित्य देवता का निम्नोलिखित उद्धरण उसका कुछ आभास दे सकेगा :—

'मैं तुम्हारी एक तसवीर खींचना चाहता हूँ।

मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो; कलम की जीभ को बोल लेबे दो। किन्तु हृदय और मसि पात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध विराम, अल्हड़ता का अभिराम, केवल श्याम-मात्र होगा। परन्तु यह काली बूँदें, अमृत बिन्दुओं से भी अधिक मीठी, अधिक आकर्षक, और मेरे लिए अधिक मूल्यवान हैं। मैं अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ।

परन्तु तुम सीधे कहाँ बैठते हो? तुम्हारा चित्र? बड़ी टेढ़ी खीर है! सिपहसालार, तुम देवत्व को मनवत्व की चुनौती हो। हृदय से छन कर, धमनियों में दौड़ने वाले रक्त की दौड़ हो; और हो उन्माद के अतिरेक के रक्त-तर्पण भी। आह कौन नहीं जानता कि तुम कितनों ही की वन्शी की धुन हो; धुन वह, जो 'गोकुल' से उठकर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु बनाए हुए है। काल की पीठ पर बना हुआ वह पुल, मिटाए मिटता नहीं, भुलाए भूलता नहीं। ऋषियों का राग, पैग़म्बरों का पैग़ाम, अवतारों की आन, युगों को चीरती, किस लालटेन के सहारे, हमारे पास तक आ पहुँची? वह तो तुम हो, परम प्रकाश—स्वयं प्रकाश। और आज भी कहाँ ठहर रहे हो? सूरज और चाँद को, अपने रथ के पहिये बना, सूक्ष्म के घोड़ों पर बैठे, बढ़े ही तो चले जा रहे हो प्यारे। ऐसे समय हमारे सम्पूर्ण युग का मूल्य तो, मेल-ट्रेन में पड़ने वाले छोटे से स्टेशन का-सा भी नहीं होता।

भावात्मक निबन्धों में विक्षेप शैली—

वैसे भी भावात्मक निबन्धों में बुद्धितत्व की न्यूनता रहती है किन्तु विक्षेप शैली के निबन्धों में इसका और भी ह्रास सा हो जाता है। विक्षेप शैली का एक उदाहरण श्री वियोगी हरि के साहित्यिक चन्द्रमा से दिया जाता है।

'हे मृगलांछन! पाप छिपाए नहीं छिपता, किसी न किसी दिन उजागर

हो ही जाता है। करोड़ों वियोगियों का रुधिर पान करके तुम कुछ मोटे नहीं हो गए। घटने-बढ़ने का असाध्य रोग भी नहीं दूर हुआ हाँ, मुँह बेशक काला होगया। तुम्हारा यह कलुष-कलङ्क मरने पर भी न छूटेगा। मदिरापान क्या बट्टे खाते जायगा? वियोगियों का जला देना क्या हँसी-खेल है? अभी तो जरासी कारिख लगी है, कुछ दिनों में सारा मुँह काला हो जायगा। तुम्हारी कालिमा पर भी कवियों ने कई कल्पनाएँ की हैं।

इससे मिली-जुली शैली का एक उदाहरण महाराज कुमार डाक्टर रघुवीरसिंह के 'ताज' शीर्षक लेख से दिया जाता है।

अन्तिमक्षण थे, सर्वदा के लिए वियोग हो रहा था, देखती आँखों शाहजहाँ का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारत सम्राट हताश हाथ पर-हाथ-धरे बेबस बैठा अपनी किस्मत को रो रहा था, सिंहसनारूढ़ हुए कोई तीन वर्ष भी नहीं बीते थे कि उसकी प्रियतमा इस लोक से विदा लेने की तैयारी कर रही थी। शाहजहाँ की समस्त आशाओं पर, उसकी सारी उमङ्गों पर, पाला पड़ रहा था।............

हाय अन्त हो गया, सर्वस्व लुट गया! पर प्रेमी, जीवन यात्रा का एक मात्र साथी सर्वदा लिए छोड़कर चल बसा भारत सम्राट शाहजहाँ की प्रेयसी, साम्राज्ञी मुमताज़-महल सदा के लिए इस लोक से विदा हो गई। शाहजहाँ भारत का सम्राट था, जहान का शाह था, किन्तु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से न रोक सका।

विक्षेप शैली में जब भावावेश का वेग मर्यादा से बाहर होने लगता है तब उसमें उच्छृङ्खलता सी आजाती है; और वह प्रलाप की कोटि में गिनी जाती है। विक्षेप और प्रलाप शैली में मात्रा का ही अन्तर है।

हास्य-व्यङ्ग्यात्मक लेख भी विषयानुकूल भावात्मक या विचारात्मक लेखों की संज्ञा में आ सकते हैं। कुछ लोग इनकी पृथक एक विधा स्वीकार करते हैं। शैलियों के विभाजन के और भी कई आधार हैं, व्यक्ति प्रधान और निर्वैयक्तिक। संस्कृत तत्सम प्रधान और उर्दू मिश्रित इत्यादि इत्यादि।

अच्छी शैली के गुण

शैलियों के प्रकार तो बहुत से हो सकते हैं। किसी में तत्सम शब्दों का बाहुल्य होता है तो किसी में तद्भव शब्दों का और किसी में उर्दू-हिन्दी की गंगा-जमुनी धारा बहाई जाती है यद्यपि विषय की कठिनाई से शैली में दुरुहता आ जाती है तथापि शैली में प्रवाह के साथ प्रसादगुण

उपादेय होता है। क्रम, संगति, सङ्गठन और अन्विति शैली के आन्तरिक गुण हैं। शैली में भी अनेकता में एकता उत्पन्न करना वाञ्छनीय रहता है! निबन्ध के एक-एक वाक्य में आकांक्षा, (एक शब्द दूसरे शब्द की प्रतीक्षा सा करता मालूम हो और वाक्य की पूर्ति अन्त में हो। ऐसे वाक्य को अंग्रेजी में Period अर्थात् वाक्योंच्चय कहते हैं) योग्यता (शब्द एक दूसरे के अनुकूल हो, सींचना पानी से ही होता है अग्नि से नहीं) आदि गुण अपेक्षित होते हैं। सार्थक उपयुक्त शब्दों की पद-मैत्री और क्रम से उतार-चढ़ाव (भाव का भी उतार-चढ़ाव और ध्वनि का भी; जैसे बड़े शब्द पीछे आवें) वे गुण शैली को प्रसाद-मय बना देते हैं और मुहावरों का प्रयोग और हास्य-व्यङ्गय का पुट उसे चलतापन प्रदान करता है। लक्षणा-व्यञ्जना के प्रसाधन जो कि काव्य को उत्तमता प्रदान करते हैं गद्य-शैली में भी उचित मात्रा में आदरणीय समझे जाते हैं। शैली को न तो अलङ्कारों से बोझिल बनाना चाहिए और न उसमें तुकबन्दी लाकर उसे पद्य का आभास देना चाहिए। वाक्यों के एक से संगठन जब तक विशेष रूप से सभीकृत वाक्यों द्वारा प्रभावोत्पादन अभीष्ट न हो, तथा शब्दों की पुनरावृत्ति बचाना चाहिए। अधिक भावुकता प्रदर्शन आजकल के युग को मान्य नहीं है। प्रभावोत्पादन एक विशेष कला है जो अभ्यास से ही प्राप्त होती है। जो बात थोड़े शब्दों में कही जा सकती है उसके लिए शब्दों का विस्तार-बाहुल्य वाञ्छनीय, नहीं है। लाघव का गुण गद्य में भी प्रशंसनीय है। नावक के तीर चाहिए जो 'देखत में छोटे लगें और घाव करें गम्भीर।'

विकास

अँग्रेजी साहित्य में निबन्ध

योरोप में निबन्धों का श्री गणेश फ्रांसीसी विद्वान मोन्टेन (सन् १५३३-१५९२ से होता है। स्वयं उस पर प्लूटार्क (ई० पूर्व प्रथम शताब्दी) [विशेषतः उसकी आचार-सम्बन्धिनी पुस्तक मोरेलिया (Morellia)] और सिनेका (६१ ई० पू० से ३० ई० प०) का प्रभाव था। उसके निबन्धों का संग्रह फ्रांस में सन् १५८० में प्रकाशित हुआ। वे विविध विषयों पर थे किन्तु उनमें यही त्रुटि थी कि वे विचार शृङ्खला (Association of ideas) के सहारे चलते थे। बीच में

यदि 'भय' का उल्लेख आया तो 'भय' पर ही उसकी विचार-धारा चल पड़ी और यदि 'सवारी' का नाम आया तो 'सवारियों' की विवेचना होने लगी। उसके निबन्धों में सामग्री प्रचुर और मूल्यवान है पर नियन्त्रण का अभाव है।

मोन्टेन के निबन्धों का अँग्रेजी अनुवाद सन् १६०० के लगभग हुआ। इंगलैंड में बेकन (१५६१–१६२६) के निबन्ध सन् १६०० से कुछ पूर्व निकले थे किन्तु विद्वानों का ख्याल है कि बेकन ने मोन्टेन निबंध फ्रांसीसी भाषा में पढ़े होंगे। बेकन के निबन्ध वास्तव में बड़े सम्बद्ध हैं और उनमें सूत्रों-की-सी समास-शैली का परिचय मिलता है। उसके वाक्य सूक्ति-रूप से व्यवहृत होते हैं जैसे:—

"Reading maketh a full man, conference a ready man and writing an exact man."

अर्थात् पढ़ने से मनुष्य में पूर्णता आती है, 'वार्तालाप से वह प्रत्युत्पन्नमति बनाता है, और लिखने से उसमें निश्चितता आती है। बेकन के निबन्धों में निर्व्यक्तीकरण अधिक है। उनमें प्रभावोत्पादन का प्रयत्न अवश्य है किन्तु तार्किक विश्लेषण की आधिक्य सरसता में बाधक होता है। बेकन के विषय भी प्राय: अमूर्त और मनोवैज्ञानिक रहे। मान्टेन के निबन्धों में उसके व्यक्तित्व की पूरी छाप थी।

सत्तरहवीं शताब्दी में निबन्धकारों में बेन जॉनसन (सन् १५७३–सन् १६३७), एब्राहम क्राउले (१६१८–१६६७) विलियम टम्पिल (सन् १६२८–१६९९) आदि प्रमुख हैं। इनके लेखों में व्यासोन्मुख शैली और निजीपन का कुछ आभास मिलता है। क्राउले के 'आफ माइसैल्फ' नाम के निबन्ध में उसकी आत्मा का प्रतिस्पन्दन सुनाई पड़ता है। निबन्ध में सजीवता लाने के लिए उसका झुकाव मूर्त विषयों की ओर हुआ। वर्ग प्रतिनिधियों (Types) जैसे कृषक (yomen) कवि, विश्व-विद्यालय का विद्यार्थी और व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण होने लगा। विचार और विश्लेषणके साथ वर्णन की प्रवृत्ति बढ़ी। निबंध में निजीपन का विकास 'टैटलर' (सन् १७०९) और 'स्पैक्टेर' (सन् १७११) नाम के समाचार-पत्रों से हुआ। पीछे से आइडलर और रेम्बलर ने निबन्ध-साहित्य के प्रसार में योग दिया। इनकी कलेवर-पूर्त्ति के लिए निबन्ध-साहित्य प्रचुरता से रचा जाने लगा। इन समाचार-पत्रों के निबन्धों के सम्बन्ध में एडीसन (सन् १६७२–१७१९)

और स्टील (१६७२–१७२६) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन लोगों ने निबन्ध के विषय को पर्याप्त विस्तार दिया और शैली में सरलता तथा वार्तालाप-की-सी सजीवता उत्पन्न की। इन लेखकों ने सामाजिक विषयों को भी अपनाया, इस कारण वे जनता के अधिक निकट आ सके। डाक्टर जॉनसन (१७०६-१७८४) और गोल्डस्मिथ (सन् १७२८-१७७४) भी अट्ठारहवीं ही शताब्दी में हुए। डाक्टर जॉनसन के लिए 'आकार सदृशप्रज्ञः' की बात बिलकुल चरितार्थ होती थी। जैसे वे भारी-भरकम आकार के थे वैसी ही उनकी शैली भी भारी-भरकम थी। उनकी शैली में गाम्भीर्य था। जो चटपटापन उनकी जीवनी में उल्लिखित वार्तालाप में दिखाई देता है उसका उनके निबन्धों में अभाव-सा है। ओलीवर गोल्डस्मिथ (१७२८-१७७४) के निबन्धों में एक सुखद हल्कापन है। उनमें उपदेशात्मकता के अभाव के साथ कवि की प्रतिभा की झलक मिलती है जो हास्य-विनोद के पुट के साथ और भी चमक उठती है। गोल्डस्मिथ की शैली का पूर्ण विकास हमको चार्ल्स लेम्ब (१७७-५१८३४) के निबन्धों में मिलता है जो कि वैयेक्तिक निबन्धों के उत्कृष्ट रूप कहे जा सकते हैं। उनमें कल्पना के साथ उत्साह और वैयक्तिक भावना के दर्शन होते हैं। उनमें आत्मकथात्मक तत्व की प्रधानता होने के कारण वे अधिक रुचिकर हो सके। वे अनियमिति निबन्ध (Informal Essays) के चरम विकास कहे जा सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के निबन्धकारों में मैकॉले, कारलाइल, मैथ्यू आर्नल्ड, हैज़लिट, रस्किन, हक्सले, मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर, इमरसन आदि प्रमुख हैं। इनकी अलग-अलग शैलियाँ हैं किन्तु इनके निबन्धों में विचारात्मकता का प्राधान्य है, आलोचनात्मक निबन्ध लेखकों में हैज़लिट (१७७८-१८३०), मैकाले (१८००-१८५६), मेथ्यू आर्नल्ड (१८२२-१८८८) थैकरे (१८११-१८६३) आदि प्रमुख है। जॉन रस्किन (१८१६-१९००) के निबन्धों में एक विशेष पाण्डित्यमयी नैतिकता और चमत्कार पूर्ण तार्किकता के दर्शन होते हैं! राल्फ वाल्डो इमरसन (१८०३-१८५०) में आध्यात्मिकता का अधिक पुट है। कारलाइल (१७६५-१८८१) आलोचनात्मक है और उनके कुछ निबन्धों में व्याख्यानदाताओं का सा भावावेश भी है। साहित्यिकता और निजीपन का योग करने वाले लेखकों में राबर्ट लुई स्टीवेनसन (१८५०-१८६४) का नाम विशेष

ही हुआ। अँग्रेजी साहित्य की भाँति हिन्दी में भी समाचार-पत्रों (जैसे हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, ब्राह्मण, सार सुधानिधि के उदय के साथ निबन्धों का प्रचार हुआ। छोटे-छोटे लेख या निबन्ध समाचार-पत्रों के एक आवश्यक अङ्ग हो जाते हैं। निबन्ध-साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास में हम प्रायः पत्रकारों को ही अग्रगण्य पाते हैं, जैसे—'हिन्दी प्रदीप' के पं० बालकृष्ण भट्ट (जन्म सं० १६०१), कवि-वचन-सुधा' और 'आनन्द-कादिम्बनी' के पं० बदरीनारायण चौधरी (जन्म सं० १६१२), (ब्राह्मण) के पं० प्रतापनारायण मिश्र (जन्म सं० १६१३), कालाकाँकर से निकलने वाले (हिन्दुस्तान) के श्री बालमुकुन्द गुप्त (जन्म सं० १६१२), 'सुदर्शन' के पं० माधवप्रसाद मिश्र (जन्म सं० १६२७) 'सरस्वती' के पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी (जन्म सं १६१७) सम्पादक थे। लेख या निबन्ध स्वतः पूर्ण रचना होते हुए भी इतनी बड़ी रचना नहीं होती कि एक या दो ही पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो जाँय, इनकी छोटी पुस्तकाएँ अवश्य बन सकती हैं। समाचार-पत्र उनका स्फुट रूप से प्रकाशन कर लेखक को उनके पुस्तक रूप में संग्रहीत होने की प्रतीक्षा से बचा देते हैं।

निबन्धों का विकास

मोटे तौर से हम निबन्ध-साहित्य के इतिहास को तीन काल या युगों में बाँट सकते हैं:—

(१) भारतेन्दु युग
(२) द्विवेदी युग
(३) आधुनिक युग या शुक्ल युग

इस सम्बंध में यह न भूलना चाहिए कि इस प्रकार का विभाजन केवल सुविधा के लिए किया गया है। न तो सभी लेखक युग-निर्माताओं के पीछे चलते हैं और न एक प्रवृत्ति किसी निश्चित काल तक ही चलती है। लेखक भी काल या युग की सीमा से नहीं बँधते हैं। बहुत से लेखकों ने द्विवेदी युग में अपने साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश किया था और अद्यावधि उनकी लेखनी समय की गति के साथ कदम मिलाये हुए चल रही है।

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग गद्य का प्रारम्भिक काल था, इसलिए इस युग में

गाम्भीर्य की अपेक्षा मनोरञ्जन और चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक है किन्तु यह चमत्कार-प्रदर्शन सारहीन कोरी तड़क-भड़क न थी उसमें चटपटेपन के साथ पौष्टिकता भी थी। भारतेन्दु युग के निबन्ध-साहित्य के पीछे राजनीतिक और सामाजिक सुधार की भावना भी निहित थी। ये लोग नितान्त उपयोगितावादी भी न थे। इस काल के निबन्धों में एक सजीवता और ज़िन्दादिली के दर्शन होते हैं। उन दिनों पद्य की भाषा का तो परिमार्जन हुआ ही किन्तु गद्य की भाषा को व्याकरण की कठोर शृङ्खलाओं में बाँध रखने की अपेक्षा अपनी स्वच्छन्द गति से बढ़ने देने की ओर अधिक प्रवृत्ति रही। यह गद्य का शैशवकाल अथवा लालनकाल था, शिक्षणकाल द्विवेदी युग में आया।

भारतेन्दु युग में निबन्ध-साहित्य का उदय किसी बाहरी प्रेरणा से नहीं हुआ वरन् उसका जन्म परिस्थिति की आवश्यकताओं और हृदय की उमंग से हुआ। उस युग का निबन्ध-साहित्य वाणी का विलास था अवश्य किन्तु उसका सम्बन्ध तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितिओं से था। उसमें निर्वैयक्तिकता न थी। कहीं-कहीं तो उनकी स्वच्छन्दता और वैयक्तिकता दोष की सीमा तक पहुँच गई थी। वैयक्तिकता का अर्थ केवल इतना ही है कि उसमें लेखक के व्यक्तित्व की छाप भरपूर थी किन्तु वे व्यक्ति सम्बन्धी न थे। निबन्ध-साहित्य के प्रारम्भिक युग के लेखकों में स्वयं भारतेन्दु जी के अतिरिक्त पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवासदास, पं० केशवराम भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी और बा० बालमुकुन्द गुप्त मुख्य हैं। इन लेखकों की वैसे तो अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं किन्तु जिन्दादिली समाज-सुधार और देश-भक्ति उस युग के व्यापक गुण थे। राजनीति और समाज सुधार की कटु से कटु बातें हास्य-व्यङ्ग्य के सहारे अपेक्षाकृत कम आपत्तिजनक बन जाती हैं। उस काल के लेखकों ने इन साधनों का बड़ी सफलता के साथ प्रयोग किया। इनमें श्लेष, कहावतें, मुहावरों आदि की भरमार रहती थी। इनमें एक विशेष प्रकार का फक्कड़पन रहता था जो कभी-कभी उद्दण्डता का तटस्पर्शी बन जाता था। उस काल में कुछ गम्भीर लेख भी लिखे गये थे।

द्विवेदी युग

यह युग भाषा के परिमार्जन का था। हरिश्चन्द्र युग में वृद्धि और फैलाव था। द्विवेदी युग में साहित्योद्यान की साज-सम्हाल आई। लालन के पश्चात् शिक्षा और ताड़न का समय आया। भाषा के शुद्ध और व्याकरण-सम्मत होने पर द्विवेदी जी ने अधिक जोर दिया। उनके समय में निबन्ध का विषय समाज, राजनीतिक तथा चटपटेपन में सीमित न रहा। द्विवेदी जी के समय में उपयोगिता के साथ ज्ञान-विस्तार की ओर भी प्रवृत्ति आई और उनकी प्रेरणा से ऐतिहासिक पुरातत्व-सम्बन्धी एवं अलोचनात्मक लेख लिखे गये। दूसरी भाषाओं से गम्भीर विषयों के निबन्धों का (अँग्रेजी में बेकन के बेकन-विचार रत्नावली नाम से आचार्य द्विवेदी जी द्वारा तथा मराठी में चपलूणकर के निबन्धमालादर्श पं० गंगाप्रसाद अग्नि-होत्री द्वारा अनुवाद हुआ। उससे साहित्य की श्रीवृद्धि हुई और कुछ विचारशीलता जाग्रत हुई किन्तु वह कबीर के शब्दों में 'झूठी पत्तल' की ही बात रही।

द्विवेदी जी (सं० १९२७–१९९५) के वात्सल्यमय प्रोत्साहन के कारण बहुत से नये लेखक भी प्रकाश में आये और कुछ लोगों ने नव-जागरण की चहल-पहल में स्वयं ही लिखना शुरू कर दिया। स्वयं द्विवेदी जी के अतिरिक्त उस समय के लेखकों में पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० माधव प्रसाद मिश्र, पं० चन्द्रशेखर शर्मा गुलेरी, बा० गोपाल राम गहमरी, बा० ब्रजनन्दनसहाय, पं० पद्मसिंहशर्मा अध्यापक पूर्णसिंह प्रभृति प्रमुख हैं। यद्यपि बा० श्याम सुन्दरदास जी तथा पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने भी द्विवेदी जी के समय में लिखना प्रारम्भ किया था तथापि वे उनके ऋणी न थे और स्वयं ही प्रभाव के केन्द्र थे। गम्भीर विषयों को सरल बनाने में बाबूजी बड़े सिद्धहस्त थे। उनके विषय प्रायः साहित्यिक और सांस्कृतिक रहे। बाबूजी अपने पाठकों के मानसिक धरातल तक नीचे उतरने का प्रयत्न करते थे किन्तु इतना नीचे नहीं उतरते थे कि उसकी शालीनता और गौरव-गरिमा नष्ट हो जाय। मिश्र बन्धुओं ने भी उसी काल में लिखा किन्तु वे भी द्विवेदी जी के ऋणी न थे। उनके निबन्धों में शिक्षक का अहं अनुचित रूप में तो नहीं था किन्तु वह सहज में परिलक्षित हो जाता है। इन पंक्तियों

के लेखक ने भी निबन्ध-लेखन द्विवेदी-युग में ही प्रारम्भ किया था किन्तु द्विवेदी जी का कृपा पात्र न बन सका। इस युग के लेखकों में विचारात्मकता का प्राधान्य रहा किन्तु वह विचारात्मकता सूक्ष्मता और गहराई न प्राप्त कर सकी इस समय के लेखकों में से कुछ के (जैसे माधवप्रसाद मिश्र, ब्रजनन्दन सहाय, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह आदि में भावात्मकता का पर्याप्त पुट रहता था किन्तु वह भावात्मकता किसी गम्भीर विचारधारा को लेकर ही चलती थी।

आधुनिक युग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सं० १९४१–१९९७) के निबन्ध-क्षेत्र में पदार्पण करने से निबन्ध-साहित्य में एक नया जीवन आया। द्विवेदी युग में विषय-विस्तार और परिमार्जन तो पर्याप्त हुआ किन्तु उस काल में उतना विश्लेषण और गहराई में जाने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी। आचार्य शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध बेकन के निबन्धों से टक्कर ले सकते हैं और साथ ही उनमें हास्य-व्यङ्ग्य की भी झलक दिखाई देती है जो उन्हें 'लोहे के चने' से बचाये रखती है।

आचार्य शुक्ल जी के गम्भीर निबन्ध 'चिन्तामणि' में संग्रहीत हैं। उनमें दो प्रकार के निबन्ध हैं, एक तो भावों के विश्लेषण से सम्बन्ध रखने वाले निबन्ध जो भाव विषयक होते हुए भी भावात्मक नहीं हैं वरन् उच्चकोटि के विचारात्मक हैं, दूसरे साहित्यिक जिनमें कुछ सैद्धान्तिक आलोचना से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद और कुछ व्यावहारिक आलोचना के हैं, जैसे भारतेन्दु हरिश्चद्र। आचार्य शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों की भी अन्विति उनकी आलोचनाओं से की जा सकती है, वे भारतीय रस-सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं और उनका सम्बन्ध जीवन-सागर के निजी अवगाहन से है। इन निबन्धों में भावों का विश्लेषण पर्याप्त मात्रा है हुआ है किन्तु जीवन से चुने हुए उपयुक्त उदाहरणों के कारण वह विश्लेषण दुरूह नहीं होने पाया है। 'लज्जा और ग्लानि' का आधार भरत की आत्मग्लानि है, 'लोभ और प्रीति' का अन्तर समझ लेने पर जायसी के रत्नसेन के प्रेम की आलोचना भली प्रकार समझी जा सकती है।

भारतेन्दु और द्विवेदी युग में भी क्षमा, आत्मनिर्भरता आदि पर

विवेचन हुआ है किन्तु वह शुक्ल जी का सा विश्लेषणात्मक न था वरन प्रशंसात्मक और नैतिक अधिक था। इन निबन्धों की पद्धति में मनोविज्ञान का आत्म-विश्लेषण (आजकल का मनोविश्लेषण नहीं) चाहे हो किन्तु उनका लक्ष्य साहित्यिक है। इन निबन्धों के बहुत से वाक्य सूक्ति होने की क्षमता रखते हैं, जैसे— 'बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है', 'श्रद्धा महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति है', 'लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम-विशेषोन्मुख'।

शुक्ल जी के निबन्धों में विषय की प्रधानता है या व्यक्ति की; इसका निर्णय उन्होंने पाठकों पर छोड़ा है। उन निबन्धों में शैली का ही व्यक्तित्व है। विषय की ओर उनका पूरा ध्यान रहा है किंतु उनमें मनोविज्ञान या साहित्य-शास्त्र की पुस्तक का सा निर्व्यक्तीकरण नहीं है। विषय पर शैली के व्यक्तित्व की छाप होने के कारण उनके लेख निबन्ध की कोटि में आते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें जो समस्याएँ उठाई गई हैं वे मौलिक होने के कारण निजी होगई हैं।

अन्य लेखक

आधुनिक युग के अन्य लेखकों में सर्वश्री डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री माखनलाल चतुर्वेदी नलिनी मोहन सान्याल, इलाचन्द्र जोशी, जयशङ्करप्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', नन्ददुलारे बाजपेयी, बनारसीदास चतुर्वेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेव शरण अग्रवाल, सद्गुरुशरण अवस्थी, जैनेन्द्र, नगेन्द्र, सत्येन्द्र, कन्हैयालाल सहल, प्रभाकर माचवे महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह, श्री विनयमोहन शर्मा आदि उल्लेखनीय हैं। इन महानुभावों के निबन्ध अधिकांश में आलोचनात्मक तथा साहित्यिक हैं। इनमें शैलो का ही व्यक्तित्व है। निबन्धों में वैयक्तिकता की दृष्टि से सियारामशरण गुप्त तथा सुश्री महादेवी वर्मा के निबन्ध बहुत ऊँचा स्थान पाते हैं। साहित्य और समालोचना के अतिरिक्त आजकल के लेखकों ने, विशेषकर पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने सांस्कृतिक विषय भी लिये हैं। महाराजकुमार रघुवीरसिंह ने ऐतिहासिक विषयों को कुछ भावावेश के साथ अपनाया है। जैनेन्द्र की दृष्टि दार्शनिकता के साथ समाज की ओर गई है। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने

'इक्का', 'नहीं' आदि चटपटे विषयों पर भी लिखा है और वे निबन्ध भारतेन्दु युग के लेखकों के समकक्ष रखे जा सकते हैं। हास्य व्यङ्ग्य-प्रधान निबन्धों का भी प्रभाव नहीं है। सर्व श्री अन्नपूर्णानन्द जी, निर्मल जी, कौतुक बनारसी, निराला जी श्री शिवपूजन सहाय आदि महानुभावों ने कहीं-कहीं शुद्ध निबन्ध रूप में और कहीं-कहीं कुछ कथानक का आधार लेकर हास्य प्रधान साहित्य उपस्थित किया है। श्री शिवपूजन सहाय जो कि 'दो घड़ी' शीर्षक संग्रह के निबन्ध विशेष रूप से साहित्यिक हास्य उपस्थित करते हैं। पं० हरिशङ्कर शर्मा ने भी अपने 'चिड़ियाघर' एवं 'पिंजरापोल' में हास्य-व्यङ्ग्यात्मक लेख लिखे हैं उनकी शैली में अनुप्रासों की छटा दर्शनीय है।

संक्षेप में हम कह सकते है कि हिन्दी का निबन्ध-साहित्य अन्य अङ्गों की भाँति समृद्ध होता जा रहा है। हमारे लेखकों की रुचि सामाजिक और राजनीतिक विषयों की अपेक्षा आलोचनात्मक निबन्धों की ओर अधिक है और इस विषय में वे कुछ गहराई तक भी पहुँचे हैं। इस गहराई के लिए हम गर्व कर सकते हैं किन्तु निबन्ध-साहित्य की सम्पन्नता के लिए हमारे लेखकों को सामाजिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक विषयों की ओर भी प्रतिभा को गतिशील करने की आवश्यकता है। सामाजिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक विषयों पर लिखा अवश्य जाता है किन्तु उसमें साहित्यिकता का अपेक्षा विषय-प्रतिपादन की प्रवृत्ति अधिक है। केवल साहित्य-विषयक लेख ही साहित्यिक नहीं होते वरन् साहित्यिक ढङ्ग से लिखे हुए वैज्ञानिक लेख भी साहित्यिक हो जाते हैं।

जीवनी और आत्मकथा

जीवनी और साहित्य की अन्य विधाएँ

मनुष्य का सबसे बड़ा आकर्पण-केन्द्र मनुष्य है। पोप ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य के अध्ययन का उचित विषय मनुष्य है (The proper study of man is man) सारा साहित्य ही मनुष्य का अध्ययन है किन्तु जीवनी और आत्मकथाओं में वह अध्ययन सत्य और वास्तविकता की कुछ अधिक गहरी छाप लेकर आता है। उपन्यास भी जीवनियों के रूप में लिखे गये हैं—जैसे अँग्रेजी में डिकिन्स का

'डेविड कापरफील्ड' और अज्ञेय जी का 'शेखर, एक जीवनी'। उनमें उपन्यासकार की आत्मकथा का कहीं क्षीण और कहीं स्पष्ट आभास भी रहता है, फिर भी उपन्यास उपन्यास ही है। उसमें रचनात्मक कल्पना का कुछ अधिक पुट रहता है। जीवनीकार भी कल्पना का प्रयोग करता है किन्तु वह सामग्री के संयोजन और प्रकाशन की विधि में उससे काम लेता है। फिर भी उसकी कल्पना वास्तविकता से सीमित रहती है। वह कल्पना के अलङ्कारों से अपने चरित्र-नायक की इतनी ही साज-सम्हाल कर सकता है जितनी में कि उसका आकार-प्रकार न बदलने पाये। वह उस माँ की भाँति है जो अपने बालक को नहला-धुलाकर, बाल सम्हालकर तथा धुले कपड़े पहनाकर समाज में भेजती है। कपड़ों के चुनाव में वह अपनी रुचि और कल्पना से काम लेती है किन्तु वह आकृति की असलियत को बदलने वाले पाउडर-पेन्ट का (या प्राचीन भाषा में कहें तो अङ्गराग का) कम प्रयोग करती है। जीवनीकार (आत्मकथा-लेखक नहीं) उपन्यासकार की भांति सर्वज्ञता का भी दावा नहीं करता है। वह द्रष्टा के रूप में रहता है। वह अपने चरित्रनायक के बहुत से रहस्यों को जानता है किन्तु फिर भी वह उसके मन की सब बातों को पूरी दृढ़ता के साथ नहीं कह सकता है। अज्ञात विषयों के सम्बन्ध में वह अनुमान ही से काम लेता है।

उपन्यास और इतिहास से भेद

जीवनीकार न तो उपन्यासकार ही है और न इतिहासकार ही। इतिहास में सत्य का आग्रह अवश्य रहता है किन्तु उसमें व्यक्ति देश का अङ्ग होकर आता है। अङ्गी देश ही रहता जीवनी में मुख्यता व्यक्ति को ही मिलती है, है। उसके सहारे देश अथवा किसी संस्था का इतिहास भले ही आजाय। बहुत-सी आत्मकथाओं में हमको इतिहास के सूत्रों का अध्ययन मिल जाता है—जैसे डाक्टर श्यामसुन्दरदास जी की आत्मकथा से नागरी प्रचारिणी-सभा का इतिहास सम्बद्ध है अथवा महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, ला० लाजपतराय या डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद की जीवनियों में राजनीतिक इतिहास का हम अध्ययन कर सकते हैं। जीवनीकार अपने चरित्र नायक के विषय में अन्वेषण और अनुसन्धान इतिहासज्ञ का सा ही

करता है किन्तु जो बातें इतिहासज्ञ के लिए अनावश्यक होती हैं जीवनीकार के लिये आवश्यक हो जाती है। इसमें वह उपन्यासकार का साथी है। उपन्यासकार व्यक्ति को ही परवाह करता है। छोटी-छोटी बातें जैसे हँसी-मजाक, जादू-टोने भूत-प्रेत में विश्वास (जैसा डा० श्यामसुन्दर दास जी अथवा चिन्तामणि को था), कपड़ों की लापरवाही या अधिक परवाह, सिगरेट या बीड़ी में से किसको अधिक पसन्द करना, भाँग या अन्य नशीली वस्तुओं के प्रति मोह (जैसा आचार्य शुक्ल जी को भाँग के प्रति था), कन्धों का हिलाना (जैसा कभी-कभी श्रद्धेय टंडन जी करते हैं) पलकों का जल्दी-जल्दी मारना, सिर खुजलाना, तेज चलना या धीरे-धीरे चलना, अथवा ग्लेडिस्टन की भाँति खम्बों को छूते हुए चलने में आनन्द लेना आदि ये सब बातें व्यक्तित्व के उद्घाटन में जीवनीकार के लिए अखबारों की प्रशंसा, यूनिवर्सिटी के पदक-रपुरस्कारों तथा राजनीतिक विजय-पराजयों की बराबर ही महत्त्व रखती है। रविबाबू का 'नोबिल पुरस्कार' प्राप्त करना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी किन्तु उनके असली व्यक्तित्व की झलक उनके उस रुपये को शान्ति-निकेतन के लिए उत्सर्ग में मिलती है। इसी प्रकार रविबाबू ने अपनी आत्मकथा में अपने बचपन का वर्णन करते समय अपने कुर्ते में जेबें लगवाने की महत्वाकांक्षा का जो उल्लेख किया है वह भी बालमनोवृत्ति का परिचायक होने के कारण अपना विशेष महत्त्व रखता है।

जीवनी घटनाओं का अङ्कन नहीं वरन् चित्रण है। वह साहित्य की विधा है और उसमें साहित्य और काव्य के सभी गुण हैं। वह एक मनुष्य के अन्तर और वाह्य स्वरूप का (अर्थात् आपा या पर्सोनेलिटी का) कलात्मक निरूपण है। जिस प्रकार चित्रकार अपने विषय का एक ऐसा पक्ष पहचान लेता है जो उसके विभिन्न पक्षों में परिवर्तन रहता है और जिसमें नायक की सभी कलाएँ और छटाएँ समन्वित हो जाती है उसी प्रकार जीवनीकार अपने नायक के आपे की कुञ्जी समझकर उसके आलोक में सभी घटनाओं का चित्रण करता है। जीवनी की कृति में उसके चरित्रनायक का 'आपा' उभर आता है। वह न भलाइयों को राज-दरबार के कवीन्द्रों की भाँति राई को सुमेरु करके दिखाता है और न बुराइयों को चबाई

जीवनी के साहित्यिक गुण

लोगों की भाँति तिल का ताड़-रूप देता है। वह अनुपात का सदा ध्यान रखता है।

जीवनीकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि चन्द्रमा में कलङ्क है अवश्य किन्तु वे साधारण हैं। सहानुभूति अन्ध-भक्ति से भिन्न है। अन्ध-भक्ति दोष को भी गुण समझती है, सहानुभूति दोष को दोष ही समझती है किन्तु उसके कारण दोषी की हँसी नहीं उड़ाई जाती। जीवनीकार छोटे-मोटे दोषों की 'एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विङ्कः' अर्थात् गुणों के समूह या बाहुल्य में (सन्निपात रोग है') एक दोष इसी प्रकार छिप जाता है जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलङ्क। कलङ्क तो सूर्य में भी होता है किन्तु अधिक तेज धारियों के दोषों की लोग कम चर्चा करते हैं। साधारण जनता गुणों की अपेक्षा दोषों को महाराज पृथु की भाँति सहस्रकर्ण होकर सुनने को तैयार रहती है और उसका, गुणों की अपेक्षा दोषों की सत्यता में भी अधिक विश्वास रहता है किन्तु लेखक को जनता की इस कमजोरी से लाभ उठाना उचित नहीं है। इसी के साथ बुराइयों को दबाना या छिपाना भी असत्य को आश्रय देना होता है। मनुष्य की कमजोरियाँ उसका गौरव नहीं तो उसके व्यक्तित्व की परिचायिका हैं और वे चरित्र की यथार्थता को बनाये रखती हैं। कहा जाता है कि राजकवि टेनीसन को विक्टोरिया की जुबली के अवसर पर दिन-भर सिगरेट पीने को नहीं मिला तो उनको कहीं छिपकर पीना पड़ा, ऐसी बातें मनुष्य को देवता होने की भ्रान्ति से बचाये रखती हैं। दोषों के वर्णन में सहृदयता का पल्ला न छोड़ना चाहिए। इस दृष्टि से पं० बनारसी दास चतुर्वेदी की लिखी हुई कविवर सत्यनारायण जी की जीवनी बड़ी सुन्दर है।

यद्यपि जीवनीकार मूर्त्तितक्षक की भाँति अनुपात पूर्ण सुगठित और चमकदार जीवनी नहीं दे सकता है क्योंकि उसे सत्य का आग्रह रहता है, और एक सजीव और संकुल चरित्र के उद्घाटन में अन्विति के साथ विरोध और व्याघात भी रहते हैं जिनके बिना जीवनी शायद निर्जीव हो जाय तथापि उसे अपनी कृति को ब्युरे के वैविध्य को खोये बिना ऐसा सुसङ्गठित रूप देना चाहिए कि उसमें थोड़े में बहुत प्रसादकता आजाय। इसके लिए स्ट्रेची का बताया हुआ पहला गुण सदा ध्यान में रखना चाहिए कि कोई अनावश्यक बात न आने पाये और न कोई

आवश्यक बात छोड़ी जाय (A brevity that excludes every-thnig that is redundant and leaves nothing that is significant.)

(४) स्ट्रेची का बताया हुआ दूसरा गुण यह है कि लेखक को अपनी स्वतन्त्रता न खो देनी चाहिए। इस गुण के अभावात्मक रूप से हम अवगत हो चुके हैं कि लेखक को चरित्रनायक का अन्ध-भक्त होना वाञ्छनीय नहीं है किन्तु अपना स्वतन्त्रता रखने के ये अर्थ भी नहीं कि जीवनी-लेखक छिद्रान्वेषण को ही अपना ध्येय बनालें। लेखक को सदा यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसकी अपेक्षा चरित्रनायक का अधिक महत्त्व है।

कभी-कभी जीवनी-लेखक का जीवन चरित्रनायक के जीवन से इतना सम्बद्ध हो जाता है (जैसे स्वामी रामतीर्थ की अध्यापक पूर्णसिंह द्वारा लिखी हुई जीवनी में) कि चरित्रनायक की जीवनी के साथ लेखक की भी जीवनी आजाती है किन्तु उसमें भी लेखक को अपनी गौणता न भूलना चाहिए।

इन सब मस्तिष्क और हृदय-सम्बन्धी बौद्धिक, नैतिक और रागात्मक गुणों के साथ शैली का महत्त्व ध्यान में रखना आवश्यक है। शैली साधारण चरित्रनायक की जीवनी को भी आकर्षक बना देती है। सफल जीवनी के लिए या तो चरित्रनायक इतना महान हो कि श्री रामचन्द्र जी की भाँति उसका चरित्र ही काव्य हो और किसी का कवि बन जाना गुप्त जी के शब्दों में 'सहज संभाव्य' हो या लेखक महान हो जिसके पारस-स्पर्श और कलम के जादू से लोहा भी सोना हो जाय। डा० सूर्यकान्त जी शास्त्री ने पहले प्रकार के उदाहरण में बौसबेल की लिखी हुई जॉनसन की जीवनी बताई है और दूसरे प्रकार में जॉनसन द्वारा लिखी हुई सेवेज की जीवनी की ओर संकेत किया है। पहले का चरित्रनायक महान था और दूसरे का लेखक महान था। जहाँ पर चरित्रनायक और लेखक दोनों ही महान हों वहाँ तो सोने में सुगन्ध की बात हो जायगी। यह बात तो टैगौर, गाँधी और जवाहरलाल नेहरू के आत्मचरित्र में ही आ पाई है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जीवनी-लेखक अपने चरित्रनायक के अन्तर-बाह्य स्वरूप का चित्रण कलात्मक ढङ्ग से करता है। इस चित्रण में वह अनुपात और शालीनता का पूर्ण ध्यान रखता हुआ सहृदयता,

स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के साथ अपने चरित्रनायक के गुणदोषमय सजीव व्यक्तित्व का एक आकर्षक शैली में उद्घाटन करता है।

जीवन चरित्रों की कई विधाएँ और रूप हैं। लेखक की दृष्टि से तो जीवनी और आत्मकथा ये दो प्रधान रूप हैं। जीवनी कोई दूसरा आदमी लिखता है और आत्मकथा स्वयं लिखी जाती है। पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'मालवीय जी के साथ तीस दिन' इन दोनों के बीच की चीज है। सामग्री सीधी मालवीय जी से ली गई है और उसको लिखा है दैनिकी के रूप में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने। उसमें तीस दिन की घटनाएँ नहीं हैं वरन् तीस दिन में कहा हुआ जीवन-वृत्त है। महामना मालवीय जी की जीवनियों में पं० सीताराम चतुर्वेदी की लिखी हुई जीवनी सबसे पूर्ण और कलात्मक है। उसमें लेखक की भक्ति-भावना जरूर झलकती है किन्तु औचित्य से बाहर नहीं हुई है। जीवनी-लेखक एक तो निरपेक्ष रूप से लिख सकता है जिसमें कि अच्छा और बुरा सब-कुछ आजाय और पाठक अपनी-अपनी भावना के अनुकूल सामग्री का सङ्कलन करलें—'"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी"—अथवा लेखक अपने एक निश्चित दृष्टिकोण से लिख सकता है और उसी के अनुकूल वह सामग्री को संजोवेगा। पहले प्रकार की जीवनियों में बोसवेल की लिखी हुई डा० जॉनसन की जीवनी है और दूसरे प्रकार की जीवनियाँ बहुत-सी हैं। महात्मा गांधी, रवि ठाकुर आदि महापुरुषों की जीवनियाँ भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोण से लिखी गई हैं। ऐसे थोड़े ही लेखक होते हैं जो बोसवेल की भांति अपने व्यक्तित्व को बिलकुल भुला देते हैं।

जीवनियों के प्रकार

साधारण जीवन-चरित्र से आत्म-कथा में कुछ विशेषता होती है। आत्म-कथा-लेखक जितना अपने बारे में जान सकता है उतना लाख प्रयत्न करने पर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता, किन्तु इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति बाधक होती है और किसी के साथ शील-सङ्कोच आत्म-प्रकाश में रुकावट डालता है। यद्यपि सत्य के आदर्श से तो दोनों ही प्रवृत्तियाँ निन्द्य हैं तथापि अनावश्यक आत्म-विस्तार कुछ अधिक अवाञ्छनीय है। शील-सङ्कोच के कारण पाठक को सत्य और उसके अनुकरण के लाभ से वञ्चित रखना भी वाञ्छनीय नहीं

आत्म-कथाएँ

कहा जा सकता। साधारण जीवनी-लेखक की अपेक्षा आत्मकथा-लेखक को ऊब से बचाने और अनुपात का अधिक ध्यान रखना पड़ता है। उसे अपने गुणों के उद्घाटन में आत्मश्लाघा या अपने मुँह मियां मिट्ठू बनने की दूषित प्रवृत्ति से बचना चाहिए। जीवनी लिखने वाले को दूसरे के दोष और आत्म-कथा लिखने वाले को अपने गुण कहने में सचेत रहने की आवश्यकता है। (इसी कारण इन पंक्तियों के लेखक ने अपने आत्म-कथा-सम्बन्धी निबन्धों में अपनी असफलताओं का ही उद्घाटन किया है। उस पुस्तक का नाम भी 'मेरी असफलताएँ' हैं।)

आत्मकथाएँ कई रूप में हो सकती हैं—सम्बद्ध रूप में, जैसे महात्मा गांधी की आत्मकथा या डा० श्यामसुन्दरदासजी की आत्म-कहानी अथवा स्फुट निबन्धों के रूप में जैसे सियारामशरण जी के 'बाल्य-स्मृति' आदि 'झूठ-सच' के कुछ लेख। निरालाजी ने 'कुल्ली भाट' की जीवनी के सहारे अपनी आत्मकथा का भी कुछ अंश अव्यक्त रूप से दे दिया है किन्तु वह कहानी की कोटि में ही रहेगी। आधुनिक साम्यवादी प्रवृत्ति के अनुकूल 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेश्वर बकरिहा' भी जीवनी के विषय बन जाते हैं किन्तु इनमें कल्पना का पुट अधिक है। वास्तविक जीवन की घटनाएँ कथा के आवरण में ढक जाती है। महादेवी जी के 'अतीत के चलचत्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नाम की कृतियों के लेख वास्तव में आत्मकथा और निबन्ध के बीच की विधाएँ हैं। इनमें घटना का अंश थोड़ा और उससे सम्बन्धित भाव और विचार कुछ अधिक मात्रा में हैं। इनमें आत्म-कथा का भी अंश केवल इतना ही है कि जो घटनाएँ वर्णित हैं वे महादेवी जी के करुणार्द्र नेत्रों द्वारा देखी हुई हैं। डा० श्यामसुन्दर दास जी की जीवनी बड़ी समृद्ध और सुगठित है। उनकी शैली बड़ी साहित्यिक है किन्तु वे कहीं-कहीं अपने हृदय की कुण्ठाओं और कटुताओं के व्यक्त करने में कुछ व्यक्तियों के प्रति अनुदार से हो गये हैं। यात्राएँ भी आत्मकथाओं का ही रूप हैं।

जीवनी-साहित्य

पाश्चात्य देशों में जीवनी-साहित्य की बहुत अधिक उन्नति हुई है। यूनान में तो 'प्लूटार्क' की जीवनियाँ ईसा की पहली शताब्दी पूर्व की लिखी हुई हैं। 'प्लूटार्क' जीवनीकारों का राजा कहलाता है। पाश्चात्य देशों में जीवनी के क्षेत्र

में नये-नये प्रयोग भी हुए हैं, जैसे—लुडविग ने नाइल नदी की जीवनी लिखी है। हमारे यहाँ भी गंगा जी की जीवनी लिखी जाने की बात-चीत थी वह शायद अभी चरितार्थ नहीं हो सकी है। हिन्दी-जीवनी-साहित्य का आरम्भ तो 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'भक्तमाल' तथा प्रियदास जी द्वारा की हुई उसकी टोका से होता है। प्राचीनकाल में भी चरित-काव्य लिखे गये थे, जैसे—अश्वघोष का बुद्ध-चरित किन्तु उनमें कवित्व कुछ अधिक था। वार्ताओं में साम्प्रदायिक महत्ता का पुट आगया है। तुलसीदास जी के दो पद्यमय जीवन भी निकले थे किन्तु वे अब प्रामाणिक नहीं माने जाते। अकबर के समय के आगरा निवासी जैन कवि बनारसीदास जी ने भी अपनी आत्म-कथा 'अर्द्ध कथानक' नाम से लिखी है जिसमें उन्होंने अपनी बुराइयों और कमजोरियों का निस्सङ्कोच भाव से उद्घाटन किया है—

"भयौ बनारसिदास तन, कुष्टरूप सरबंग।
हाड़ हाड़ उपजी व्यथा, केस रोम भुव-भंग॥
बिस्फोटक अगणित भये, हस्त चरन चौरंग।
कोऊ नर साला ससुर, भोजन करइ न संग॥
ऐसी असुभ दशा भई, निकट न आवै कोइ।
सासू और विवाहिता, करहिं सेव तिय दोइ॥
जल भोजन की लेहिं सुख, देहिं आनि मुख मांहिं।
ओखद ल्यावहि अंग में, नाक मूँदि उठि जाहिं॥"

उन्होंने आगरा में उधार तेल की कचौड़ी खाने की भी बात लिखी है। हरिश्चन्द्र युग में भी आत्म कथात्मक साहित्य-सृजन का प्रयत्न हुआ था। श्री प्रताप नारायण मिश्र की आत्मकथा अधूरी ही रही किन्तु गोस्वामी जी का प्रयत्न अधिक सफल हुआ उनकी जीवनी से मालूम होता है कि उनको अपने स्वतन्त्र विचारों के लिए कितना कष्ट उठाना पड़ा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मिलने की उनको मनाई थी क्यों कि उनके पिताजी भारतेन्दु जी को नास्तिक समझते थे। भारतेन्दु जी से मिलने के लिए वे छिप कर आधी रात को गये थे। उसके लिए उन्हें अपने दरबान को घूँस देनी पड़ी।

अब धीरे-धीरे हिन्दी का जीवनी-साहित्य बढ़ता जा रहा है। जीवनियों में हम बनारसीदास जी चतुर्वेदी द्वारा लिखी हुई पं० सत्य-नारायण की जीवनी और डा० श्यामसुन्दरदास जी की 'मेरी आत्म-

कहानी' का उल्लेख कर चुके है। श्री ब्रजरत्नदास जी का लिखा हुआ 'भारतेन्दु' जीवन-चरित ही नहीं है वरन् उसमें उनके साहित्य का विवेचन भी है। मौलिक आत्मकथाओं में श्री श्रद्धानन्द जी लिखित 'कल्याण मार्ग के पथिक' का विशेष मान है। भाई परमानन्द जी की लिखी हुई 'आप बीती' एक साहस पूर्ण जीवन के घात-प्रतिघातों की कहानी है। श्री वियोगीहरि की आत्म-कथा मेरा जीवन-प्रवाह के नाम से निकल चुकी है और देशरत्न श्री राजेन्द्रप्रसाद जी की विस्तृत आत्म-कथा सच्चे साधक की आत्मोन्नति के कण्टकाकीर्ण पथ की श्रमशील यात्रा का वर्णन है। इनके अतिरिक्त जीवनी और संस्मरण साहित्य में श्री घनश्यामदास बिड़ला का 'बापु', श्री श्यामनारायण कपूर का 'भारतीय वैज्ञानिक' श्रीमन्नारायण अग्रवाल का 'सेगाँव का सन्त', श्री गौरीशङ्कर चटर्जी का 'हर्षवर्द्धन'. श्री रूपनारायण पाण्डेय का 'सम्राट अशोक' आदि पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विदेशी विभूतियों में कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, मेजनी, प्रिन्स विस्मार्क, हिटलर आदि की जीवनियाँ निकल चुकी हैं। आज-कल जीवनी-साहित्य में राजनीतिक नेताओं की जीवन-कथाओं को विशेष महत्त्व मिल रहा है। श्री सुभाष चन्द्र बोस के जीवन से सम्बन्धित बहुत सा साहित्य निकला है। मौलाना अब्दुल कलाम आजाद की जीवनी का भी हिन्दी अनुवाद हो चुका है। यात्रा की पुस्तकों में राहुल सांकृत्यायन के 'तिब्बत में तीन वर्ष' और 'सोवियट भूमि' तथा मौलवी महेशप्रसाद कृत 'मेरी ईरान यात्रा' आदि पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेनीय हैं।

पत्र-साहित्य

पत्र साहित्य की उपयोगिता—पत्रों का स्थान एक प्रकार से आत्म-कथा में ही आता है। अन्तर केवल इतना ही है कि आत्म कथा में व्यक्ति का इतिहास सम्बद्ध होता है, पत्रों में कुछ असम्बद्ध सा रहता है। पत्र साहित्य का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में हैं कि उसके द्वारा हमको लेखक के सहज व्यक्तित्व का पता चल जाता है। उसमें हमको बने-ठने सजे-सजाये मनुष्य का चित्र नहीं वरन् एक चलते-फिरते मनुष्य का स्नेप-शोट Snap Shot मिल जाता है। लेखक के वैयक्तिक सम्बन्ध उसके मानसिक और वाह्य संघर्ष तथा उसकी रुचि और उस

पर पड़ने वाले प्रभावों का हमको पता चल जाता है। पत्रों में कभी-कभी तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक वा साहित्यिक इतिहास की झलक भी मिल जाती है। आत्मकथा की भाँति कुछ पत्रों का महत्त्व उनके विषय पर निर्भर रहता है, कुछ का शैली पर। जिन पत्रों का विषय और शैली दोनों ही महत्त्वपूर्ण हों वे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बन जाते हैं।

पत्र व्यक्ति द्वारा लिखे जाते हैं और वे व्यक्ति के लिए ही होते हैं, किन्तु वे जनसाधारण के लाभ या मनोरञ्जन की भी वस्तु हो सकते हैं। उनमें साहित्य की सब विधाओं की अपेक्षा

पत्रों की विशेषताएँ

व्यक्तित्व को झलक रहती है। पत्रों की यह विशेषता होती है कि पत्रकार उनको यह सोचकर नहीं लिखता कि वे जिन व्यक्तियों के लिए लिखे गये हैं उनके अतिरिक्त भी और कोई पढ़ेगा। उनमें प्रायः सचेतन कला का अभाव होता है (ऐसे पत्रों की दूसरी बात है जो खास तौर से छपने के लिए लिखे गये हों—जैसे सुमन जी के 'भाई के पत्र' तथा नेहरू जी के 'अपनी पुत्री के प्रति लिखे हुए पत्र) किन्तु कुछ लोग ऐसे अभ्यस्त कलाकार होते हैं कि उनके द्वारा जरा-सा प्रयत्न न होने पर भी उनके लेख कला से इस प्रकार जगमगा उठते हैं जिस प्रकार बहुत से लोग अपने घर की पोशाक में भी बहुत सों की ठाट-बाट की पोशाक से भी अधिक सुहावने लगते हैं।

पत्रों में भी वही बात है जो प्रत्येक साहित्य में होती है। लेखक के हृदय में कुछ कहने के लिए उत्साह होता है और वह उस उत्साह या मन के रस को अपनी वाणी द्वारा दूसरों तक संक्रमित कर देता है। एक मनुष्य अपने मित्र को अपने व्यवहार की सफाई देता है। यदि वह ईमानदारी है, यदि उसकी लेखनी में कुछ बल है और वह अपनी सफाई में सफल हो जाता है तो उसके पत्र साहित्य का रूप धारण कर लेंगे।

साधारण साहित्य और पत्र-साहित्य में केवल इस बात का अन्तर है कि साधारण साहित्य में भाव-ग्राहक के व्यक्तित्व का ध्यान नहीं रखा जाता है और न उससे कोई निजी सम्बन्ध होता है। साधारण साहित्य तो परिप्रेषित कर दिया जाता है, जहाँ कहीं ग्राहक यन्त्र होगा वहाँ ग्रहण कर लिया जायगा। पत्र लेखन को अपने भाव-ग्राहक के

व्यक्तित्व और उसकी संवेदनशीलता का ध्यान रहता है, वह उसी के अनुकूल अपने पत्र को बनाता है। वहाँ एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व से टकराता है, कभी संघर्ष के लिए और कभी प्रेमपूर्ण प्रतिदान द्वारा पारस्परिक जीवन को अधिक-से-अधिक सम्पन्न बनाने के लिए। ऐसे ही पत्र साहित्य की कोटि में आ सकते हैं। सब साहित्यिकों के सभी पत्र साहित्यिक नहीं होते, लेकिन कुछ कुशल साहित्यिकों में यह विशेषता होती है कि वे जो बात कहना चाहते हैं उसको वे थोड़े-से-थोड़े शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देते हैं। उनके घरेलू या व्यवहारिक पत्रों में भी साहित्य का आनन्द आ जाता है।

वार्तालाप कुछ अनर्गल और उत्तर-प्रयुत्तर पूर्ण बहुत लम्बा भी हो सकता है किन्तु पत्र में असीमित लम्बाई की गुञ्जाइश नहीं रहती। प्रत्युत्तर यदि होता भी है तो वह काल्पनिक रहता है। वार्तालाप में कल्पना के लिए अपेक्षाकृत कम गुञ्जाइश रहती है और बहुत-कुछ आकार-इङ्गित से भी स्पष्ट हो जाता है किन्तु पत्र में पाठक को बहुत-कुछ कल्पना से काम लेना पड़ता है। पत्रों की स्थिति भी निबन्ध की भाँति मुक्तक-काव्य की सी होती है। वे स्वतः पूर्ण होते हैं।

यद्यपि पत्र सभी लिखते हैं तथापि उनमें थोड़ा शिल्प-विधान रहता है, चाहे उसका सचेतन प्रयोग न हो। पत्र का सबसे बड़ा टेकनीक यही है कि अपने पाठक पर दूर बैठे हुए भी उसके द्वारा उतना ही प्रभाव पड़ सके जितना कि सामने वार्तालाप करने पर पड़ता है। बात को थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक स्पष्टता देना पत्र की सबसे बड़ी मांग है। पत्रों में कुछ लोग तो अपना सारा व्यक्तित्व उँड़ेल देना चाहते हैं और कुछ उनको निर्वैयक्तिक तथा रंगीनी से खाली रखना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में भी मध्यम मार्ग का अनुसरण श्रेयस्कर है।

वास्तव में पत्रों में विषयानुकूल वैयक्तिकता की श्रेणियां रहती हैं। जो पत्र केवल ज्ञान देने के लिए लिखे जाते हैं उनमें केवल उतना ही व्यक्तित्व रहता है जितना कि निबन्धों में किन्तु जिन पत्रों में लोग अपबीती का वर्णन करते हैं उनमें व्यक्ति की मानसिक प्रतिक्रिया की मात्रा कुछ अधिक होती है। जहाँ लेखक आत्म-निवेदन करता है अथवा अपनी सफाई देता है वहाँ व्यक्तित्व की मात्रा पराकाष्ठा को पहुँच जाती है।

पत्र साहित्य के सम्बन्ध में एक महत्त्व पूर्ण प्रश्न उठता है कि

क्या बिलकुल निजी-पत्र जिनसे वैयक्तिक रहस्यों का, चाहे वे लेखक हों और चाहे दूसरों के उल्लेख हो प्रकाशित किये जाँय या न। लेखक के अतिरिक्त जिन पत्रों में दूसरे के रहस्यों का उद्घाटन हो और जिनके कारण उनको समाज में लज्जित होना पड़े छापना उचित नहीं हैं। लेखक के

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न

रहस्यों के उद्घाटन करने वाले पत्रों को उसके जीवन-काल में न छापकर उसकी मृत्यु के पश्चात् छापे जा सकते हैं; विशेषकर जब कि लेखक के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता हो या उनमें साहित्यिकता हो। बहुत से पत्र गद्य-काव्य की कोटि में आजाते हैं। जब लेखक के वैयक्तिक भावनाओं से पूर्ण गीतों को प्रकाशित कर दिया जाता है तो ऐसे पत्रों के प्रकाशन में भी विशेष हानि नहीं किन्तु उसमें दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। पहली बात तो यह कि उन पत्रों से जिन व्यक्तियों के नाम हों उनके नाम न दिये जायं दूसरी बात यह है कि वे पत्र कुरुचि के प्रचारक न हों। अँग्रेजी कवि कीट्स (Keats) के निजी पत्रों के सम्बन्ध में जो उसने फेनी ब्रोन (Fanny Brawne) को लिखे ये बड़ा विवाद रहा। उनके सम्बन्ध में आर्नोल्ड (Arnold) महोदय ने लिखा है कि उसमें इन्द्रियलोलुप पुरुष बोलता हुआ सुनाई पड़ता है और वह इन्द्रिय-लोलुपता बिना शिक्षा-दीक्षा की है। एक दूसरे महाशय कहते हैं कि ऐसे पत्रों में दूसरे के निजी और छोटे-छोटे मामलों में कनसुइया लेने (Eaves dropping) की बात आ जती है। इसके प्रतिपक्ष में एक तीसरे महोदय लिखते हैं कि जो कीट्स के प्रेम को नहीं समझ सकता वह उसके काव्य को नहीं समझ सकता। वास्तव में पत्रों के चुनाव में हमको पत्रों का उतना ही अंश देना चाहिए कि व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़े और कुरुचि का प्रचार न हो और न दूसरों को किसी प्रकार लज्जित होना पड़े।

हिन्दी में साहित्य की इस विधा की बहुत न्यूनता है। यहा बात नहीं है कि हिन्दी लिखने वाले हृदयहीन होते हैं अथवा दुनिया में उनका किसी से सम्बन्ध नहीं होता है, वे पत्र लिखना भी जानते हैं किन्तु हमारे यहाँ के प्रकाशकों और संग्रह कर्त्ताओं ने इस ओर

हिन्दी में पत्र साहित्य

ध्यान नहीं दिया है। कुछ लोगों के यहाँ, जैसे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के पास पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्रों का, पं० माखनलाल चतुर्वेदी के

पास स्वयं अपने पत्रों का अच्छा संग्रह है किन्तु आलस्यवश वे उन्हें संसार के आलोक से वञ्चित रखते हैं। उर्दू और अँग्रेजी में एक-एक लेखक के पत्रों के कई-कई ग्रन्थ मौजूद हैं।

अभी जो थोड़ा-बहुत पत्र-साहित्य मिलता है वह प्रायः नगण्य है फिर भी उल्लेख आवश्यक है। एक दो उपन्यास, जैसे उग्रजी के 'चन्द हसीनों के खतूत' पत्रों के रूप में लिखे गये हैं। अभी तक के प्रकाशित साहित्य में महात्मा गान्धी के पत्र, पं० जवाहरलाल नेहरू के पत्रों का अनुवाद, डा० धीरेन्द्र वर्मा के पत्र, भदन्त आनन्द कौशल्यायन जी लिखित 'भिक्षु के पत्र' तथा सुमन जी के 'भाई के पत्र' आदि दो-चार इनी-गनी पुस्तकें उल्लेख योग्य हैं। सुमन जी के पत्रों में भारत की नारी-समस्या पर अच्छा प्रकाश डाला गया है किन्तु वे वास्तव में निबन्ध हैं, उनका ऊपरी आकार पत्रों का है श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर के लिखे हुए, पत्नी के पत्र यद्यपि नारी जीवन की समस्याओं से ओत-प्रोत हैं तथापि उनमें पत्रों का निजीपन है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के पत्र भी प्रकाशित हो गये हैं किन्तु उनमें हृदय के स्पन्दन अपेक्षा व्यवहार की स्पष्टता अधिक है। प्रभाकर माचवे द्वारा सम्पादित "जैनेन्द्र जी के विचार" नाम की पुस्तक में जैनेन्द्र जी के कुछ साहित्यिक पत्र आंशिक रूप में प्रकाशित हुए हैं

गद्य-काव्य

यद्यपि काव्य के विस्तृत अर्थ में गद्य और पद्य दोनों का ही स्थान है और उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध आदि भी उसके अन्तर्गत माने जाते हैं तथापि जिसको आज-कल परिभाषिक रूप में गद्य-काव्य कहते हैं वह एक प्रकार की विशिष्ट रचना है गद्य-काव्य साधारणतया भावात्मक निबन्धों के अन्तर्गत माने जाते हैं किन्तु साहित्य की इन दोनों विधाओं में कुछ अन्तर है। दोनों में भावना का प्राधान्य तो अवश्य है किन्तु भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्य-काव्य में कुछ वैयक्तिकता और एकतथ्यता अधिक होती है। उसमें एक ही केन्द्रीय भावना का प्राधान्य होने के कारण वह निबन्ध की अपेक्षा आकार में छोटा होता है और उसमें अन्विति भी कुछ अधिक होती है। निबन्धकार विचार-शृङ्खला के सहारे इधर-उधर भटक भी सकता है किन्तु गद्यकाव्य एक निश्चित ध्येय की ओर जाता है; उसमें इधर-उधर विचरण की गुञ्जाइश नहीं।

गद्य-काव्य की भाषा गद्य की होती है किन्तु भाव प्रगीत काव्यों के से। गद्य के शरीर में पद्य की सी आत्मा बोलती हुई दिखाई देती है। भाषा का प्रवाह भी साधारण गद्य की अपेक्षा कुछ अधिक सरस और सङ्गीतमय होता है। गद्य-काव्य में रूपकों और अन्योक्तियों का प्राधान्य रहता है। इसमें कहानी की भाँति एक ही संवेदना रहती है किन्तु जहाँ वह प्रलाप शैली का अनुकरण करता है वहाँ अन्विति का अभाव भी भावातिरेक का द्योतक है।

गद्य-काव्य के अतिरिक्त कुछ गद्य-गीत भी लिखे गये हैं। उनमें साधारण गद्य-काव्य की अपेक्षा गति और लय कुछ अधिक होती है और पंक्तियों का विन्यास भी कुछ-कुछ गीतों का सा होता।

अँग्रेजी में वाल्ट विटमैन की कविता गद्य-गीतों के ही रूप में हैं। रवीन्द्रबाबू की गीताञ्जलि के अँग्रेजी गद्य-गीत भी इसी प्रकार के हैं और उन्होंने सफलता पूर्वक यह प्रमाणित कर दिया है कि गद्य में भी पद्य का सा प्रवाह और गति लाई जा सकती है गद्य के सुन्दर और सरस बनाने की इच्छा लेखकों के हृदय में बहुत काल से थी, संस्कृत में गद्य में भी कविता की सी अलंकृत शैली का प्रयोग हुआ था किन्तु गीताञ्जलि के प्रकाशित हो जाने और नोबिल पुरस्कार से पुरस्कृत होने से साहित्यिकों को इस दिशा में प्रयास करने की विशेष उत्तेजना मिली। गीताञ्जली के बहुत से छायानुवाद निकले और बहुत-से मौलिक गद्य-काव्य भी लिखे गये। इनके विषय अधिकतर रहस्यमय भाव रहे। अन्य विषय भी जो गद्य-काव्य में लिखे गये उनमें विचार की अपेक्षा भावों का प्राधान्य रहा।

हिन्दी में स्फुट रूप से तो बहुत गद्य-काव्य निकले (अब उनका चलन अपेक्षाकृत कम हो गया है) किन्तु इस क्षेत्र में विशेष ख्याति राय कृष्णदास, श्री वियोगी हरि, श्री चतुरसेन शास्त्री और श्री दिनेश-नन्दिनी डलमिया ने प्राप्त की है। राय कृष्णदास की 'साधना' 'छाया-पथ', 'प्रवाल' आदि पुस्तकों ने साहित्य की इस विधा की यिशेष श्रीवृद्धि की है। श्री वियोगी हरि ने 'अन्तर्नाद' और 'भावना' नाम के दो गद्य-काव्य-ग्रन्थ लिखे। इन दोनों गद्य काव्यकारों की शैली में अन्तर है। वियोगी जी की भावावेशमयी भाषा जहाँ निर्झर-गति से चलती है वहाँ राय कृष्णदास जी की भाषा शान्त, स्निग्ध, प्रवाह-मय है।